



आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण पर आधारित

# शलाका पुरुष

( भाग-१ )

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.  
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय  
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५  
फोन : २७०७४५८, २७०५५८९





प्रथम संस्करण : ५ हजार  
( २ अक्टूबर, २००३  
छठवाँ आध्यात्मिक शिक्षण शिविर )  
द्वितीय संस्करण : ५ हजार  
( २ सितम्बर, २००४ )

मूल्य : २५ रुपये

मुद्रक :  
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड  
बाईस गोदाम, जयपुर



### संशोधित, संवर्द्धित द्वितीय संस्करण

यह सुखद आश्चर्य और प्रसन्नता का विषय है कि विद्वद्गुरु पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की सभी कृतियाँ कल्पना से अधिक लोकप्रिय हुई हैं। उसी शृंखला में प्रस्तुत नवीन कृति शलाका पुरुष (पूर्वार्द्ध) का पाँच हजार प्रतियों में प्रकाशित प्रथम संस्करण भी मात्र ग्यारह माह में ही बिक गया है।

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के पूर्व पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने इस ग्रन्थ का सूक्ष्म दृष्टि से पुनरावलोकन किया है, फलस्वरूप प्रफुल्लित श्रुतियों का शुद्धिकरण तो हुआ ही; साथ ही जहाँ/कहीं उन्हें कथानक में परिवर्द्धन की आवश्यकता अनुभव हुई, उसे भी आपने पूरा करके ग्रन्थ को सर्वांग सुन्दर बनाकर उसकी श्री वृद्धि में चार चाँद लगा दिए हैं।

यद्यपि सामान्य पाठकों ने सुझावों के रूप में कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, जिन्होंने कुछ कहा, प्रशंसा में ही कहा; परन्तु अत्यन्त सरल हृदय लेखक ने सहज भाव से मुझे यह बताया कि इस ग्रन्थ के शुद्धिकरण और संवर्द्धन में स्वाध्यायशील एवं प्रथमानुयोग के विशेष प्रेमी श्री विनोदचन्दजी जैन, जयपुर सुपुत्र श्री अरिदमनलालजी जैन कोटा, का सराहनीय सहयोग प्राप्त हुआ। श्री विनोदजी के अग्रज श्री ऋषभनन्दन जैन दिल्ली ने भी इस कृति का गंभीरता से स्वाध्याय किया और शुद्धिपत्र की सूची बनाकर भेजी। श्री सौभाग्यमलजी जैन पूर्व तहसीलदार, जयपुर का भी शुद्धिकरण में सहयोग रहा है; एतदर्थ ये सभी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

— ब्र. यशपाल जैन,  
प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,



## प्रकाशकीय

‘हरिवंश कथा’ की लोकप्रियता से उत्साहित होकर विद्वद्वर्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने ‘शलाका पुरुष’ नामक नवीन कृति का सृजन कर प्रथमानुयोग के ग्रंथों की प्रकाशन शृंखला में एक नए अध्याय का सूत्रपात किया है, जिसका निश्चित ही समाज में समुचित समादर होगा – ऐसा विश्वास है।

आज पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का नाम जैन समाज में ख्यातिप्राप्त लेखकों में अग्रगण्य है। उनके द्वारा रचित कथानक शैली की कृतियाँ संस्कार, विदाई की बेला, सुखी जीवन, इन भावों का फल क्या होगा तथा ‘हरिवंश कथा’ ऐसी बहुचर्चित कृतियाँ हैं, जिन्होंने बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ दिये हैं। इन कृतियों ने जनमानस को आन्दोलित तो किया ही है, जैन वाङ्मय के प्रति गहरी रुचि भी जाग्रत की है। इस क्रम में आपकी यह नवीनतम कृति है, शलाका पुरुष।

यह तो सर्वविदित ही है कि जैन समाज में साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का कोई सानी नहीं है। गीताप्रेस गोरखपुर की भांति यह संस्था लागत से भी कम मूल्य में सत्साहित्य उपलब्ध कराने हेतु विश्वविख्यात है। प्रकाशन का कार्य उतना कठिन नहीं है, जितनी कि उसकी वितरण व्यवस्था कठिन है। चूंकि इस ट्रस्ट का अपना नेटवर्क भारत में ही नहीं अपितु विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ है। अतः इसके द्वारा प्रकाशित साहित्य छपते ही देश-विदेश में पहुँच जाता है। इस ट्रस्ट का ध्येय पैसा कमाना नहीं है, अपितु अल्पमूल्य में जैन वाङ्मय घर-घर पहुँचाना है, जिसमें वह सफल है।

अभी तक पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट पर यदा-कदा यह आरोप लगता रहा है कि प्रथमानुयोग के शास्त्र प्रकाशन पर इसका ध्यान नहीं है, परन्तु अब समाज का यह भ्रम भी तिरोहित हो जायेगा, क्योंकि क्षत्रचूड़ामणि एवं हरिवंश कथा के प्रकाशनोपरान्त यह तीसरा बड़ा ग्रंथ है, जिसके प्रकाशन को संस्था ने अपने हाथ में लिया है।

‘शलाका पुरुष’ ग्रंथ की मूल विषयवस्तु आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण पर आधारित है। यथास्थान भरतेश वैभव का उपयोग भी आगमानुकूल किया गया है। इस कृति में तीर्थंकर ऋषभदेव भरत बाहुबली के प्रभावी चरित्र चित्रण के साथ उनकी दिव्यवाणी के माध्यम से अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों का बखूबी रहस्योद्घाटन किया है।

रोचक शैली में लिखा गया प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चित ही पाठकों को प्रथमानुयोग का सार समझने में सहायक होगा।

आप सभी इस कृति के माध्यम से शलाका पुरुषों के जीवन को हृदयंगम कर, उन जैसे बनें और अपना जीवन सार्थक करें – इसी पवित्र भावना के साथ –

– ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
पूर्व पीठिका	धर्मकथा/कथा/और विकथा	९	तेरहवाँ पर्व	भरतेश द्वारा दिग्विजय को प्रस्थान	१५८
पहला पर्व	छह द्रव्य/छह काल/विश्वव्यवस्था/कुलकर	१६	चौदहवाँ पर्व	भरत-बाहुबली का अन्तर्द्वन्द	१७०
दूसरा पर्व	राजा महाबल/षट्दर्शन समीक्षा	३०	पन्द्रहवाँ पर्व	चक्रवर्ती भरत का राज्याभिषेक	१८६
तीसरा पर्व	आदिनाथ का सातवाँ पूर्वभव (राजा वज्रजंघ)	४६	सोलहवाँ पर्व	चक्रवर्ती भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना	
चौथा पर्व	आदिनाथ का छठवाँ एवं पाँचवाँ पूर्वभव (आर्य एवं श्रीधरदेव)	५९	सत्तरहवाँ पर्व	एवं राजाओं को क्षात्रधर्म का उपदेश	१९६
पाँचवाँ पर्व	आदिनाथ का चौथा एवं तीसरा पूर्वभव (राजा सुविध और अच्युतेन्द्र)	६८	अठारहवाँ पर्व	सेनापति जयकुमार और सुलोचना	२०४
छठवाँ पर्व	भगवान ऋषभदेव का दूसरा पूर्वभव वज्रनाभि चक्रवर्ती	७६	उन्नीसवाँ पर्व	भरतेश कुमारों द्वारा तत्त्वोपदेश	२१५
सातवाँ पर्व	सोलह कारण भावनाओं का स्वरूप एवं पहला पूर्वभव अहमिन्द्र	८९	बीसवाँ पर्व	आदीश्वर की दिव्यध्वनि सुनकर भरत के पुत्रों को वैराग्य	२२३
आठवाँ पर्व	भगवान ऋषभदेव के गर्भ एवं जन्मकल्याणक	९९	इक्कीसवाँ पर्व	तीर्थकर आदिनाथ के द्वारा मुक्ति का मार्ग एवं मोक्षकल्याणक	२३१
नवाँ पर्व	दीक्षाकल्याणक	११२	बाईसवाँ पर्व	भरतजी का वैराग्य एवं प्रजा को संदेश	२४२
दसवाँ पर्व	केवलज्ञान कल्याणक	१२३	तेईसवाँ पर्व	द्रव्यदृष्टि का स्वरूप	२४७
ग्यारहवाँ पर्व	भगवान आदिनाथ की दिव्यध्वनि एवं विहार	१३१	चौबीसवाँ पर्व	क्या पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है ?	२५७
बारहवाँ पर्व	भगवान आदिनाथ की देशना	१४२		द्रव्यदृष्टि का विषय	२७०

## अपनी बात

डॉ. ए.एन. उपाध्ये लिखते हैं कि – “पुरानी बात को पुराण कहते हैं। जब वे बातें महापुरुषों के बारे में कही जाती हैं या महान आचार्यों द्वारा महापुरुषों के कथानकों के माध्यम से उपदेश के रूप में लिखी जाती हैं तब वे लिखित ग्रन्थ महापुराण कहलाते हैं।”

इसप्रकार जो कृतियाँ महापुरुषों से सम्बन्धित हों एवं कल्याणकारी उपदेशों से भरपूर हों – वे सब कृतियाँ पुराणों या महापुराणों की श्रेणी में गिनी जा सकती हैं। प्रस्तुत ‘शलाकापुरुष’ ग्रन्थ इसी दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है। इस ग्रन्थ को आचार्य जिनसेन और आचार्य गुणभद्र कृत आदिपुराण और उत्तरपुराण का लघु संस्करण कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनके द्वारा प्रस्तावित मूल कथानक को तथा आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक तथ्यों को ही मैंने अपनी भाषा-शैली में लिखने का प्रयास किया है।

आज की इस टी.वी., सिनेमा संस्कृति के कारण प्राचीन शैली में एवं अपभ्रंश व संस्कृत निष्ठ भाषा में लिखित बड़े-बड़े ग्रन्थ, बड़े-बड़े ग्रन्थालयों/पुस्तकालयों में दर्शनीय वस्तु बनकर रह गये हैं। यदि कभी धूल झड़ती भी है तो केवल शोध स्नातकों द्वारा ही झड़ती है। आज की शास्त्र सभाओं में भी ये ग्रन्थ पढ़ते हुए देखने में नहीं आते।

हरिवंश कथा पर अपना अभिमत लिखते हुए इन्दौर निवासी विद्वत्परिषद के पूर्व अध्यक्ष संहितासूरि पण्डित नाथूलालजी शास्त्री ने भी यह स्वीकार किया है कि –

“श्री पण्डित रतनचन्दजी द्वारा लिखित हरिवंश कथा-स्वाध्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली उपयोगी और सार्थक रचना है।

ढूँढारी भाषा में प्रकाशित प्रथमानुयोग के ग्रन्थ अथवा संस्कृत शब्दों के हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशित ग्रन्थ – दोनों ही से स्वाध्यायार्थी संतुष्ट नहीं थे; क्योंकि वे सर्व साधारण के लिए बोधगम्य नहीं हैं।

प्रस्तुत हरिवंश कथा ग्रन्थ पाठकों की रुचि और बुद्धि के अनुकूल सरल, सुबोध और आधुनिक शैली में लिखा गया है, जो अनति विस्तृत और अल्पमूल्य में उपलब्ध है।

इसमें उचित संशोधन के साथ धार्मिक विषयों का समावेश भी है, तथा करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी आवश्यक सामग्री भी रख दी गई है। वर्तमान में ऐसे ही ग्रन्थों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति ऐसी रचनाओं से की जा रही है। विद्वान लेखक का यह परिश्रम सराहनीय है। इस दिशा में लेखक आगे और भी प्रयास करें तो निःसंदेह समाज उनकी कृतियों का स्वागत करेगा।”

वयोवृद्ध विद्वान पण्डित नाथूलालजी शास्त्री इन्दौर के उपर्युक्त प्रोत्साहन से भरपूर पत्र ने मेरे उत्साह में चार चाँद लगा दिए। पण्डितजी साहब के मन्तव्यानुसार ही मेरे मन में भी बहुत दिनों से यह बात खटक रही थी।

जब हमने अपने महाविद्यालय के पाठ्यक्रम में आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण और हरिवंश पुराण स्वयं पठन के रूप में रखे और प्रत्येक ग्रन्थ में पास होने के लिए अन्य ग्रन्थों के साथ ३०-३० अंक रखे तो छात्रों ने ग्रन्थों की बोझिलता के कारण उनकी उपेक्षा करके ३० अंकों का नुकसान करके केवल ७० अंकों में से ही उत्तीर्ण अंक प्राप्त करना पसन्द किया। तभी से मेरे मन में यह भावना थी कि इन ग्रन्थों के कोई ऐसे लघु संस्करण निकलें, जिससे पाठकों को प्रयोजनभूत सामग्री तो पूरी मिल जाय और अनावश्यक बोझिल विस्तार से पाठक बच जायें।

इसी बीच मैं हृदय रोग से पीड़ित हो गया तो मुझे विचार आया - “कहीं ऐसा न हो कि पुराणों का यह काम बिना किए ऐसा ही रह जाय? क्यों न मैं ही इस दिशा में प्रयास करूँ? इस बहाने प्रथमानुयोग का एक बार पुनः पारायण (स्वाध्याय) भी हो जायगा और यदि होनहार हुई तो काम भी हो जायगा और मैंने सर्वप्रथम हरिवंश कथा के काम को हाथ में लिया। काम आरंभ के साथ यह संकल्प किया कि इसे तो पूरा करना ही है; पर संकल्प करने से काम थोड़े ही हो जाता है। हरिवंश कथा के अधूरे काम में ही हृदय रोग का पुनः आक्रमण हो गया। जाँच कराने पर तुरन्त हृदय शल्य चिकित्सा (ओपन हार्ट सर्जरी) की सलाह मिली। तीन माह कम्पलीट बेड रेस्ट की हिदायत मिली; परन्तु मैंने हिदायत की थोड़ी उपेक्षा करके हरिवंश कथा के शेष काम को पूरा

किया और ९.८.०३ को कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट द्वारा संचालित शिविर के अवसर पर जयपुर में 'हरिवंश कथा' का विमोचन भी हो गया।

मैं पुनः हृदय बाल्व में थक्का जम जाने से मरणासन्न की स्थिति में पहुँच गया; परन्तु होनहार तो कुछ और ही थी, अतः पुत्र शुद्धात्मप्रकाश और परिवार के पुनः पुनः किए अथक प्रयासों से और जिनवाणी से प्राप्त मेरे मनोबल से मुझे पुनः जीवनदान मिल गया।

मैंने पुनः संकल्प किया कि यदि शरीर ने साथ दिया तो मैं महापुराण को भी हरिवंश पुराण से भी अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास करूँगा। वस्तुतः मैं तो निमित्तमात्र था, काम तो अपनी तत्समय की योग्यता से जैसा/जो होना था, हुआ है। अब मेरी भावना है कि पाठक इसे अधिक से अधिक पढ़ें और लाभान्वित हों।

विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो कहता है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो स्वयं परमात्मा है ही। यदि स्वयं को जाने, पहचानें और स्वयं में जम जाये, रम जाये तो पर्याय में भी परमात्मा बन सकता है। हमारे तीर्थंकर शलाका पुरुष अपने पिछले भवों में हमारे-तुम्हारे जैसे ही पामर पुरुष थे, अनादिकाल से चतुर्गति में परिभ्रमण करते थे। उन्होंने काललब्धि आने पर स्वयं को जाना, पहचाना, स्वयं का अनुभव किया स्वयं में समा गये तो अन्तर्मुहूर्त में ही सर्वज्ञता प्राप्त कर परमात्मा बन गये।

तीर्थंकर परमात्माओं के गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्ष कल्याणक के रूप में सम्पन्न हुए ये पंचकल्याणक आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया हैं।

भगवान ऋषभदेव ने परमात्मा बनने का कार्य छह भव पूर्व भोगभूमि के आर्य के भव में किया था और यही कार्य भगवान महावीर ने दस भव पूर्व शेर की पर्याय में किया था। भगवान पार्श्वनाथ ने यही काम आठ भव पूर्व हाथी के भव में किया था। इन बातों से यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन के अनुसार न केवल मनुष्य; बल्कि पशु भी परमात्मा बन सकते हैं तो हम क्यों नहीं बन सकते? अतः हमें इस दिशा में प्रयास करना चाहिए। यदि पाठक प्रथमानुयोग की इस विषयवस्तु से लाभान्वित हुए तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। ॐ नमः।

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

## शलाका पुरुष

### मंगलाचरण

मंगलमय आदीश जिनेश्वर, मंगलमय जिनवर वाणी ।  
 मंगलमय जिनसेन मुनीश्वर, मंगल सुकथा कल्याणी ॥१॥  
 घाति कर्म जिनने धो डाले, वे हैं वीतराग भगवान ।  
 लोकालोक झलकते जिसमें, ऐसा उनका केवलज्ञान ॥२॥  
 तीर्थकर पद के धारक प्रभु ! दिया जगत को तत्त्वज्ञान ।  
 दिव्यध्वनि द्वारा दर्शाया, प्रभुवर ! तुमने वस्तु विज्ञान ॥३॥

### पूर्व पीठिका : धर्मकथा/कथा/विकथा

शलाका पुरुषों की पुण्यकथा लिखने के पूर्व पूर्वपीठिका द्वारा कुछ ऐसी जानकारी देना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे 'शलाका पुरुष' की विषय-वस्तु समझने में सुविधा रहे; एतदर्थ सर्वप्रथम धर्मकथा, सत्कथा, कथा और विकथा का स्वरूप एवं इनके फल का पाठकों को सामान्य परिचय कराना प्रासंगिक है, जिससे पाठक विकथाओं से बचें एवं धर्मकथा, सत्कथा करें। ऐसा करने से पाठक पाप प्रवृत्ति से बचेंगे और पुण्य के पथ में पदार्पण कर धर्म के मार्ग में अग्रसर होंगे।

धर्मकथा और विकथा का अन्तर इसलिए भी जानना जरूरी है कि पुराणों में भोग प्रधान जीवन जीने वाले राजा-महाराजाओं एवं युद्ध आदि की विषयवस्तु पढ़ने से यह आशंका स्वाभाविक है कि ये कथायें तो स्पष्ट विकथायें हैं; फिर इन्हें धर्मकथाओं में सम्मिलित क्यों किया गया है ?



इस उपर्युक्त आशंका का समाधान धर्मकथा, कथा, सत्कथा और विकथा की परिभाषाओं से हो जाता है।

(१) धर्मकथा :- वीतरागता की पोषक और तत्त्वज्ञान की कथा करना तो धर्मकथा है ही; किन्तु धर्म सहित कामकथायें और अर्थकथायें भी धर्मकथा कहलाती हैं, क्योंकि इन कथाओं के अन्त में अर्थ को व्यर्थ बताकर, उससे विरक्त कराया जाता है और काम का फल कुगति का कारण बताकर कामियों को निष्काम होने की दिशा में मोड़ने को प्रेरित किया जाता है, काम पर विजय पाने की एवं धर्ममार्ग में अग्रसर होने की प्रेरणा दी जाती है। अतः धर्मसहित कामकथा एवं अर्थकथा भी धर्मकथा में प्रयोजनभूत होने से धर्मकथा कहलाती है।

(२) कथा :- मोक्ष पुरुषार्थ में उपयोगी होने से धर्म, अर्थ एवं काम का कथन करना कथा है।

(३) सत्कथा :- जिसमें धर्म के स्वरूप का विशेष निरूपण होता है, उसे सत्कथा कहते हैं। धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है, उन अभ्युदयों में अर्थ और काम भी है। अतः धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ व काम का कथन करना भी सत्कथा कहलाती है; किन्तु यह अर्थ व काम का कथन यदि धर्मरहित हो तो वह कथा, विकथा की श्रेणी में चली जाती है।

(४) विकथा :- यद्यपि अर्थ की चर्चा आजीविका हेतु आवश्यक है, काम सन्तानोत्पत्ति का हेतु है; किन्तु यदि उसमें न्यायनीति न हो और वह लोकमान्य न हो एवं दण्डनीय अपराध की श्रेणी में आता हो तो उसकी चर्चा भी विकथा है तथा वह पापास्रव का ही कारण है।

कथा के अंग :- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तीर्थ, फल और प्रकृत - ये सत्कथा के सात अंग हैं।

द्रव्य :- इसमें छह द्रव्यों का निरूपण होता है। क्षेत्र :- ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक क्षेत्र हैं।

काल :- भूत-भविष्य-वर्तमान - ये तीन काल हैं। भाव :- क्षयोपशम, क्षायिक - ये दो भाव हैं।

तीर्थ :- जिनेन्द्रदेव का चरित्र ही तीर्थ है। फल :- तत्त्वज्ञान का लाभ फल है।

प्रकृत :- वर्णनीय कथावस्तु प्रकृत है। जिसमें ये सातों अंग पाये जायें, वह सत्कथा है।

(आदिपुराण, प्रथम सर्ग, पद्य ११७ से १२५, पृष्ठ-१७-१८)

सत्कथा सुनने/पढ़ने का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि सत्कथाओं के श्रोताओं और पाठकों को जो पुण्य का संचय होता है, उससे उन्हें पहले तो स्वर्ग आदि अभ्युदयों की प्राप्ति होती है और फिर क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने समोशरण में सबसे पहले उत्सर्पिणी काल संबंधी त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र निरूपण किया। फिर वर्तमान में चल रहे अवसर्पिणी काल संबंधी शलाका पुरुषों का वर्णन किया।

भगवान ऋषभदेव ने तृतीय काल के अन्त में जो पूर्वकालीन पुराण या इतिहास का कथन किया था वे ही पुराण परम्परागत हम तक पहले मौखिक फिर लिखित रूप में आये हैं, इसीकारण उन्हें आगम भी कहते हैं। आचार्य जिनसेन कहते हैं कि मैंने भी उसी आगम का कथन किया है, इसमें मेरा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

ऐसा लिखकर आचार्यश्री ने जहाँ एक ओर अपना अकर्तृत्व बताकर लाघवभाव प्रगट किया है, वहीं दूसरी ओर ग्रन्थ को जिनेन्द्र की वाणी बताकर उसके प्रति पाठकों के हृदय में कई गुणी श्रद्धा भरने का कार्य भी किया है। ग्रन्थ में जो कमी रह गई है उसका उत्तरदायित्व अपने माथे लेकर और जो विशेषता है वह भगवान की वाणी की है, 'उसमें मेरा कुछ कर्तृत्व नहीं' – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने जो महानता व्यक्त की है, वह सभी लेखकों को अनुकरणीय है। बात भी यही सच है। यह औपचारिकता नहीं है। अर्हन्त की वाणी होने से भी ये कथानक प्रामाणिक हैं, आचार्य ने ऐसा लिखा भी क्या है, जो पहले नहीं कहा गया था और किसी ने कुछ नया कहने का दुस्साहस किया भी तो वह छद्मस्थ (अल्पज्ञ) का कथन होने से श्रद्धेय नहीं हो सकेगा।

लेखकों को स्वयं के द्वारा लिखे गये विषय को भी अपना बताने की जरूरत नहीं; क्योंकि परम्परागत बात को स्वयं समझ लेना और आगामी पीढ़ी तक उसे अपनी भाषा-शैली में पहुँचाने का पुरुषार्थ भी कोई कम बात नहीं है, छोटा काम नहीं है, अतः कथानकों को पाठकों तक पहुँचाने वाले सभी परमगुरु, गुरु और विद्वज्जन महान उपकारी हैं। वे सभी हम जैसे पाठकों और श्रोताओं के लिए परमपूज्य और श्रद्धास्पद हैं।

प्रथम पर्व के अन्त में आचार्य जिनसेन प्रस्तुत पौराणिक कथा के अध्ययन की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि - “आत्मकल्याण चाहनेवालों को इस कथा का श्रद्धान, अध्ययन और स्मरण करना चाहिए। यह पौराणिक कथा पुण्य फल देने के साथ स्वयं पवित्र है, उत्तम है, मंगलरूप है, श्रेष्ठ है, यश प्रदान करनेवाली है और साक्षात् स्वर्ग एवं परम्परा से परमपद प्रदान करनेवाली है। जो इसको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पढ़ता है, उसके सर्व विघ्न नष्ट हो जाते हैं। खोटे स्वप्न आना बन्द हो जाते हैं और अच्छे स्वप्न आते हैं, इसे पढ़ने-सुनने से शुभ शकुन होते हैं।” अतः अपनी शक्ति के अनुसार इस ‘शलाका पुरुष’ ग्रन्थ का भी पठन-पाठन स्वयं करें, दूसरों से करावें, तुम्हारा कल्याण होगा।

आचार्य जिनसेन पुनः मंगलस्वरूप भगवान ऋषभदेव और महावीर स्वामी को स्मरण करके तथा गौतम गणधर और आचार्यों का स्मरण करके उन्हें अकारण बन्धु आदि विशेषणों से अलंकृत करते हुए समवसरण की स्तुति करते हैं तथा समवसरण को पुण्य का आश्रय स्थान, पशुओं के परस्पर बैर को भुलाकर बैठने का स्थान बताते हैं तथा समवसरण की महिमा का वर्णन करते हुए राजा श्रेणिक के मुख से मानो अपने भूतकाल के पापों का प्रायश्चित्त करते हुए कहते हैं कि - “मैंने पूर्व पर्यायों में अज्ञानवश बड़े-बड़े दुराचरण किए, अब उन पापों के शमन करने के लिए यह धर्मकथा लिखकर प्रायश्चित्त ले रहा हूँ।”

यहाँ राजा श्रेणिक के रूप में प्रत्येक पाठक, श्रोता और ग्रन्थकार भी मानो महावीर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि - “हे प्रभो ! हम अज्ञानियों ने पूर्व में हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री सेवन और अनेक प्रकार के आरंभ-परिग्रह आदि के द्वारा घोर पापों का संचय किया है। और तो क्या ? हमने मुनिराज जैसे धर्मात्माओं का अनादर और उपेक्षा करने में भी आनन्द माना, जिससे निःसन्देह हमें कुगतियों में जाने जैसा पापबन्ध हुआ होगा। उस पाप के शमन हेतु हम शलाका पुरुषों के पावन और प्रेरणाप्रद कथानक आपके द्वारा सुनना चाहते हैं, उनके जीवनवृत्त को सुनकर हम अपने पापों का प्रक्षालन करते हुए उन जैसे बनने का पुरुषार्थ करेंगे। अतः आप हमें शलाका पुरुषों का चरित्र कहकर कृतार्थ करें।”

महावीर स्वामी के निकट बैठे हुए गणधरदेव ने श्रेणिक की प्रशंसा करते हुए कहा - “हे राजन् ! तुमने बहुत अच्छी जिज्ञासा प्रगट की। अन्य सभी श्रोता भी यही चाहते हैं; अतः सुनो! तीर्थकर चक्रवर्ती आदि पदों के धारक प्रसिद्ध पुरुषों को शलाका पुरुष कहते हैं। तीर्थ का सेवन करनेवाले सत्पुरुष ही वस्तुतः शलाकापुरुष कहलाते हैं। इस युग में त्रेसठ शलाका पुरुष हुए जो इसप्रकार हैं - २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र। ये ६३ महापुरुष धर्मतीर्थ का सेवन कर अल्पकाल में ही संसार सागर पार हो जाते हैं। इनमें बहुत कुछ तो उसी भव से मुक्त हो जाते हैं और शेष २-३ भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।”

इन ६३ शलाका पुरुषों के सिवाय तीर्थकरों के माता-पिता ४८, नारद ९, रुद्र ११, कामदेव २४ और कुलकर १४ - इसप्रकार महापुरुषों की संख्या १६९ भी आगम में है, किन्तु इस युग में १६१ महापुरुष ही हुए हैं; क्योंकि इनमें कुछ पुरुष ऐसे भी हैं जो दो-दो, तीन-तीन पदों के धारक हैं; जैसे तीर्थकरों में कामदेव भी हैं, चक्रवर्ती भी हैं। इस काल में ६० शलाका पुरुष ही हुए हैं। तदनन्तर समवसरण में उपस्थित सभी महर्षियों ने एवं राजा श्रेणिक सहित उपस्थित सभी श्रावकों ने मिलकर अनेक विशेषणों से चार ज्ञान के धारी श्रुतकेवली गौतम गणधर की स्तुति करते हुए ‘गौतम’ नाम को सार्थक सिद्ध किया। उन्होंने कहा - “उत्कृष्ट वाणी को गौतम कहते हैं और वह दिव्यध्वनि ही हो सकती है।” इसप्रकार गणधरदेव का ‘गौतम’ नाम सार्थक बताया तथा कहा कि - “आपका दूसरा नाम इन्द्रभूति है, जिसका रहस्य यह है कि आपने इन्द्रों द्वारा अर्चारूपी विभूति प्राप्त की, इसलिए आपको इन्द्रभूति भी कहते हैं। हे देव ! आपने अत्यन्त ऊँचे वर्धमानरूप हिमालय से श्रुतज्ञान की गंगा का अवतारण कराया। आप नाना ऋद्धियों के धारक हैं, आपकी स्तुति करने के लिए हमारे पास कोई शब्द ही नहीं है। आज राजा श्रेणिक के साथ हम सब श्रोताओं पर दयादृष्टि रखकर तत्त्वोपदेश दीजिए।”

गणधरदेव ने कहा - “हे आयुष्मान भव्यजनो ! मैंने जैसा आगम से-श्रुत से सुना है, उसे मैं कहता हूँ। आप लोग ध्यान से सुनो !”

‘मैंने जैसा सुना है’ यह कहकर चार ज्ञान के धारी और द्वादशांग के ज्ञाता गणधरदेव ने भी अपनी लघुता प्रगट की है। इस कथन से हमें अपने तुच्छ ज्ञान का गर्व छोड़ने की प्रेरणा तो मिलती ही है, साथ ही अपने गुरु का नाम गोपन न करने की शिक्षा भी मिलती है।

श्रुतस्कन्ध के चार महा अधिकार हैं; जिन्हें चार अनुयोग कहा है। उनमें से पहले प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि ६३ शलाका पुरुषों के चरित्र एवं जीवनवृत्त का वर्णन है। दूसरे अनुयोग का नाम करणानुयोग है, इसमें तीनों लोकों का वर्णन ताम्रपत्र पर लिखे अनुसार लिखा होता है। तीसरा अधिकार चरणानुयोग है, इसमें मुनि-श्रावक के चारित्र की शुद्धि का कथन होता है। चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग का है, इसमें प्रमाण-नय-निक्षेप तथा सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकाल अन्तर आदि एवं निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण आदि के द्वारा द्रव्यों का निर्णय किया जाता है।

शास्त्रों को समझाने के कुछ उपक्रम हैं। वर्ण्य विषय या पदार्थों को श्रोताओं की बुद्धि में बैठा देना, उन्हें समझा देने को उपक्रम कहते हैं, उपक्रम का दूसरा नाम उपोद्घात भी है। इस उपक्रम के पाँच प्रकार हैं - (१) आनुपूर्वी, (२) नाम, (३) प्रमाण, (४) अभिधेय और (५) अर्थाधिकार।

चार अनुयोगों या इसके अन्तर्गत किसी भी विषय का क्रम से कथन करना ‘आनुपूर्वी’ है। ग्रन्थ के नाम को ‘नाम’ कहते हैं। ‘प्रमाण’ में ग्रन्थ के शब्दों, पदों, श्लोकों आदि की संख्या का निर्देश होता है। ‘अभिधेय’ में वर्ण्य विषय आता है जैसे कि आदिपुराण का अभिधेय संपूर्ण द्वादशांग है; क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विषय ही शेष है और न शब्द ही शेष बचे हैं। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप तो मोक्षमार्ग में मोक्षरूप फल तथा धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ तथा त्रेसठ शलाका पुरुष इस ग्रन्थ का अभिधेय है। इन्हीं की संख्या के अनुसार महापुराण के ६३ अधिकार रखे। हम उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ ‘शलाका पुरुष’ में संक्षिप्त रुचि पाठकों को ध्यान में रखकर २४ पर्वों में रखने का प्रयत्न करेंगे; क्योंकि तीर्थंकरों के अधिकारों के मध्य चक्रवर्ती आदि के उप-कथानक आ जाते हैं, फिर भी अनेक उपकथायें हैं, जिन्हें पृथक् से देना पाठकों को सुविधाजनक रहेगा।

गौतम स्वामी द्वारा कहे गये ६३ शलाका पुरुष के कथानकों के ६३ अधिकार अवश्य हैं, पर उसमें अवान्तर अधिकारों का विस्तार अमर्यादित है।

गौतम स्वामी कहते हैं कि - “हमारे पीछे हमारे ही समकक्ष सुधर्माचार्य इस कथानक को पूर्णरूप से प्रकाशित करेंगे। उनसे यह सम्पूर्ण कथा जब जम्बू स्वामी सुनेंगे और वे अन्तिम अनुबद्ध केवली होकर इस लोक में उसका पूर्ण प्रकाश करेंगे। इस समय में मैं, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी - तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञान को धारण करनेवाले हैं। हम तीनों ही केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जायेंगे।”

इस ‘शलाका पुरुष’ के कथानक का पठन-पाठन और सुनने-सुनाने की महिमा का मूल्यांकन करते हुए गणधर एवं आचार्य स्वयं कहते हैं कि - “जब पंचपरमेष्ठियों का नाम लेना ही जीवों को कल्याणकारी होता है तो बारम्बार उनकी कथारूप अमृत का पान करने/कराने का तो कहना ही क्या है।”



‘पानी पीजे छानकर, मित्र कीजे जानकर’ - यह लोकोक्ति बताती है कि यदि बीमारियों से बचना चाहते हो तो पानी सदैव छानकर ही पीओ और यदि विपत्तियों से बचना चाहते हो तो मित्र बनाने के पहले मनुष्य को अच्छी तरह से परख लो; क्योंकि दुनिया में ऐसे मतलबी मित्रों की कमी नहीं है, जो केवल स्वार्थ के ही साथी होते हैं, सम्पत्ति के ही संगीत होते हैं, विपत्ति पड़ने पर साथ छोड़कर भाग जाते हैं, अपने मतलब के लिए मित्रों को मुसीबत में डालने से भी नहीं झिझकते और समय-समय पर मित्र की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाने से भी नहीं चूकते।

संस्कार, पृष्ठ-५६

## छह द्रव्य/छह काल/विश्वव्यवस्था एवं कुलकर

आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने श्री गौतम गणधर के मुख से राजा श्रेणिक को सर्वप्रथम निमित्त बनाकर हमें पंचास्तिकाय एवं कालद्रव्य - इन छह द्रव्यों का स्वरूप समझाया है।

लौकिक जन कालद्रव्य के अस्तित्व एवं उसके द्रव्यत्व में आशंका करते हैं; अतः सर्वप्रथम कालद्रव्य का स्वरूप समझाते हुए कहा है कि “जो द्रव्यों की पर्यायें बदलने में निमित्त हो उसे वर्तना या कालद्रव्य कहते हैं। यह कालद्रव्य अनादि-अनन्त है, वर्तना ही इसका लक्षण है। यह कालद्रव्य सूक्ष्म परमाणु बराबर है। संख्या की अपेक्षा असंख्यात है और लोकाकाश में रत्नों की राशि के समान लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है। यह असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में निमित्त होने से लोकाकाश की सामर्थ्य वाला है।

यद्यपि लोक के प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा अपनी तत्समय की योग्यता से स्वयमेव ही परिणमन को प्राप्त होते रहते हैं। कालद्रव्य तो उनके उस परिणमन में मात्र सहचारी-निमित्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि सब पदार्थों का परिणमन, स्वतंत्रपने अपने-अपने गुण-पर्यायोंरूप होता है, वे सब पृथक्-पृथक् रहते हैं, अपना स्वरूप छोड़कर परस्पर एक-दूसरे से मिलते नहीं हैं।”

आगे पंचास्तिकाय को समझाते हुए कहा गया है कि - “धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य तथा जीव और पुद्गलद्रव्य - ये पाँचों द्रव्य पंचास्तिकाय कहलाते हैं; क्योंकि ये बहुप्रदेशी हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी है, अतः यद्यपि वह अस्तिकाय में नहीं आता; किन्तु वह भी द्रव्य है। संसार में जो घड़ी, घंटा, दिन, प्रहर आदि व्यवहारकाल के रूप में प्रसिद्ध है, घड़ी-घंटा आदि व्यवहारकाल कालद्रव्य की पर्यायें हैं।



इसप्रकार जैनदर्शन की मान्यतानुसार यह विश्व छह द्रव्यों का समूह है, और अनादि-अनन्त स्वनिर्मित है, इसे किसी ने बनाया नहीं है, इसका नाश और रक्षा भी कोई नहीं करता। सम्पूर्ण द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं है। कर्म बलवान हैं और जीव को सुख-दुःख देते हैं। ऐसा कथन जो जिनवाणी में आता है, उससे मात्र निमित्त-नैमित्तिक दशा का ज्ञान कराया है। उनमें कर्ता-कर्म संबंध नहीं है।”

ऊपर जो घड़ी, घंटा, दिन, प्रहर, मास, अयन, वर्ष आदि व्यवहारकाल की चर्चा आई है, उसके मूलतः दो भेद हैं - (१) उत्सर्पिणीकाल (२) अवसर्पिणी काल। जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये, वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें ये क्रम से घटते जायें वह अवसर्पिणी काल है। इन दोनों का काल प्रमाण जैनगणितानुसार दस-दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। इसप्रकार बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। इन दोनों कालों के छह-छह भेद हैं - वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। अवसर्पिणी के छह भेदों में पहला सुखमा-सुखमा, दूसरा सुखमा, तीसरा सुखमा-दुःखमा, चौथा दुःखमा-सुखमा, पाँचवाँ दुःखमा और छठवाँ दुःखमा-दुःखमा। उत्सर्पिणी के छहों भेद इनसे उलटे हैं अर्थात् वे छठवें से प्रारंभ होकर पहले तक आते हैं जैसे कि छठवाँ - दुःखमा-दुःखमा फिर पाँचवाँ - दुःखमा फिर चौथा - दुःखमा-सुखमा। तीसरा - सुखमा-दुःखमा, दूसरा - सुखमा और पहला - सुखमा-सुखमा। ये उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी - दोनों ही काल कृष्णपक्ष व शुक्लपक्ष की भांति सदैव बदलते रहते हैं।

पहले इस भरतक्षेत्र के मध्यवर्ती आर्यखण्ड में अवसर्पिणी का पहला भेद सुषमा-सुषमा नाम का काल बीत रहा था, उस काल का परिमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर था, उससमय यहाँ देवकुरु और उत्तरकुरु नामक उत्तर भोगभूमियों में जैसी स्थिति रहती है, ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्र में युग के प्रारम्भ अर्थात् अवसर्पिणी के पहले काल में थी। उससमय मनुष्यों की आयु तीन पल्य की होती थी और शरीर की ऊँचाई



छह हजार धनुष की थी। उससमय यहाँ जो मनुष्य थे, उनके शरीर के अस्थिबन्धन वज्र के समान सुदृढ़ थे, वे अत्यन्त सौम्य और सुन्दर आकार के धारक थे। उनका शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान दैदीप्यमान था। मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत इन आभूषणों को वे सर्वदा धारण किये रहते थे। अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं। उनके वक्षःस्थल बहुत ही विस्तृत होते हैं। उन्हें तीन दिन बाद भोजन की इच्छा होती है सो कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए बदरीफल बराबर उत्तम भोजन ग्रहण करते हैं। उन्हें न तो परिश्रम करना पड़ता है, न पसीना ही आता है और न अकाल में उनकी मृत्यु ही होती है। वे बिना किसी बाधा के सूखपूर्वक जीवन बिताते हैं। वहाँ की स्त्रियाँ भी उतनी ही आयु की धारक होती हैं, उनका शरीर भी उतना ही ऊँचा होता है और वे अपने पुरुषों के साथ ऐसी शोभायमान होती हैं जैसी कल्पवृक्षों पर लगी हुई कल्पलताएँ। वे स्त्रियाँ अपने पुरुषों में अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं। आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई और स्त्री को छींक आती है। उसी से पुण्यात्मा पुरुष अपना-अपना शरीर छोड़कर स्वर्ग चले जाते हैं। उससमय के मनुष्य स्वभाव से ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिए वे भद्रपुरुष मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। स्वर्ग के सिवाय उनकी और कोई गति नहीं होती।

इसके बाद सुषमा नामक दूसरा काल ३ कोड़ा-कोड़ी सागर का था, उसमें मनुष्यों की आयु ३ पल्य की होती थी और उनका शरीर ४ हजार धनुष ऊँचा होता था।

तीसरा सुषमादुःषमा नाम का काल यथाक्रम से प्रवृत्त हुआ। उसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागर की थी। उससमय इस भारतवर्ष में मनुष्यों की स्थिति एक पल्य की थी। उनके शरीर एक कोश ऊँचे थे, वे श्यामवर्ण थे और एक दिन के अन्तर से आँवले के बराबर भोजन ग्रहण करते थे। इसप्रकार क्रम-क्रम से तीसरा काल व्यतीत होने पर जब इसमें पल्य का आठवाँ भाग शेष रह गया, तब कल्पवृक्षों की सामर्थ्य घट गयी और ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों का प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया। तदनन्तर आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पूर्व दिशा में उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिम में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलायी पड़ा।

उससमय वहाँ प्रतिश्रुति नाम से प्रसिद्ध पहले कुलकर विद्यमान थे, जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे। उनकी आयु पल्य के दसवें भाग के बराबर और ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष थी। पहले कभी नहीं देखे गये सूर्य व चन्द्रमा को देखकर भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्यों का स्वरूप निम्न प्रकार बताकर निर्भय किया।

उन्होंने कहा - “हे भद्र पुरुषो, तुम्हें जो ये दिख रहे हैं, वे सूर्य, चन्द्रमा नाम के ग्रह हैं, ये महाकान्ति के धारक हैं तथा आकाश में सर्वदा घूमते रहते हैं। अभीतक इनका प्रकाश ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों के प्रकाश से तिरोहित रहता था इसलिए नहीं दिखते थे, परन्तु अब चूँकि कालदोष के वश से ज्योतिरङ्ग वृक्षों का प्रभाव कम हो गया है, अतः दिखने लगे हैं। इनसे तुम लोगों को कोई भय नहीं है, अतः भयभीत नहीं होओ।” प्रतिश्रुति कुलकर ने इस भरतक्षेत्र में होनेवाली व्यवस्थाओं का निरूपण किया। वे सब आर्य उनकी आज्ञानुसार अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ अपने-अपने घर चले गये।

इसके बाद क्रम-क्रम से समय के व्यतीत होने तथा प्रतिश्रुति कुलकर के स्वर्गवास हो जाने पर जब असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर (एक कुलकर के बाद दूसरे कुलकर के उत्पन्न होने तक बीच का काल) व्यतीत हो गया तब समीचीन बुद्धि के धारक सन्मति नाम के द्वितीय कुलकर का जन्म हुआ। उनकी आयु संख्यात वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष थी। इनके समय में ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों की प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गयी थी तथा उनका तेज बुझते हुए दीपक के समान नष्ट होने के सन्मुख ही था। एक दिन रात्रि के प्रारम्भ में जब थोड़ा-थोड़ा अन्धकार था तब तारागण आकाशरूपी आंगन में सब ओर प्रकाशमान होने लगे। उससमय अकस्मात् तारों को देखकर भोगभूमिज मनुष्य भ्रम में पड़कर भयभीत हो गये। वे सब समाधान के लिए सन्मति कुलकर के पास गये।

सन्मति कुलकर ने क्षणभर विचार कर उन आर्य पुरुषों से कहा कि - “हे भद्र पुरुषो ! यह कोई उत्पात नहीं है इसलिए आप व्यर्थ ही भय के वशीभूत न हों। ये तारे हैं, यह नक्षत्रों का समूह है, ये सदा प्रकाशमान रहनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह हैं और यह तारों से भरा हुआ आकाश है। यह ज्योतिश्चक्र सर्वदा आकाश में विद्यमान रहता है, अब से पहले भी विद्यमान था, परन्तु ज्योतिरङ्ग जाति के वृक्षों के प्रकाश से तिरोभूत

था। अब उन वृक्षों की प्रभा भी क्षीण हो गयी है, इसलिए स्पष्ट दिखायी देने लगे हैं। आज से लेकर सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि उदय और अस्त होते रहेंगे और उनसे रात-दिन का विभाग होता रहेगा। उन बुद्धिमान सन्मति ने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, ग्रहों का एक राशि से दूसरी राशि पर जाना, दिन और अयन आदि का संक्रमण बतलाते हुए ज्योतिष विद्या के मूल कारणों का भी उल्लेख किया था। वे आर्य लोग भी उनके वचन सुनकर शीघ्र ही भयरहित हो गये और पूजा करके अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष का अन्तराल काल बीत जाने पर इस भरतक्षेत्र में क्षेमंकर नामक तीसरे मनु हुए। इस महाप्रतापी मनु की आयु असंख्यात वर्ष बराबर थी और शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष थी। पहले जो पशु, सिंह, व्याघ्र आदि अत्यन्त भद्रपरिणामी थे, जिनका लालन-पालन प्रजा अपने हाथ से ही किया करती थी, वे अब तीसरे कुलकर क्षेमंकर के समय विकार को प्राप्त होने लगे-मुँह फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे। उनकी इस भयंकर गर्जना से मिले हुए विकार भाव को देखकर प्रजाजन डरने लगे तथा बिना किसी आश्रय के निश्चल बैठे हुए क्षेमंकर कुलकर (मनु) के पास जाकर उनसे पूछने लगे - हे देव ! सिंह, व्याघ्र आदि जो पशु पहले बड़े शान्त थे, जो अत्यन्त स्वादिष्ट घास खाकर और तालाबों का रसायन के समान रसीला पानी पीकर पुष्ट हुए थे, जिन्हें हम लोग अपनी गोदी में बैठाकर अपने हाथों से खिलाते थे, हम जिन पर अत्यन्त विश्वास करते थे और जो बिना किसी उपद्रव के हम लोगों के साथ-साथ रहा करते थे, आज वे ही पशु बिना किसी कारण के हम लोगों को सींगों से मारते हैं, दाढ़ों और नखों से हमारा विदारण करना चाहते हैं और अत्यन्त भयंकर दीख पड़ते हैं। हे महाभाग, आप इनसे हमारी सुरक्षा का कोई उपाय बतलाइए। चूँकि आप सकल संसार का क्षेम-कल्याण सोचते रहते हैं इसलिए सच्चे क्षेमंकर हैं। इसप्रकार उन आर्यों के वचन सुनकर क्षेमंकर कुलकर (मनु) को भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हो गया और वे कहने लगे कि “आपका कहना ठीक है। ये पशु पहले वास्तव में शान्त थे, परन्तु अब भयंकर हो गये हैं, इसलिए इन्हें छोड़ देना चाहिए। ये काल के दोष से विकार को प्राप्त हुए हैं। अब इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि तुम इनकी उपेक्षा करोगे तो ये अवश्य ही बाधा करेंगे।”

क्षेमंकर के उक्त वचन सुनकर उन लोगों ने सींगवाले और दाढ़वाले दुष्ट पशुओं का साथ छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय-भैंस आदि पशुओं के साथ रहने लगे। क्रम-क्रम से समय बीतने पर क्षेमंकर मनु की आयु पूर्ण हो गई।

इसके असंख्यात करोड़ वर्ष बाद चौथे क्षेमंधर कुलकर हुए। इनकी आयु असंख्यात वर्ष की थी और शरीर की ऊँचाई ७७५ धनुष थी। इसके समय में सिंह व्याघ्र आदि पशु अधिक हिंसक हो गये थे। तब इन्होंने लकड़ी, लाठी आदि से उनसे बचने का उपाय प्रजा को बताया।

तदनन्तर असंख्यात करोड़ वर्ष बीतने पर पाँचवें सीमंकर कुलकर हुए। इनकी आयु कमल प्रमाण असंख्यात वर्ष की थी। इनकी शरीर की ऊँचाई ७५० धनुष प्रमाण थी। इनके समय में कल्पवृक्षों की संख्या एवं क्षमता अल्प हो गई। इसकारण इन्होंने परस्पर के विवादों को मेटने के लिए कल्पवृक्षों की सीमाएँ नियत कर दीं।

इसके बाद असंख्यात वर्ष बाद छठवें सीमंधर कुलकर हुए। उनकी आयु नलिन असंख्यात वर्ष प्रमाण थी तथा शरीर की ऊँचाई ७०० धनुष प्रमाण थी। इनके समय में कल्पवृक्ष और भी घट गए और फल भी कम देने लगे। इसकारण प्रजा हाथापाई पर उतरने लगी तो इन्होंने झाड़ियों की बाढ़ लगाने की विधि बता कर उनके झगड़ों को मिटाया।

असंख्यात करोड़ वर्ष बाद सातवें कुलकर विमलवाहन हुए। इनकी आयु पदम प्रमाण थी। शरीर ७०० धनुष ऊँचा था। इन्होंने हाथी-घोड़ा आदि पशुओं को सवारी के योग्य बताया और उन्हें लगाम, अंकुश आदि से वश में करने का उपाय बताया।

इनके असंख्यात करोड़ वर्ष बाद चक्षुष्मान नामक आठवें कुलकर हुए। इनके समय तक माता-पिता अपने सन्तान का मुख नहीं देख पाते थे। अब इनके समय जब माता-पिता क्षणभर को संतान का मुख देखने लगे तो उनके लिए यह नई बात होने से प्रजा भयभीत हुई, उसका समाधान इन कुलकर ने किया।

तदनन्तर करोड़ों वर्ष बाद यशस्वान नामक ९ वें कुलकर हुए। इनकी आयु कुमुद असंख्यात प्रमाण वर्ष की थी। उनकी शरीर की ऊँचाई ६५० धनुष थी। इनके जमाने में प्रजा अपनी संतान का बाल्यकाल देखने लगी थी।

इसके करोड़ों वर्ष बाद अभिचन्द्र नामक दसवें कुलकर हुए। इनकी आयु भी असंख्यात वर्ष की थी। ये ६२५ धनुष ऊँचे थे। इनके समय में प्रजा अपनी संतान को चन्द्रमा दिखाकर मनोरंजन करने लगे थे।

इसके करोड़ों वर्ष बाद चन्द्राभ नामक ग्यारहवें कुलकर हुए। इनकी आयु भी असंख्यात वर्षों की थी। इनका शरीर ६०० धनुष ऊँचा था। इनके समय में प्रजा संतान का सुख पाने लगी थी।

असंख्यात वर्षों बाद बारहवें कुलकर मरुदेव हुए। इनकी आयु भी असंख्यात वर्ष की थी। शरीर की ऊँचाई ५७५ धनुष थी। इनके समय में प्रजा संतान के साथ बहुत समय तक रहने लगी तथा नदी-नालों पहाड़ों के चढ़ने एवं पार करने के उपाय बताये। इनके समय यदा-कदा बरसात भी होने लगी थी। कर्मभूमि का काल निकट आ चला था।

इसके बाद कुछ समय बीतने पर तेरहवें कुलकर प्रसेनजित हुए। इनकी आयु एक पर्व प्रमाण थी। शरीर की ऊँचाई ५५० धनुष थी। इनके समय में बालक जरायुज (शरीर के ऊपर की झिल्ली) सहित पैदा होने लगे थे। इन्होंने उस नवजात शिशु को झिल्ली फाड़कर निकलाने की विधि बताई।

इसप्रकार इसी क्रम में महाराज नाभिराज चौदहवें कुलकर थे। उन चौदह कुलकरों (मनुओं) के नाम एवं संक्षिप्त जानकारी इसप्रकार है -

पहले प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर, पाँचवें सीमंकर, छठें सीमंधर, सातवें विमलवाहन, आठवें चक्षुष्मान, नौवें यशस्वान्, दसवें अभिचन्द्र, ग्यारहवें चन्द्राभ, बारहवें मरुदेव, तेरहवें प्रसेनजित् और चौदहवें नाभिराज।

पहले प्रतिश्रुति ने सूर्य चन्द्रमा के देखने से भयभीत हुए मनुष्यों के भय को दूर किया था, तारों से भरे

हुए आकाश के देखने से लोगों का जो भय हुआ था, उसे सन्मति ने दूर किया था, क्षेमंकर ने प्रजा में क्षेमकल्याण का प्रचार किया था, क्षेमंधर ने क्षेमकर के द्वारा बताये कल्याण मार्ग पर चलने की विधि बतलाई। स्वयं उस मार्ग पर चलकर मार्गदर्शन किया था, सीमंकर ने आर्य पुरुषों की सीमा नियत की थी, सीमन्धर ने कल्पवृक्षों की सीमा निश्चित की थी, विमलवाहन ने हाथी आदि पर सवारी करने का उपदेश दिया था, सबसे पहले अग्रसर रहनेवाले चक्षुष्मान ने पुत्र के मुख देखने की परम्परा चलायी थी, यशस्वान् का सब कोई यशोगान करते थे, अभिचन्द्र ने बालकों की चन्द्रमा के साथ क्रीड़ा कराने का उपदेश दिया था, चन्द्राभ के समय माता-पिता अपने पुत्रों के साथ कुछ दिनों तक जीवित रहने लगे थे, मरुदेव के समय माता-पिता अपने पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगे थे, प्रसेनजित ने गर्भ के ऊपर रहनेवाले जरायुरूपी मल के हटाने का उपदेश दिया था और नाभिराज ने नाभि-नाल काटने का उपदेश दिया था। नाभिराज के घर तीर्थकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था।

ये सभी कुलकर महाबुद्धिमान, सर्वांग सुन्दर थे और अत्यन्त बलिष्ठ थे। इन्होंने प्रकृति की सभी शोभास्पद वस्तुओं को अपनी शोभा से फीका कर दिया था।

नाभिराज से पूर्व कुलकरों ने जो व्यवस्था लोक को बताई थी। उस सब व्यवस्था को नाभिराज ने संभाल लिया था। उनकी आयु एक करोड़ पूर्व की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष थी। उन्हीं के समय आकाश में कुछ सफेदी लिए हुए काले रंग के सघन मेघ प्रगट हुए थे। वे मेघ इन्द्रधनुष से सहित थे। उस समय काल के प्रभाव से पुद्गल परमाणुओं में मेघ बनाने की सामर्थ्य उत्पन्न हो गई थी वे मेघ विद्युत् से युक्त थे, गंभीर गर्जना करने लगे थे और पानी बरसाने लगे थे।

कल्पवृक्षों का अभाव होने से उनके स्थानापन्न धान्य हो गये थे, किन्तु उनका उपयोग करना न आने से प्रजा दुःखी थी। यद्यपि उस समय न अतिवृष्टि होती थी और न अनावृष्टि; अतः सभी प्रकार के अन्न भरपूर मात्रा में उत्पन्न होने लगे थे; परंतु उसके उपयोग करने के बारे में सही जानकारी नहीं थी। आहार संज्ञा

के उदय से लोगों को भूख तो खूब लगने लगी थी। कल्पवृक्ष बिल्कुल नष्ट हो गये थे; अतः प्रजा का व्याकुल होना स्वाभाविक ही था। धान्य भरपूर होने पर भी उसका उपयोग करना न जानने से प्रजा परेशान थी।

अन्ततोगत्वा प्रजा उस युग के मुख्य नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराय के पास गई और करबद्ध प्रार्थना करके बोली कि - “हे नाथ ! कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से हम लोग दुःखी हो गये। अब हम पुण्यहीन किसप्रकार जीवित रहें। हे देव ! ये फलों से झुके हुए वृक्ष मानों हमें बुला रहे हैं, क्या हम इन फलों का सेवन कर सकते हैं ? या ये हमें त्याज्य हैं ? ये धान्य से भरे खेत हैं, इनका कैसे उपयोग करें ?”

राजा नाभिराय ने आश्वस्त करते हुए कहा - “आप लोग निर्भय रहें। यद्यपि कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं; किन्तु ये फलों से बोझिल होने से नीचे की ओर झुके वृक्ष और अन्न से लहराते खेत ही तुम्हारे कल्पवृक्ष हैं, इनसे तुम्हें मनचाहे भोज्य सामग्री की प्राप्ति होगी। पर, ध्यान रहे ! इनमें कुछ वृक्ष जहरीले भी होते हैं, उनकी पहचान कर उन्हें दूर से ही तज देना। ये फल औषधियों के रूप में खाने योग्य पदार्थ हैं। इनका मसालों के रूप में उपयोग करने से भोजन सुपाच्य और स्वादिष्ट हो जाता है और ये स्वभाव से ही मीठे लम्बे-लम्बे ईख के पेड़ दांतों से या यंत्र से पेल कर इनका रस पीने योग्य है।”

इसप्रकार राजा नाभिराज द्वारा बताये आजीविका और खान-पान की विधि जानकर प्रजा बहुत प्रसन्न हुई। भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। प्रजा का हित करनेवाले केवल नाभिराज ही थे।

यहाँ ज्ञातव्य है कि इन कुलकरों में कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण ज्ञान (पूर्वभव का ज्ञान) था, कितने ही अवधिज्ञानी थे। मानवों को जीवन दान देने के उपाय जानने के कारण इन्हें मनु भी कहते हैं और आर्य पुरुषों को कुल की भांति संगठित रहने का उपदेश देने के कारण इन्हें कुलकर कहते हैं। इन्होंने अनेक वंश स्थापित किए, इसकारण इन्हें कुलधर भी कहते हैं।

भगवान ऋषभदेव तीर्थंकर के साथ कुलकर भी थे - ये दोनों पदों के धारक थे। भरतजी चक्रवर्ती भी थे और कुलकर भी थे। आदि के पाँच कुलकरों ने ‘हा’ दण्ड की व्यवस्था की थी अर्थात् अपराधी से इतना



कहना पर्याप्त था कि 'खेद है कि आपने यह अपराध किया है।' उनके आगे के पाँच कुलकरों ने 'हा' और 'मा' - इन दो दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् 'खेद है कि तुमने अपराध किया, अब आगे मत करना।' शेष कुलकरों ने 'हा' 'मा' के साथ, धिक्, दण्ड की व्यवस्था की थी। धिक् का अर्थ है तुम्हें इस अपराध के लिए धिक्कार है जो रोकने पर भी अपराध करते हो। भरतजी के समय लोग अधिक अपराधी हो गये थे, अतः उन्हें बन्धन आदि दण्ड व्यवस्था करनी पड़ी थी।

पौराणिक कथाओं में आठ आख्यान होते हैं। (१) लोक, (२) देश, (३) नगर, (४) राज, (५) तीर्थ, (६) तप-दान (७) गति और (८) फल।

लोक - जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायों सहित देखे जायें, वह लोकाख्यान है। जहाँ जीवादि द्रव्यों का निवास हो, वह लोक है।

क्षेत्र - क्षेत्र की मुख्यता करते हुए वर्णन को क्षेत्र आख्यान कहते हैं। लोक का ही दूसरा नाम क्षेत्र है।

इसीप्रकार देश, नगर, राज, तीर्थ तप व दान के वर्णन को क्रमशः देशाख्यान नगराख्यान, राजाख्यान आदि नामों से वर्णन किया जाता है। पौराणिक कथाओं में इन सबका वर्णन आवश्यकतानुसार यथास्थान होता है। अतः प्रस्तुत "शलाका पुरुष" ग्रन्थ में भी संक्षेप में उपर्युक्त सब आख्यान यथास्थान होंगे ही।

यहाँ आचार्य जिनसेन के लेखानुसार लोकाख्यान के अन्तर्गत लोक के कर्तृत्व की चर्चा अपेक्षित है। सृष्टि की संरचना और संचालन की दृष्टि से सभी दर्शनों को दो भागों में बांटा जा सकता है। निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी। निरीश्वरवादी दर्शन की मान्यतानुसार यह लोक अनादि-अनन्त है, इसे न किसी ने बनाया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता। इसका रक्षक ये स्वयं है, यह अन्य किसी के द्वारा रक्षित भी नहीं है। वे वस्तुतः भ्रम में हैं जो लोक को ईश्वरकृत मानते हैं; क्योंकि सभी ईश्वरवादी आस्तिकों के मत में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और वीतरागी माना गया है। जिसका सम्पूर्ण राग बीत गया; समाप्त हो गया उसे लोक की रचना का राग कहाँ से आयेगा? जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति सम्पन्न है। इसकी सृष्टि ऐसी दुःखमय, दुःखद और



अव्यवस्थित कैसे हो सकती है? जब एक प्रभावी राजा के राज्यशासन में चोर, डाकू, हत्यारे, परस्त्री लम्पट आदि नहीं टिक सकते तो सर्व शक्तिमान ईश्वर के शासन में ये सब दुष्कृत कार्य कैसे हो सकते हैं ? ये कुछ प्रश्न हैं।

ईश्वरवादियों का मानना है कि - “ऐसी चित्त-विचित्र और आश्चर्यजनक सृष्टि की संरचना सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं कर सकता। अतः जगत में कोई ऐसी अदृश्य ईश्वरीय शक्ति की सत्ता होनी ही चाहिए।”

यहाँ, ध्यान देने योग्य बात यह है कि - ऐसा माननेवाले ये ईश्वरवादी जगत के बहुत से कार्यों के कर्ता स्वयं भी बने बैठे हैं। ऐसा कौन ईश्वरवादी है जो अपने जीवन निर्वाह के कार्यों को स्वयंकृत नहीं मानता। जैसे कि - धनोपार्जन, कुटुम्ब का पालन-पोषण, समाजसेवा, राष्ट्रोन्नति आदि कार्यों को तो सभी स्वयंकृत मानते ही हैं न ? और इन कार्यों का श्रेय भी स्वयं ही लेना चाहते हैं। यदि ऐसा मानते हैं तो ये कैसे ईश्वरवादी हैं ? जो काम बन जाते हैं, उनका श्रेय स्वयं ले जाते हैं और जो काम बिगड़ जाता है, उसे ईश्वर के माथे मड़ देते हैं। कहते भी हैं “हमने तो बहुत कोशिश की; परन्तु हमारे करने से क्या होता ? ईश्वर की इच्छा ऐसी ही थी। तुलसीदासजी ने कहा भी है - ‘हुड़ए वही जो राम रचित राखा।’ ‘मुस्लिम भाई! कहते हैं’ - मालिक की मर्जी ही ऐसी थी। ‘खुदा की मर्जी के बिना पत्ता भी तो नहीं हिलता।’ ईश्वर और खुदा काम बिगड़ने पर ही याद आते हैं। सचमुच ऐसे भक्तों पर वह बुन्देलखण्डी कहावत चरितार्थ होती है कि ‘खीर में सांझा और महेरी (मक्की की राबड़ी) में न्यारा’ जब भला-भला सब तूने किया तो बिगड़ने में भगवान की इच्छा को बीच में क्यों ले आता है ?

भले ही विश्वव्यवस्था ईश्वरकृत हो या ऑटोमेटिक (स्वसंचालित) हो। हम तो दोनों ही स्थितियों में पर के कार्यों के कर्ता नहीं हैं। हमारे माथे तो कुछ भी करने/कराने के उत्तरदायित्व का बोझ नहीं है। फिर भी संसारी प्राणी पर के कार्यों के कर्तृत्व के कल्पित अहंकार में - काम को सफल करने में स्वयं को इतना

उलझाये हुए हैं कि उसे मरने की भी फुरसत नहीं है। यह कैसी विडम्बना है? पहले तो स्वयं पूरी ताकत लगाता है और जब असफल हो जाता है तो ईश्वर के माथे मढ़ता है। ऐसा कोई ईश्वर कैसे संभव है जो अपना सुख-दुःख भूलकर अनन्त प्राणियों एवं चर-अचर जन्तु जगत के पीछे पड़ा रह सके?

दोनों दार्शनिक मान्यताओं में कौन सच है? कौन सच नहीं है? यह तो अभी अज्ञानी जगत के सामने कोई मुद्दा ही नहीं है; क्योंकि दोनों ही मतों के माननेवाले लोग भले ही अपने-अपने मतों को कुलधर्म की अपेक्षा सत्य मानते हों; परंतु व्यावहारिक धरातल पर तो प्रायः सभी स्वयं को ही सब कार्यों का कर्ता मानकर परोक्षरूप में दोनों ही मतों में अपनी-अपनी अश्रद्धा एवं असहमति प्रगट कर रहे हैं।

सामान्य जगत यह सोचता है कि बड़े-बड़े पण्डितों की बातें तो वे जाने पर हमारी समझ में तो यह नहीं आता कि यदि ये सब घर-गृहस्थी के कार्य ईश्वर करता है या ऑटोमेटिक ही होते हैं तो हम जो आठ-आठ घंटे पसीना बहाते हैं, यह सब क्या है? यदि हम दिन-रात एक कर काम न करें तो ऑटोमेटिक कैसे हो जायेंगे? अथवा क्या ईश्वर किसी के चौके में आकर रोटियाँ बनायेगा, बर्तन मांजेगा या कपड़े धोयेगा?

अरे भाई! यही तो हमारा अज्ञान है, निरीश्वरवादी जैनदर्शन के अनुसार तो प्रत्येक कार्य के अपने स्वयं के पाँच समवाय (कारण) होते हैं। उनमें हमारे विकल्प और विकल्प के अनुसार क्रिया की परिणति तो मात्र एक निमित्त कारण है। जब तक स्वभाव, पुरुषार्थ, होनहार और स्वकालरूप स्वयं कार्य की उपादान की योग्यता नहीं होती तबतक मात्र हमारा निमित्त किसी भी कार्य को कोई अंजाम नहीं दे सकता, किसी भी कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता।

मान लो, ईश्वरवादी स्वयं ईश्वर से पूछे कि हे प्रभो! जब आप सब कुछ करने/कराने में समर्थ हो, अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हो, सर्वज्ञ हो, भूत-भविष्य के सभी अच्छे-बुरे परिणामों (नतीजों) को जानते हो; फिर भी आप सृष्टि की ऐसी अटपटी संरचना करके स्वयं को एवं अन्य प्राणियों को संकट में डालते ही क्यों हो? मानव का इतना श्रेष्ठ सर्वसुविधा सहित शरीर बनाया, साथ ही उसके एक-एक रोम में १६-

९६ रोग रचकर उसे आनन्द का मंदिर न बना कर व्याधियों और व्यथा का घर क्यों बना दिया ?

इतने सुन्दर रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पों से भरे बाग-बगीचे बनाये तो उन्हें कांटों और कीट-पतंगों से क्यों भर दिया ? चन्दन के सुगन्धित पेड़ बनाये तो उन्हें विषधर नागों से क्यों लपेट दिया ? सेवाभावी सर्वांग सुन्दर नारियाँ बनाईं तो उन्हें अबला क्यों बना दिया ? साथ ही उनमें मायाचार का मीठा जहर क्यों भर दिया ? धन-धान्य बनाये तो उनके चोर-लुटेरे और अतिवृष्टि-अनावृष्टि इत्यादि बर्बादी के साधन क्यों रच डाले ? पाँचों इन्द्रियों के सुहावने विषय बनायें तो उनके उपभोग को पापों से क्यों भर दिया ?

हो सकता है आपका कोई अन्धभक्त आपके इन कृत्यों को 'प्रभुलीला' कहकर समाधान कर ले; पर आपकी यह ऐसी कैसी लीला है जो दूसरों की जानलेवा और प्राणपीड़ा की कारण हो ? आपकी शरण में आकर आपका भक्त आपको 'संकट मोचक' जैसी उपाधियों से अलंकृत करे, फिर भी वह संकट से मुक्त न हो। भला ऐसा क्यों होता है ? प्रभु! ये कुछ अनुत्तरित प्रश्न हैं, अतः कुछ समझ में नहीं आता...।

प्रभु ! आपकी ओर से आपका कोई भक्त यह दलील भी दे सकता है कि किसी की सुगति या कुगति का निर्धारण ईश्वर अपनी मर्जी से नहीं, बल्कि उसके पुण्य-पाप या अच्छे-बुरे कार्यों के आधार से करता है; परन्तु उन्हें पुण्य-पाप करने के, अच्छे-बुरे कर्म करने के प्रेरक तो आप ही हैं न ? मैंने कहीं पढ़ा था कि "ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" अर्थात् प्राणी स्वर्ग अथवा नरक भी ईश्वर की प्रेरणा से ही जाते हैं।

सिंहादिक पशुओं के अलावा आज अधिकांश मानव भी मांसाहारी, शराबी, कबाबी, क्रोधी, लोभी और हिंसक प्रवृत्ति के दिखाई देते हैं। यदि उनसे कुछ कहो तो उत्तर मिलता है कि ईश्वर ने ये सब सुन्दर वस्तुएँ हमारे भोग-विलास और ऐशोआराम के लिए ही तो बनाई हैं, फिर हम इनका उपभोग क्यों न करें ?

क्या सचमुच आपने ये रंग-बिरंगी मछलियाँ, मुर्गे-मुर्गियाँ, बकरे-बकरियाँ, गाय-भैंस जैसे घास-फूस पर जीनेवाले भोले-भाले प्राणी इस मानव जाति के खाने के लिए ही बनाये हैं ? नन्हीं-मुन्नी बालिकायें; षोडसी कुंवारी कन्याएँ क्या सचमुच आपने बलात्कार करने के लिए बनाई हैं ? इन्हें तड़फता, रोता-

बिलखता और संकट में पड़ा देख क्या तुझे जरा भी करुणा नहीं आती ? फिर तू कैसा संकटमोचक है ?

प्रभु ! यह कैसी लीला है तेरी ? यह कैसा सृष्टि कर्तृत्व है तेरा ? कुछ समझ में नहीं आता । प्रभु ! ऐसी हालत में कुछ अन्धभक्त भले ही तुझे पूजते रहें, पर पढ़े-लिखे, विचारवान और वैज्ञानिक दृष्टिवाले व्यक्तियों का तो धीरे-धीरे तेरी सत्ता पर से ही विश्वास उठ जायेगा ।

अब तो अधिकांश व्यक्ति ऑटोमेटिक स्व-संचालित विश्वव्यवस्था में ही अपना विश्वास व्यक्त करने लगे हैं; क्योंकि इस पक्ष के पोषक तर्क हैं, युक्तियाँ हैं, आगम हैं और वैज्ञानिक समर्थन भी है । अतः प्रबुद्ध पाठक कुलधर्म के चक्कर में पड़े न रहकर परीक्षा प्रधानी बनें, इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें और आत्महित के हेतुभूत वस्तुस्वातन्त्र्य के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करें ।

ईश्वर कर्तृत्व के संबंध में कुछ प्रश्न ऐसे भी हैं, जिनके कोई युक्तिसंगत उत्तर नहीं है, कोई संतोषजनक समाधान नहीं है । जैसे कि -

- (१) सृष्टि से पहले जब सृष्टि थी ही नहीं तो ईश्वर ने यह सृष्टि कहाँ बैठकर बनाई होगी ?
- (२) जब ईश्वर स्वयं अमूर्त है तो वह यह मूर्त सृष्टि कैसे बना सकता है ?
- (३) सृष्टि के अभाव में ईश्वर ये विशाल नदियाँ, ये ऊँचे-ऊँचे पहाड़, अथाह समुद्र और नगरादि बनाने के लिए सामग्री (कच्चा मटेरियल) कहाँ से लाया होगा ?
- (४) सृष्टि के पूर्व जब सृष्टि निर्माण के साधन ही नहीं थे तो सृष्टि का निर्माण कार्य कहाँ से/कैसे किया ?
- (५) यदि कारण सामग्री अपने आप बन जाती है तो कार्य अपने आप क्यों नहीं हो सकता ?
- (६) ईश्वर भी तो एक कार्य है, उस ईश्वर का कर्ता भी तो कोई अन्य ईश्वर होना चाहिए । फिर उसका भी कोई अन्य ईश्वर होगा - इसतरह तो अनवस्था दोष आयेगा, कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी । यदि वह (ईश्वर) स्वतःसिद्ध है तो सृष्टि स्वतःसिद्ध क्यों नहीं हो सकती ?

इसलिए मानना चाहिए कि यह लोक अकृत्रिम ही है । अनादिनिधन है एवं स्वसंचालित है । न इसे कोई बना सकता है न इसका संहार कर सकता है । अतः सृष्टि के निर्माता का विचार कल्पनामात्र ही है ।

### ऋषभदेव का नवाँ पूर्व भव राजा महाबल/षट्दर्शन समीक्षा

इसी अनादि-निधन लोक में विजयार्द्ध पर्वत पर एक अलकापुरी नाम की नगरी थी। उस अलकापुरी का राजा अतिबल नाम का विद्याधर था। जो अपने नाम के अनुसार ही अति बलवान था, उसने बड़े-बड़े शत्रुओं को तो जीत ही लिया था। सदैव वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध मनुष्यों की संगति में रहकर तत्त्वज्ञान भी प्राप्त कर लिया था, अपने अंतरंग शत्रु इन्द्रियों के विषयों पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। वह बहुत वैभवशाली था, कुलीन था, दानी था, उदार था और संसार, शरीर और भोगों से विरक्त रहता था।

यथानाम तथागुण सम्पन्न राजा अतिबल की मनोहरा नाम की प्राणप्रिया रानी थी। उनके महाबल नामक महाभाग्यवान होनहार पुत्र उत्पन्न हुआ। वह दिन प्रतिदिन शरीर और गुणों में वृद्धिगत होने लगा। महाबल गुरुओं की शरण में रहकर सभी प्रकार की विद्याओं में निपुण हो गया। उसे पूर्व भव के प्रबल संस्कारों से पूर्वभव की समस्त विद्यायें स्मरण में आ गईं, जातिस्मरण ज्ञान प्रगट हो गया। महाराजा अतिबल ने अपना राज्य का पद अपने सर्वाधिक स्नेहपात्र पुत्र महाबल को सौंप दिया।

यद्यपि महाराजा अतिबल के और भी बहुत पुत्र थे, पर उन्हें महाबल पर सर्वाधिक गौरव था। राजा अतिबल संसार से विरक्त तो थे ही, एक दिन राज्य से निर्भार होकर उन्होंने गृह त्याग कर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। उन्हें तीव्रता से वैराग्य भाव जाग्रत हो गया। उन्होंने महाबल से कहा - “अब मैं आत्मशक्ति को बढ़ाकर इस संसार की बेल को उखाड़ फेंकूंगा। इसकी सूचना तुम्हें दे रहा हूँ। तुम राज्य शासन को चलाते हुए धर्मध्यान को मत भूलना; क्योंकि राज्य शासन और गृह में रचे-पचे रहना दुःख का ही मूल है। यह यौवन क्षणभंगुर है और ये पंचेन्द्रिय के भोग बारम्बार भोगने पर भी तृप्ति नहीं देते। तृप्ति

होना तो दूर ही रहा, ये तो तृष्णा की ज्वाला में जलाते हैं। यह शरीर भी व्याधि का मंदिर और नश्वर है। ये बन्धुजन बन्धन ही हैं। धन दुःख देनेवाला है; क्योंकि लक्ष्मी अतिचंचल है, सम्पदायें वस्तुतः विपदायें ही हैं; अतः इन्हें यथासंभव शीघ्र छोड़ ही देना चाहिए।”

स्वयं ऐसा चिन्तन करते हुए और संसार की असारता का विचारकर अपने होनहार पुत्र महाबल को राज्य सौंपकर अतिबल दीक्षित हो गये। इसप्रकार अतिबल के दीक्षा ग्रहण करने के बाद महाबल ने राज्यभार शिरोधार्य किया। महाबल दैव और पुरुषार्थ दोनों से सम्पन्न था। वह न तो अति कठोर था और न अति कोमल। अपनी मध्यममार्ग की नीति अपनाकर उसने समस्त प्रजा को प्रेम से वशीभूत कर लिया। वह धर्म, अर्थ एवं काम – तीनों वर्गों के साथ मोक्षवर्ग या अपवर्ग को भी कभी नहीं भूलता था। उसके राज्यशासन में लोग ‘अन्याय’ शब्द को ही मानो भूल गये थे।

राजा महाबल के चार मंत्री थे, जो राजनीति में निपुण, बुद्धिमान, स्नेही और दूरदर्शी थे। उनके नाम क्रमशः महामति, सभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। उन चारों में स्वयंबुद्ध निरीश्वरवादी जैनदर्शन का अनुयायी था, शेष तीन ईश्वरवादी, चार्वाक एवं विज्ञानाद्वैतवादी थे। इसकारण यद्यपि उनमें परस्पर मतभेद होना स्वाभाविक था; परन्तु स्वामी के हित में अपने मतभेदों को गौण कर वे चारों ही राज्यशासन की सेवा में तत्पर रहा करते थे। इसकारण महाबल समय-समय पर उन मंत्रियों पर राज्य का उत्तरदायित्व सौंपकर वन-उपवनों में विहार कर मनोरंजन किया करते थे। जिसे आगे चलकर तीर्थंकर की महनीय विभूति एवं यश प्राप्त होनेवाला था, वह अभी अपने पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त न्यायोचित वैभव-सुख को भोग रहा था।

तदनन्तर एक दिन राजा महाबल के जन्मदिन का मंगल महोत्सव मनाते हुए अधीनस्थ राजागण, मंत्री, सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठीवर्ग एवं अन्य अधिकारी उन्हें घेरे बैठे थे। महाराजा महाबल किसी के साथ हंसकर, किसी के साथ संभाषण कर, किसी को स्थान देकर, किसी को आसन देकर, किसी को सम्मान देकर उन समस्त सभासदों को संतुष्ट कर रहे थे।

यहाँ ज्ञातव्य है कि राजा महाबल तीर्थंकर ऋषभदेव का ९ वाँ पूर्वभव का जीव है।

स्वयंबुद्ध मंत्री ने महाराजा महाबल को अत्यन्त प्रसन्न देखकर कहा – “हे विद्याधरों के स्वामी ! आपको जो यह लक्ष्मी और वैभव प्राप्त हुआ है, उसे आप केवल पुण्य का ही फल समझिये; क्योंकि जितने भी अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं, वे पुण्य से ही प्राप्त होते हैं – ऐसा जिनेन्द्र की वाणी में स्पष्ट उल्लेख है। हमारा प्रयत्न या पुरुषार्थ तो उसमें मात्र निमित्तरूप कारण है। अन्यथा प्रयत्न तो सभी करते हैं, परन्तु सबको तदनुसार ऐसे सुखद संयोग प्राप्त कहाँ होते हैं ? हे राजन् ! धर्मभावना से ही इच्छानुसार सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, सम्पत्ति से पाँचों इन्द्रियों के सुहावने भोग एवं अनुकूल स्त्री, पुत्र और सैंकड़ों अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं – धर्म की ऐसी ही परम्परा है। राज्य सम्पदायें, भोग, योग्यकुल में जन्म, सुन्दरता, पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य – ये सब पुण्य के ही फल हैं। धर्म के बिना आत्मशान्ति तो होती ही नहीं, लौकिक सम्पदायें भी प्राप्त नहीं होतीं।

जिससे स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षपुरुषार्थ की निश्चित सिद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं। धर्म वही है जिसके मूल में दया है। सम्पूर्ण प्राणियों पर अनुकम्पा करना, उनकी रक्षा का प्रयत्न करना दया है। इस दया के लिए ही उत्तम क्षमा आदि दस गुण कहे हैं। इन्द्रियों को जीतना क्षमाधारण करना, हिंसा नहीं करना, तप-दान-शील-ध्यान और वैराग्य – ये सब दयारूप व्यवहार धर्म के चिह्न हैं। हे महाभाग ! प्राप्त हुए राज्य आदि को धर्म का फल जानकर, अपनी भावना सदैव धर्मपालन करने की होना चाहिए। हे राजन् ! यदि आप यह चंचल राज्यलक्ष्मी और वैभव को स्थिर रखना चाहते हैं तो आपको अहिंसा धर्म का पालन करना ही चाहिए।” इसप्रकार स्वामी का हित चाहनेवाले सम्यग्दृष्टि स्वयंबुद्ध मंत्री सत्परामर्श देकर चुप हो गया।

तब महामति नाम का नास्तिक मंत्री बोला – “हे देव ! जब धर्मी हो तभी तो धर्म हो सकता है। जब आत्मारूप धर्मी का अस्तित्व ही नहीं है तो यह सब धर्म कौन करेगा और उस धर्म का फल भी कौन प्राप्त करेगा ?” यह मंत्री ‘खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ’ वाले चार्वाक मत का माननेवाला चार्वाक था। चार्वाक के मतानुसार आत्मा के पूर्वभव और परभव का अस्तित्व ही नहीं होता। इसकारण पुण्य-पाप को



भी वह नहीं मानता। अतएव इसे नास्तिक संज्ञा भी प्राप्त है। यह नास्तिक मत ऐसा मानता है कि पृथ्वी, पानी, आग, हवा आदि पाँच भौतिक पदार्थ मिलकर जीव की उत्पत्ति हो जाती है और मृत्यु के समय ये पंचभूत बिखरकर अपने यथास्थान पहुँच जाते हैं। ये आत्मा का पुनर्जन्म नहीं मानते। इस कारण इनके यहाँ दया-दान आदि धर्म का कोई स्थान ही नहीं है। इस मंत्री ने स्वयंबुद्ध मंत्री के मत के विरोध में तर्क दिया कि “जब शरीर से पृथक् कोई आत्मा कभी दिखाई ही नहीं देता तो शरीर से भिन्न कोई आत्मा कैसे हो सकता है? इसलिए जो धर्म के नाम पर प्रत्यक्ष सुख छोड़ परलोक के सुख की कल्पित कल्पनायें करते हैं, वे दोनों सुखों से वंचित रहते हैं। चार्वाक मत कहता है – जबतक जिओ, सुख से जिओ और कर्ज लेकर घी पिओ, क्योंकि देह के भस्मीभूत होने पर आत्मा का पुनः आगमन ही नहीं होता। अतः ‘मर कर बैल बन कर भी कर्ज चुकाना पड़ता है।’ यह साहूकारों द्वारा भ्रम भरा प्रचार है। परलोक के सुखों की चाह से ठगाये हुए जो मानव प्रत्यक्ष भोगों को त्याग देते हैं, वे न अभी मजा ले पाते हैं और न उन्हें परलोक में कुछ हाथ आता है, क्योंकि जब परलोक है ही नहीं तो सुख मिलेगा किसको?”

इसप्रकार चार्वाक मत का पक्षधर महामति मंत्री जब अपने तर्क एवं युक्तियाँ देकर चुप हो गया तो विज्ञानाद्वैतवादी विचारधारा वाला सभिन्नमति नाम का तीसरा मंत्री बोला और उसने अपने मत की पुष्टि में कहा – “जीव आदि तत्त्वों को माननेवाले हे स्वयंबुद्ध! आपका माना हुआ ‘जीव’ नाम का कोई पृथक् पदार्थ (तत्त्व) नहीं है; क्योंकि उसकी शरीर से पृथक् उपलब्धि नहीं होती। यह समस्त जगत ‘विज्ञान’ मात्र है; क्योंकि यह क्षणभंगुर है। जो-जो क्षणभंगुर होते हैं, वे सब ज्ञान के विकार होते हैं। यदि ज्ञान के विकार न होकर स्वतंत्र पृथक् होते तो वे नित्य होते; परंतु संसार में कोई पदार्थ नित्य नहीं है, इसलिए वे सब ज्ञान की एक समय की पर्याय मात्र है। विज्ञान निरंश है, अवान्तर भागों से रहित है। बिना परम्परा आगे बढ़ाए ही उसका नाश हो जाता है और वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है और न किसी को जानता ही है। एक क्षण रहकर समूल नष्ट हो जाता है। यह ज्ञान नष्ट होने के पहले ही अपनी सांवृत्तिक सन्तान छोड़ जाता है, जिससे पदार्थों का स्मरण होता रहता है। वह सन्तान अपने सन्तानी (ज्ञान) से भिन्न नहीं है।”



यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'विज्ञान' की सन्तान प्रति सन्तान मान लेने से पदार्थ का स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा; परन्तु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध नहीं हो सकेगा; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि के लिए पदार्थ को अनेक क्षण स्थायी मानना पड़ेगा। जो कि विज्ञानाद्वैतवादी ने माना नहीं है ?

‘पूर्व क्षण में अनुभूत पदार्थ का द्वितीयादि अगले क्षणों में प्रत्यक्ष होने पर जो स्मरण प्रत्यक्ष का जोड़ रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, यह मतिज्ञान का ही प्रभेद है।’

उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए विज्ञानाद्वैतवादी सभिन्नमति मंत्री कहता है कि - “क्षणभंगुर पदार्थ में जो प्रत्यभिज्ञान आदि होता है, वह वास्तविक नहीं है। उसके अनुसार संसारी जीव स्कन्ध दुःख माने जाते हैं। वे स्कन्ध विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप के भेद से पाँच होते हैं। पाँचों इन्द्रियाँ, शब्द आदि उन पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा शरीर एवं मन - ये १२ आयतन हैं।”

विज्ञानाद्वैतवादी के अनुसार जिस आत्मीय भाव से संसार में रुलानेवाले रागादि उत्पन्न होते हैं, उसे समुदयसत्य कहते हैं तथा इन समुदय सत्यरूप स्कन्धों के नाश को मोक्ष या निरोध कहते हैं। इसलिए विज्ञान की संतति से अतिरिक्त जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है जो कि परलोक में पुण्य-पाप के फल भोगनेवाला है। अतएव परलोक संबंधी दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न करनेवाले पुरुषों का परलोक भय झूठा है, कल्पनामात्र है। इसप्रकार यह विज्ञानाद्वैतवादी भी आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व से इन्कार करता है; अतः यह चार्वाक की भांति ही नास्तिक है।

तदनन्तर 'शून्य' मत का अनुयायी शतमति नाम का चौथा मंत्री बोला :- “यह समस्त जगत शून्यरूप है। इसमें नर, पशु-पक्षी, घट-पट पदार्थों का जो प्रतिभास होता है, वह सब स्वप्न जैसा मिथ्या है। भ्रान्ति से ही ऐसा प्रतिभास होता है। जैसा कि स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ स्वप्न भंग होते ही शून्य हो जाती हैं; ऐसा ही सारे जगत का स्वरूप है। इसप्रकार जब सारा जगत मिथ्या है तो जीवादि तत्त्वों को त्रैकालिक माननेवालों का सिद्धान्त सच कैसे हो सकता है ? और उसके अभाव में परलोक की सत्ता भी कैसे सिद्ध होगी ? अतः

जो लोग परलोक के लिए तपश्चरण आदि करते हैं, वे व्यर्थ ही क्लेश प्राप्त करते हैं। जबकि परलोक एक मृगतृष्णा है। इससे अधिक कुछ भी नहीं है।”

इसप्रकार खोटे दृष्टान्त और मिथ्या हेतुओं से सारहीन सिद्धान्त का प्रतिपादन कर जब शतमति चुप हो गया तब तत्त्वज्ञानी स्वयंबुद्ध मंत्री बोले - “हे शून्यवादी ! स्वतंत्र उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप कोई आत्मा नहीं है - यह आप लोग मिथ्या संभाषण कर रहे हो; क्योंकि तुम्हारे द्वारा मान्य पृथ्वी-जल-अग्नि एवं वायुरूप भूत-चतुष्टय के अतिरिक्त ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य की भी प्रतीति होती है। वह चैतन्य शरीररूप नहीं है और न शरीर चैतन्यरूप है; क्योंकि दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित्स्वरूप है, ज्ञान-दर्शनरूप है और शरीर अचित्स्वरूप है - जड़ है। शरीर और चैतन्य आत्मा - दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों में परस्पर विरोधी गुणों का प्रयोग पाया जाता है। चैतन्य का स्वरूप म्यान में रखी तलवार के समान अन्तरंगरूप है और शरीर ऊपर के कवर के रूप में म्यान के समान बहिरंगरूप होता है।

हे भूत वादिन ! आपका मत है कि शरीर के प्रत्येक अंगोपांग की रचना पृथक्-पृथक् चतुष्टय से होती है; इसके अनुसार तो प्रत्येक अंगोपांग में पृथक्-पृथक् चैतन्य होना चाहिए; क्योंकि आपके मत में चैतन्यभूत चतुष्टय का ही कार्य है; परन्तु देखा इससे विपरीत जाता है। शरीर के सब अंगोपांगों में एक ही चैतन्य का प्रतिभास होता है। उसका कारण यह है कि जब शरीर के किसी एक अंग में कांटा चुभ जाता है तो सारे शरीर में दुःख का अनुभव होता है। यदि सब अंगोपांगों में व्याप्त होकर रहनेवाला आत्मा (चैतन्य) भूत चतुष्टय का कार्य होता तो वह भी प्रत्येक अंगों में पृथक्-पृथक् होता। जबकि ऐसा देखा नहीं जाता।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि मूर्तिमान शरीर से अमूर्त चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि मूर्त और अमूर्त में कारण-कार्यपना नहीं होता। इससे सिद्ध है कि जीव कोई भिन्न पदार्थ है और ज्ञान उसका लक्षण है। जैसे इस वर्तमान शरीर में जीव का अस्तित्व है। उसीप्रकार पिछले और आगे के शरीरों में भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है; क्योंकि जीवों का वर्तमान शरीर पिछले शरीर के बिना नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि नवजात शिशु के वर्तमान शरीर में स्थित आत्मा में जो माता के

स्तन (दुग्ध) पान आदि की क्रियायें देखी जाती हैं, वे पूर्वभव के संस्कार ही तो हैं। अन्यथा पैदा होते ही पशुओं के बच्चे को क्या पता कि माँ का दूध कहाँ है ? और कैसे स्तनपान किया जाता है। मरने के बाद भी भूत-प्रेत के रूप में भटकती आत्माओं का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि भविष्य में भी ये जीवात्मा अपने पुण्य-पाप के अनुसार ही चौरासी लाख योनियों में भटकता है और मोक्षमार्ग मिल जाये तो मुक्त भी हो जाता है, यही जीव का परलोक कहलाता है। इसके सिवाय जातिस्मरण से, जीवन-मरणरूप आवागमन से और आप्तप्रणीत आगम से भी जीव का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।

यदि आपके कहे अनुसार पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के संयोग से जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकाने के लिए अग्नि पर रखी हुई बटलोई में भी जीव की उत्पत्ति हो जानी चाहिए; क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि-पानी-वायु और पृथ्वीरूप भूतचतुष्टय का संयोग होता है। इसप्रकार भूतवादियों के मत में अनेक दूषण हैं; इसलिए उनका मत पूर्णरूपेण असत् है।”

इसके बाद स्वयंबुद्ध मंत्री ने विज्ञानवादी से कहा - “आप इस जगत को विज्ञानाद्वैत मात्र मानते हो; परन्तु विज्ञान से विज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि इसमें तो साध्य-साधन - दोनों एक ही हैं - ऐसी हालत में तत्त्व का निश्चय कैसे हो सकता है ? एक बात यह भी है कि लोक में बाह्य पदार्थों की सिद्धि वाक्यों के प्रयोग से ही होती है। अब प्रश्न है कि वे वाक्य विज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि वे वाक्य विज्ञान से भिन्न हैं तो विज्ञान का अद्वैतपना नहीं रहा और यदि अभिन्न है तो - ‘यह लोक विज्ञानमय है’ इसकी सिद्धि किसके द्वारा की ?

एक बात यह भी है कि जब तुम निरंश-निर्विभाग विज्ञान को ही मानते हो तो ग्राह्य-ग्राहक भेद व्यवहार किसप्रकार सिद्ध होगा ? तात्पर्य यह है कि “विज्ञान पदार्थों को जानता है” इस वाक्य में विज्ञान ग्राहक है और पदार्थ ग्राह्य हैं। जब तुम ग्राह्य पदार्थों की सत्ता ही स्वीकृत नहीं करते हो तो ज्ञान ग्राहक किसप्रकार सिद्ध होगा ? यदि ग्राह्य को स्वीकार करते तो विज्ञान का अद्वैतपना नहीं ठहरता।

इसप्रकार यदि ज्ञान को मानते हो तो उसके विषयभूत पदार्थों को भी मानना होगा। जब आप साधन आदि शब्दों का प्रयोग करते हो तो साधन से भिन्न 'साध्य' मानना ही पड़ेगा। और साध्य के रूप में घट-पट आदि बाह्य पदार्थ ही होंगे। इसतरह द्वैतपना होने से विज्ञान का अद्वैतवाद खण्डित हो जाता है।”

इसके बाद स्वयंबुद्ध मंत्री ने कपोल कल्पित शून्यवाद का भी निराकरण करते हुए कहा - “शून्यत्व को प्रतिपादित करने वाले वचन और उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है या नहीं ? यदि आप इनके उत्तर में यह कहें कि 'हाँ' हैं तो आपकी वाणी से ही आपका मानना मिथ्या सिद्ध हो गया। आप यदि वचन और उससे उत्पन्न ज्ञान को स्वीकृत नहीं करते तो अपने शून्यवाद का समर्थन किसके द्वारा करेंगे ? इससे यह सिद्ध है कि जीवादि पदार्थ हैं तथा दया, दान, संयमवाला धर्म भी है।”

इसप्रकार स्वयंबुद्ध मंत्री के वचनों से सम्पूर्ण सभा ने आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। राजा महाबल भी खूब प्रसन्न हुए। इसके अनन्तर जब सभी शान्तभाव से बैठ गए, तब स्वयंबुद्ध मंत्री देखी, सुनी और अनुभव की हुई पदार्थ संबंधी कथाएँ कहने लगे।

स्वयंबुद्ध ने पहली कथा सुनाते हुए कहा - “हे राजन् ! कुछ समय पहले आपके वंश में एक अरविन्द नाम का विद्याधर हुआ। वह पुण्योदय से शत्रुओं के गर्व को चूर करता हुआ इसी अलकानगरी का शासक था। उसके दो पुत्र थे - एक हरिचन्द्र और कुरुविन्द। विद्याधर अरविन्द ने रौद्रध्यान के चिन्तन से नरक आयु का बंध कर लिया। जब उसके मरने के दिन निकट आये तब उसको दाहज्वर हो गया। उसे किसी भी औषधि से सुख-चैन नहीं मिल रहा था, वैभव और नौकर-चाकरों की सेवा से भी उसे सुख-शान्ति नहीं थी। उस समय पुण्यक्षय होने से उसकी समस्त विद्यायें उसे छोड़कर चली गईं। इसकारण वह अशक्त हो गया। उसने अपने पुत्र हरिचन्द्र से कहा - 'मुझे शीतल प्रदेश में पहुँचा दो'; किन्तु इस पुण्यहीन को उसका पुत्र चाहते हुए भी शीतल प्रदेश में नहीं भेज पाया। हरिचन्द्र पिता की बीमारी को असाध्य जानकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया।

एक दिन दो छिपकलियाँ परस्पर में लड़ रही थीं कि लड़ते हुए उनकी पूँछें कट गईं। पूँछ से निकली खून की कुछ बूँदें राजा अरविन्द के शरीर पर आकर पड़ीं। उन खून की बूँदों से उसके दाह्यज्वर की व्यथा कम हो गई। वह विचारने लगा 'आज मेरे भाग्य से बड़ी अच्छी औषधि मिल गई है' उसने अपने द्वितीयपुत्र कुरुविन्द को बुलाकर कहा - 'हे पुत्र ! मेरे लिए खून से भरी एक बावड़ी बनवा दो।' राजा अरविन्द को कुवधिज्ञान था। इसकारण विचार कर पुनः बोला - 'इसी समीपवर्ती वन में अनेकप्रकार के मृग रहते हैं, उन्हें मारकर उन्हीं के खून से बावड़ी भरवा दो।' कुरुविन्द मुसीबत में पड़ गया। उसे एक ओर पिता की आज्ञा की अवहेलना का डर और दूसरी ओर हिंसा के भयंकर पाप का भय। एक क्षण तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो चुपचाप खड़ा रहा। पश्चात् उसने वन में विराजमान अवधिज्ञानी मुनिराज की शरण में जाकर पूछा - 'प्रभो! मेरे पिता की ऐसी कठोर आज्ञा है, जिसका पालन करना भी मुझसे संभव नहीं है और मैं उनकी आज्ञा की अवहेलना भी नहीं करना चाहता; अतः आपकी शरण में आया हूँ, आप उचित मार्गदर्शन करें।'।

मुनिराज ने अवधिज्ञान से जानकर कहा - "हे कुरुविन्द ! तेरे पिता की मृत्यु का समय आ गया है और उसने नरक आयु का बन्ध कर लिया है, इसकारण उसके परिणामों में क्रूरता-निर्दयता आ गई है, अतः तुम पशु हिंसा के पाप से बचते हुए उपायान्तर से पिता की आज्ञा का पालन करो!"

मुनिराज का इतना मार्गदर्शन पाते ही कुरुविन्द को तत्कालबुद्धि से समझ में आ गया कि क्यों न लाख से बावड़ी के पानी को खून की तरह लाल करा दिया जाय। इससे पिताजी की आज्ञा का पालन भी हो जायेगा और हिंसा भी नहीं होगी। कुरुविन्द ने ऐसा ही किया। इससे अरविन्द बहुत ही हर्षित हुआ; क्योंकि वह उस लाल पानी को सचमुच का रुधिर समझकर उसमें क्रीड़ा करने लगा; परन्तु कुल्ला करते ही उसे मालूम हो गया कि यह कृत्रिम रुधिर है। यह जानते ही वह विवेकहीन राजा अरविन्द रुष्ट हो गया और पुत्र को मारने के लिए दौड़ा; परन्तु दौड़ते हुए इसतरह गिरा कि अपनी ही तलवार से उसका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मर गया और कुमरण कर नरकगति में गया। देखो! एक भी जीव का घात न होने पर भी अपने

परिणामों की क्रूरता से राजा अरविन्द नरक गया। हे राजन यह कथा इस अलका नगरी के लोगों को आजतक याद है। अतः ऐसी रागरूप भावहिंसा से भी बचना चाहिए।”

महाराज महाबल को दूसरी कथा सुनाने के माध्यम से पाठकों को विषय-कषाय त्यागने और सदाचार के फल द्वारा शिक्षा देने हेतु मंत्री स्वयंबुद्ध के मुख से आचार्य कहते हैं कि - “हे राजन आपके इस वंश में एक दण्ड नाम का विद्याधर हो गया है। वह बड़ा प्रतापी था। उसका मणिमाली नामक एक पुत्र था। जब वह बड़ा हुआ तब राजा दण्ड ने उसे युवराज पद पर नियुक्त कर दिया और स्वयं इच्छानुसार भोगों में अत्यधिक तन्मय हो गया। उस विषयासक्त राजा ने आर्तध्यान से तिर्यच गति का बन्ध कर लिया, परिणामस्वरूप वह अपने ही भण्डार में बड़ा भारी अजगर हो गया। उस अजगर को पूर्व भव का जातिस्मरण ज्ञान हो गया, इसकारण वह भंडार में मात्र अपने पूर्व पर्याय के पुत्र को ही प्रवेश करने देता था, अन्य को नहीं।

एक दिन राजा मणिमाली किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराज से पिता के अजगर होने का वृत्तान्त मालूम कर पितृ भक्ति से उनका मोह दूर करने के लिए उस भण्डार में गया, जहाँ अजगर रहता था और धीरे से अजगर के आगे खड़ा होकर स्नेहयुक्त वचन कहने लगा - हे पिता ! आपने पूर्व भव में धन आदि में अत्यन्त ममत्व और विषयों में अत्यन्त आसक्ति की थी। इन्हीं अशुभ भावों से आप इस तिर्यच गति में अजगर की निकृष्ट पर्याय में आकर पड़े हो। यह विषयरूपी जहर अत्यन्त कटुक है, इसलिए धिक्कार योग्य है। हे पिता ! अब भी इस विषय और मोहरूप आमिष को छोड़ दो।

अपने पुत्र के धर्मामृतरूप वचनों का रसपान कर अजगर की पर्याय में राजा दण्ड के जीव का मोहान्धकार नष्ट हो गया। उसके विवेक नेत्र खुल गये। उस अजगर को अपने विगत जीवन में हुए पापों का भारी पश्चात्ताप हुआ। उसने धर्म औषधि ग्रहण कर विषयासक्ति छोड़ दी। उसने संसार से भयभीत होकर आहार-पानी छोड़ दिया। शरीर से भी ममत्व त्याग दिया। उसके प्रभाव से वह आयु के अन्त में शरीर त्यागकर बड़ी ऋद्धि का धारक देव हुआ। उस देव ने अवधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्वभव जाने तथा अपने पुत्र मणिमाली के पास

आकर उसका सत्कार किया तथा उसे प्रकाशमान मणियों से शोभायमान एक हार दिया, जो कि आज भी आपके गले में दिखाई दे रहा है।”

यद्यपि राजादण्ड की यह कथा विषयासक्ति से विरक्त होने का संदेश देती है; किंतु जबतक विषयों में सुखबुद्धि रहेगी तब तक इन्हें छोड़ना कठिन ही नहीं असंभव है। अतः तत्त्वज्ञान के यथार्थ ज्ञान से सर्वप्रथम ‘संयोगों में सुख है ही नहीं’ इस सत्य को समझना आवश्यक है।

स्वयंबुद्ध मंत्री ने तीसरी घटना सुनाते हुए कहा - “हे राजन् महाबल ! मैं आपको सत्य घटना के रूप में एक वृत्तान्त और सुनाना चाहता हूँ। उस वृत्तान्त को जानने व देखनेवाले कितने वृद्ध विद्याधर आज भी विद्यमान हैं। राजा शतबल नाम के आपके दादा हुए हैं। उन्होंने चिरकाल तक राज्यसुख भोगकर अंत में आपके पिताश्री अतिबल को राज्यसत्ता सौंप दी और स्वयं राज्य से एवं राजसुख-सुविधाओं तथा भोगों से निस्पृह हो गये। उन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिए और विशुद्ध परिणामों से देव आयु का बन्ध कर लिया। अन्त में समाधिमरण पूर्वक शरीर छोड़ा। फलस्वरूप कुछ अधिक सात सागर की आयु सहित महेन्द्र स्वर्ग में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक देव हुए। एक दिन आप सुमेरु पर्वत के नन्दनवन में क्रीड़ा करने के लिए मेरे साथ गये थे। वहीं पर वह देव भी आया था। आपको देखकर पूर्व संस्कार के स्नेहवश उसने आपको उपदेश दिया था कि - हे कुमार ! अहिंसामयी यह वीतराग धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इसे तुम कभी नहीं भूलना।”

स्वयंबुद्ध मंत्री ने महाबल राजा को चौथी घटना सुनाते हुए कहा कि - “आपके पिता अतिबल के दादा और आपके परदादा महाराज सहस्रबल थे। अनेक विद्याधर राजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। उन्होंने अपने पुत्र शतबल महाराजा को राज्य देकर मोक्ष प्राप्त करनेवाली उत्कृष्ट जिनदीक्षा ग्रहण की थी। वे मुनि होकर तपश्चरण कर तपरूपी किरणों के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पृथ्वी को तत्त्वज्ञान से आलोकित करते हुए मोक्षपद को प्राप्त हुए।



हे आयुष्मान ! इसीप्रकार आपके पिता ने भी आपके लिए राज्य भार सौंपकर वैराग्यभाव से उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारण कर ली है। हे राजन् ! मैंने धर्म एवं अधर्म का सेवन करनेवाले आपके वंश के व्यक्तियों की ही यथार्थ घटनाओं के रूप में चारों ध्यानों के फलों के चार उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

देखिये राजा अरविन्द दाहाज्वर को दूर करने के हेतु खून में स्नान करने के संकल्प से रौद्र ध्यान के कारण नरक गये। आर्तध्यान के फलस्वरूप राजा दण्ड अपने ही भंडार में अजगर हुए। शतबल धर्मध्यान से स्वर्ग गये और सहस्रबल शुक्लध्यान से मुक्त हुए। इन चार ध्यानों में प्रथम दो ध्यान कुगति के कारण हैं और बाद के दो धर्मध्यान करनेवालों को स्वर्ग के भोग तो सुलभ हैं ही, वे ही कालान्तर में शुक्ल ध्यान की सीढ़ी पर आरोहण कर मुक्तिपद प्राप्त करते हैं। अतः आर्त-रौद्र ध्यान से बचें एवं धर्म-ध्यान करें।”

इसप्रकार स्वयंबुद्ध मंत्री के संबोधन से सम्पूर्ण सभा प्रसन्न हुई। सबको विश्वास हो गया कि जिनेन्द्रप्रणीत तत्त्व ही वास्तविक धर्म है, अन्य मतान्तर धर्म नहीं; बल्कि धर्माभास हैं।

राजा महाबल ने मंत्री स्वयंबुद्ध के द्वारा कहे तत्त्वज्ञान पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करके उसका सत्कार किया। एकबार स्वयंबुद्ध सुमेरु पर्वत पर विराजमान जिनबिम्बों के दर्शनार्थ गया, वहाँ के सौन्दर्य का वर्णन करने में स्वयं को असमर्थ पाता हुआ अवाक् रह गया।

सुमेरु की वंदना करते हुए स्वयंबुद्ध मंत्री ने आकाश में चलनेवाले आदित्यगति और अरिंजय नामक दो मुनि अकस्मात् देखे। वे दोनों ही मुनि युगमन्धर स्वामी के समवसरण रूप सरोवर के प्रमुख हंस थे। स्वयंबुद्ध ने सामने पहुँचकर उनकी पूजा की एवं उनसे अपने मनोरथ पूछे। स्वयंबुद्ध ने पूछा - “मुनिवर! आप भविष्यज्ञ हैं, मुझे यह बताइए कि महाराज महाबल भव्य हैं या अभव्य ?” तब आदित्यगति मुनिराज ने कहा “अरे ! भव्य तो हैं ही, वह तो भावी तीर्थकर भी हैं, इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आगामी युग के प्रारंभ में प्रथम तीर्थकर होंगे।

हे मंत्रीवर! इन राजा महाबल ने पूर्वभव में भोगों की इच्छा के साथ धर्म के बीज बोये थे। ये अपने पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में जयवर्मा नामक राजपुत्र थे। उस भव में श्रीवर्मा इनके छोटे भाई थे। वे प्रजा में अधिक



लोकप्रिय थे। अतः राजा ने उसे राजपाट सौंप दिया। इससे दुःखी होकर बड़ा भाई जयवर्मा दुखी होकर विरक्त हो गया और अपने भाग्य को कोसते हुए स्वयंप्रभ मुनिराज के निकट जाकर तप करने लगा। एकबार विद्याधर की विभूति देखकर उसने ऐसा निदान किया कि मुझे भी आगामी भव में इन विद्याधरों जैसा महान वैभव प्राप्त हो। वह ऐसा विचार कर ही रहा था कि एक भयंकर सर्प ने उसे काट लिया और वह भी निदान पूर्वक मरकर महाबल विद्याधर हुआ है। पूर्व संस्कार के कारण वह अभी तक भोगों में आसक्त रहा है, परन्तु हे मंत्री ! अब तुम्हारा उपदेश पाकर वह शीघ्र ही भोगों से विरक्त होगा।

हे मंत्री! सुनो, आज ही तुम्हारे राजा ने दो स्वप्न देखे हैं; पहले स्वप्न में उसने ऐसा देखा है कि तीन दुष्ट मंत्रियों ने उसे बलात् भारी कीचड़ में फंसा दिया है; परन्तु तुम उसे कीचड़ में से बाहर निकाल रहे हो और सिंहासन पर बिठाकर उसका अभिषेक कर रहे हो। दूसरे स्वप्न में राजा ने अग्नि की तीव्र ज्योति को क्षण-क्षण क्षीण होते देखा है। यह दोनों स्वप्न देखकर वह राजा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। कुछ पूछने से पूर्व ही तुम्हारे मुँह से दोनों स्वप्न और उनका फल सुनकर वह राजा आश्चर्यचकित होगा और वह निस्सन्देह तुम्हारे वचनों को स्वीकार करके जैनधर्म में अतिशय प्रीति करेगा। उसने जो पहला स्वप्न देखा है, वह उसके आगामी भव में प्राप्त होनेवाली स्वर्ग की विभूति का सूचक है और दूसरा स्वप्न सूचित करता है कि अब उसकी आयु एक मास ही शेष है। इसलिए हे भद्र! उसके कल्याणार्थ तुम शीघ्र प्रयत्न करो।”

ऐसा कहकर स्वयंबुद्ध मंत्री को आशीर्वाद देकर वे दोनों मुनिवर आकाशमार्ग से विहार कर गये।

मुनिवरों के वचन सुनकर स्वयंबुद्ध मंत्री शीघ्र ही महाबल राजा के पास आया। राजा स्वप्नों की ही चिन्ता में था, इतने में मंत्री ने उसके दोनों स्वप्न और उसके फल की बात कह सुनाई और जिनधर्म के सेवन का उपदेश दिया कि “हे राजन् जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ धर्म ही समस्त दुःखों की परम्परा का छेदन करनेवाला है, इसलिए उसी में अपनी बुद्धि लगाओ और उसका पालन करो; क्योंकि अब आपकी आयु मात्र एक मास ही शेष है।

राजा महाबल ने अपने मंत्री स्वयंबुद्ध के द्वारा मुनिराज के कहे अनुसार अपने दोनों स्वप्नों का फल जानकर और अपनी आयु एक माह ही शेष जानकर अपना मन धर्म में लगाया। सर्वप्रथम महाबल ने आठ दिन तक अष्टाह्निका महापर्व मनाया। इसके पश्चात् अपने पुत्र अतिबल को अपना राज्य सौंपकर सब प्रकार के सांसारिक बन्धनों को छोड़कर अपने मंत्री स्वयंबुद्ध आदि को लेकर सिद्धकूट चैत्यालय पहुँचा। वहाँ उसने अपने मंत्री स्वयंबुद्ध आदि को लेकर सिद्धकूट चैत्यालय पहुँचा। वहाँ उसने अपने मंत्री स्वयंबुद्ध को निर्यापकाचार्य बनाकर सल्लेखना धारण की। सब जीवों के साथ मैत्रीभाव रखते हुए वह शत्रु, मित्र आदि में समताभाव रखने लगा। सब प्रकार के बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके परिग्रह त्यागी मुनि के समान प्रतीत होने लगा।

संयास मरण के इसतरह सतरह भेद हैं; परन्तु मुख्यतया तीन मरण उत्तम हैं। १. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिणीमरण, ३. प्रायोपगमन। इनका संक्षेप में निरूपण निम्नप्रकार है -

१. **भक्तप्रत्याख्यान** - इस मरण में स्वयं भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरों से भी कराता है। इसप्रकार जो संयास मरण कहा जाता है, उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

२. **इंगिणीमरण** - इसमें अपनी वैयावृत्य स्वयं ही करता है, दूसरों से नहीं कराता। इसप्रकार की प्रतिज्ञा पूर्वक जो मरण किया जाता है, उसे इंगिणीमरण कहते हैं।

३. **प्रायोपगमन** - इसमें अपने पैरों से चलकर एकल विहारी होकर, योग्य स्थान पर आश्रय लेता है एवं न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरों से कराता है।

अर्थात् जिसमें स्वकृत और परकृत दोनों प्रकार के उपचार न हों। इसप्रकार जो मरण करता है, उसे प्रायोपगमन या पादोपगमन भी कहते हैं।

राजा महाबल ने प्रायोपगमन नाम का समाधिमरण करा था। उसने धीरे-धीरे आहार-पानी का त्याग

करके शरीर से स्नेह छोड़ दिया था। इसप्रकार बाईस (२२) दिन तक सल्लेखना का समय व्यतीत करते रहे। जब आयु का अन्तिम समय आया, तब उन्होंने अपना मन विशेषरूप से पंचपरमेष्ठियों की आराधना में लगाया। आत्मा को शरीर से पृथक् चिन्तन करते हुए, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को भाते हुए स्वयंबुद्ध मंत्री के सान्निध्य में समतापूर्वक अपने प्राण (देह) छोड़े। आयु की अवधि पूर्ण होने पर मरण को प्राप्त होकर ऐशान स्वर्ग में ललितांग नामक देव हुआ। यह ललितांग का भव भगवान ऋषभदेव का सातवाँ पूर्व भव था। देवगति के नियोग में प्राप्त होनेवाले नाना सुखों को भोगना ललितांग की मजबूरी थी, अतः पर्यायगत कमजोरी के कारण वह देव पर्याय में प्राप्त दिव्य भोगों की अनुकूलताओं को भोगने लगा। वह एक हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था। एक पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेता था। उसके चार हजार देवियाँ और चार महादेवियाँ थीं। अपने किए हुए पुण्य कर्म के उदय से देवांगनाओं के साथ कुछ अधिक एक सागर तक दिव्य भोग भोगता रहा।

आचार्य कहते हैं कि 'हे भद्र पुरुषो ! यदि तुम संसार दुःखों से बचना चाहते हो तथा ललितांग देव की भांति वर्तमान में स्वर्गों के सुख भोगकर कालान्तर में तीर्थंकर ऋषभदेव की भांति परमात्मपद प्राप्त करना चाहते हो तो वीतराग धर्म के मार्ग में अग्रसर रहो। भोगों की तृष्णा को छोड़कर जिनेन्द्रदेव की भक्तिभावना करते हुए रत्नत्रय की आराधना द्वारा पापों से बचो तथा संयम-तप की साधना करो।

ललितांग देव की सागराधिक आयु भी बातों-बातों में ही बीत गई। जब उसका अन्तिम समय निकट आ गया तो उसके आभूषण की मणियाँ निस्तेज हो गईं। वक्षस्थल पर पड़ी माला फीकी पड़ गई। उसके शरीर की कान्ति भी मन्द पड़ गई।

नरकों के सिवाय संसारी जीव जिस पर्याय में जाता है, उसे छोड़ने में उसे दुःख होता ही है। यही तो राग का स्वरूप है। ललितांग देव यद्यपि मनुष्यपर्याय में आनेवाला था तो भी वह दुःखी हुआ। उसकी दीनता देखकर उसके सेवक भी उदास हो गये। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों पूरे जीवन भर के सुख, दुःख बनकर आ गये हों।

उस सभा में सामानिक जाति के देवों ने आकर उस ललितांग देव का मरण संबंधी विषाद दूर करने के लिए उद्बोधन देते हुए समझाया कि “हे धीर ! संसार में जन्म-मरण आदि किसके नहीं होते ? स्वर्ग से च्युत होना बहुत साधारण बात है; क्योंकि यह स्वर्ग का वैभव तो पुण्य का फल था, जो पुण्य क्षीण होने पर छोड़ना ही पड़ता है। जिस स्वर्ग सुख के लिए अज्ञानी लालायित रहता है, उस स्वर्ग की अवधि समाप्त होते ही वे सब भोग आदि के सुख तीव्र दुःख में परिवर्तित हो जाते हैं; इसलिए हे आर्य ! शोक न कीजिए। तथा अपने उपयोग को धर्म में लगाइये; क्योंकि धर्म ही परम शरण है।”

इसप्रकार सामानिक देवों के द्वारा समझाये जाने पर ललितांग देव ने धैर्य धारण किया। धर्म में बुद्धि लगाई और १५ दिन तक समस्त लोक के जिन चैत्यालयों की पूजा की तथा आयु के अन्त में सावधान होकर चैतन्य वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहाँ निर्भय होकर उच्च स्वर से णमोकार मंत्र का उच्चारण करते हुए अदृश्य हो गया, मृत्यु को प्राप्त हो गया।

वही ललितांग देव ऐशान स्वर्ग से चयकर राजा वज्रबाहू और रानी वसुन्धरा से वज्रजंघ नामक पुत्र हुआ था। यह वज्रजंघ तीर्थंकर ऋषभदेव का ही छटवें पूर्वभव का जीव था। जो पाँच भव बाद आदिनाथ के रूप में अवतरित हुआ।



### भगवान ऋषभदेव का सातवाँ पूर्वभव (राजा वज्रजंघ)

जम्बूद्वीप के पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश में उत्पलखेटक नगर का राजा वज्रवाहू था। उसकी वसुन्धरा नाम की रानी थी। वह ललितांग देव उसी वज्रवाहू के वज्रजंघ नामक पुत्र हुआ। यहाँ वज्रजंघ का समय सुख से व्यतीत हो रहा था।

ललितांग देव का स्वर्ग से वज्रजंघ के रूप में मनुष्य लोक में आने पर स्वयंप्रभा महादेवी उसके वियोग में दुःखी हुई और भोगों में निस्पृह हो गई। आयु पूर्ण होने पर वह महादेवी समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर चक्रवर्ती राजा वज्रदन्त की श्रीमती नाम की पुत्री हुई।

राजा वज्रदंत की पुत्री श्रीमती एक दिन पिता के घर कुंवारी अवस्था में राजभवन में सो रही थी, उसी दिन उससे संबंधित एक घटना घटी, जिसका सीधा संबंध उसके पूर्वभव से था। वह इसप्रकार है -

राजा वज्रदंत के नगर उद्यान में श्री यशोधर मुनि विराजमान थे, उन्हें उसी दिन केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, इसलिए स्वर्ग से देव अपने वैभव के साथ पूजा करने के लिए आये। श्रीमती प्रातःकाल हर्षध्वनि सुनकर जाग उठी। देवों का आगमन देखकर उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपने पूर्वभव के नियोगी ललितांग देव का स्मरण कर वह बार-बार मूर्च्छित हो रही थी। सखियों ने उसे आश्वस्त कर सचेत किया, फिर भी वह नीची गर्दन किए बैठी रही। सखियों ने मूर्च्छा का कारण जानना चाहा; किन्तु श्रीमती ने अपनी मनोभावना प्रगट नहीं की। घबड़ाई हुई सखियों ने श्रीमती के पिता वज्रदन्त से सब समाचार कहे। पिता स्नेहवश पुत्री श्रीमती के पास आये। तब भी वह मूर्च्छितवत् चुपचाप बैठी रही। तब उसके मन के अभिप्राय को जाननेवाले पिता वज्रदन्त ने अपनी रानी लक्ष्मीमति से कहा - “यह तुम्हारी पुत्री पूर्ण यौवन अवस्था

को प्राप्त हो गई है, निश्चय ही इसे अपने पूर्वभव के स्नेही स्वामी का स्मरण हो आया है; क्योंकि रागी जीव प्रायः पूर्व संस्कारों का स्मरण कर मोह में मूर्च्छित हो ही जाते हैं। श्रीमती के मूर्च्छित होने का अन्य कोई कारण नहीं है।” ऐसा कहकर महाराजा वज्रदन्त पण्डिता धाय को श्रीमती की सेवा में नियुक्त कर चले गये। उससमय राजा वज्रदन्त के सामने दो बड़े महत्त्वपूर्ण काम और थे। एक तो अपने गुरु यशोधर को हुए केवलज्ञान की पूजा करना और दूसरा – आयुधशाला में उसीसमय चक्ररत्न उत्पन्न हो गया था, अतः दिग्विजय को निकलना अनिवार्य हो गया था। बुद्धिमान महाराज वज्रदन्त ने सर्वप्रथम केवलज्ञान की पूजा करने का निश्चय किया; क्योंकि अर्हन्त पूजा एक धार्मिक कार्य है और धार्मिक कार्यों को प्राथमिकता देना ही बुद्धिमानी है।

चक्रवर्ती महाराजा वज्रदन्त के इस आदर्श और अनुकरणीय निर्णय से पाठकों को यह शिक्षा मिलती है कि यदि दो महत्त्वपूर्ण कार्य करने के समाचार एक साथ मिलें तो सर्वप्रथम धर्मकार्य ही करना चाहिए।

यशोधर परमात्मा को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते ही चक्रवर्ती वज्रदन्त को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। निस्पृह भाव से की गई भक्ति से ऐसे उत्कृष्ट फल का प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिनेन्द्र भक्ति से ऐसे मनोरथों की पूर्ति होना सहज कार्य है। जैसा कि चक्रवर्ती वज्रदन्त के जीवन में देखा गया। राजा वज्रदन्त ने केवली भगवान यशोधर की पूजा करने के बाद चक्ररत्न की भी पूजा की और अपनी सेना के साथ चारों दिशाओं को जीतने के लिए प्रस्थान करा।

यद्यपि श्रीमती ने भी अपने पूर्वभव की बात जाति स्मरण ज्ञान से जान ली थी, किन्तु संकोच के कारण वह प्रगट नहीं कर रही थी। पण्डिता धाय से विशेष अपनेपन के कारण श्रीमती ने अपने पूर्वभव के स्नेह की पूर्वोक्त कथा पण्डिता धाय को सुना दी।

चक्रवर्ती वज्रदन्त की पुत्री श्रीमती ने अपने उस पूर्वभव का भी परिचय पण्डिता धाय को दे दिया, जिस पूर्वभव में वह दरिद्रता को प्राप्त सेठ नागदत्त के घर सुमति सेठानी के उदर से निर्नामा नाम की दरिद्र कन्या उत्पन्न हुई थी और पिहितास्रव मुनि से अपनी दरिद्रता का कारण और उसके निवारण का उपाय पूछा था।

तब मुनि पिहितास्रव ने श्रीमती को उसके भी पूर्व भव धनश्री की पर्याय में समाधिगुप्त मुनिराज के समीप मरे हुए कुत्ते का दुर्गन्धित कलेवर डालकर मुनि की अवमानना की थी एवं इसी घणित कार्य के कारण ही दरिद्र कुल में यहाँ निर्नामा हुई हो और उस पाप के निवारण करने के लिए दो व्रत धारण करने को कहा था। पहला - जिनेन्द्र गुण सम्पत्तिव्रत और दूसरा - श्रुतज्ञानव्रत। उपर्युक्त दोनों व्रतों का संक्षिप्त सार इसप्रकार है-

(१) जिनेन्द्र गुण सम्पत्तिव्रत - तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति के कारणभूत सोलहकारण भावनायें, पाँच कल्याणक, आठ प्रातिहार्य तथा चौँतीस अतिशय - इन त्रेसठ श्रेष्ठ गुणों के उद्देश्य से त्रेसठ उपवास करना जिनेन्द्रगुण सम्पत्तिव्रत है। इस व्रत में सोलह कारण भावनाओं की सोलह प्रतिपदा, पाँच कल्याणकों की पाँच पंचमी, आठ प्रातिहार्यों की आठ अष्टमी और चौँतीस अतिशयों की बीस दशमी और १४ चतुर्दशी - इसप्रकार कुल ६३ उपवास होते हैं। इन उपवास के दिनों में प्रमाद रहित होकर २४ घंटों में ६ घंटे विश्राम के अतिरिक्त शेष समय का सदुपयोग स्वाध्याय में करना चाहिए; क्योंकि स्वाध्याय ही परमतप है। उपवास का स्वरूप बताते हुए कहा -

‘कषायाविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।

उपवासः सः विज्ञेया, शेषं लंघनकम विदुः॥<sup>१</sup>’

तात्पर्य यह है कि कषायों और पंचेन्द्रिय के विषयों के साथ अन्न का त्याग ही उपवास है। यदि यह नहीं है तो केवल आहार का त्याग तो लंघन ही है।

(२) श्रुतज्ञान व्रत - इस व्रत में पाँचों ज्ञानों के प्रभेदों के क्रमानुसार १५८ उपवास किए जाते हैं। इनका क्रम इसप्रकार है - मतिज्ञान के २८, ग्यारह अंगों के ११, परिकर्म के २, सूत्र के ८८, अनुयोग का १, पूर्व के १४, चूलिका के ५, अवधिज्ञान के ६, मनःपर्ययज्ञान के २ और केवलज्ञान का १ - इसप्रकार पाँचों ज्ञानों के उपर्युक्त भेदों की प्रतीति कर १५८ दिन उपवास किए जाते हैं।

इन सभी उपवासों में उपर्युक्त कषाय-विषय के त्याग के साथ ही आहार के त्याग का नियम लागू होता



है और प्रमादरहित हो स्वाध्याय-सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं में ही हमारा अधिकांश समय व्यतीत होना चाहिए; अन्यथा मात्र अन्नाहार का त्याग करना लंघन के सिवाय कुछ नहीं है।

इन उपवासों को लौकिक कामनाओं के त्यागपूर्वक एवं आगमानुसार विधिपूर्वक करने से स्वर्गादिक की प्राप्ति एवं परम्परा से मुक्ति प्राप्त होना आगम में कहा है।

तब श्रीमती के ही जीव ने जो पूर्व पर्याय में दरिद्र कुल में उत्पन्न निर्नामा थी, उसने मुनिराज के निर्देशानुसार वे व्रत-उपवास विधिपूर्वक किए, फलस्वरूप वह स्वर्ग गई। वहाँ ललितांग देव की स्वयंप्रभा नाम की प्राण प्रिया महादेवी हुई। वहाँ से चयकर वज्रदन्त चक्रवती की श्रीमती नाम की पुत्री हुई।

वह श्रीमती पण्डिता धाय से कहने लगी - “तू ही मेरे होनेवाले पति को खोजने में समर्थ है, मेरे योग्य वर की तलाश करने में सक्षम है। हे सखि ! तू समस्त कार्य करने में निपुण है। इसीकारण तेरा ‘पण्डिता’ नाम सार्थक है।”

पण्डिता धाय ने अपनी युक्तियों से नाना उपायकर श्रीमती के पूर्वभव के पति ललितांगदेव की खोज प्रारंभ की। इधर श्रीमती का पिता वज्रदन्त जो छह खण्ड पर विजय प्राप्त करने निकला था, वह विजयश्री को प्राप्त कर जब लौटा तो उसने मानसिक पीड़ा से पीड़ित पुत्री को बुलाकर कहा - “हे पुत्री! शोक मत कर! मैं अवधिज्ञान से तेरे भावी पति का वृतान्त जानता हूँ। तू प्रसन्न हो और स्नान आदि नित्यकर्म से निबट कर वस्त्राभूषण धारण कर! तेरे भावी पति का समागम आज या कल अवश्य होगा।

यशोधर मुनिराज के केवलज्ञान महोत्सव के समय मुझे अवधिज्ञान हो गया था, उससे मैं कुछ भवों का वृतान्त जानने लगा हूँ। मैं तुझे तेरे भावी पति के पूर्व भवों का वृतान्त सुनाता हूँ।”

अवधिज्ञानी पिताश्री वज्रदन्त के द्वारा श्रीमती ने ललितांगदेव और स्वयंप्रभा के अपने पूर्वभवों को जानकर कहा - “हे तात् ! मुझे भी जातिस्मरण ज्ञान से यह तो स्मरण हो गया है कि मैं ललितांगदेव की महादेवी स्वयंप्रभा थी। मैं तो अब यह जानना चाहती हूँ कि वह ललितांगदेव स्वर्ग से चयकर कहाँ उत्पन्न हुआ है और इससमय कहाँ है ?

तब चक्रवर्ती वज्रदन्त ने कहा - “बेटी ! तुम दोनों इसी क्षेत्र में उत्पन्न हुए हो। पण्डिता धाय आज ही उसके समाचार लायेगी और आज से तीसरे दिन उस राजकुमार से तुम्हारा मिलन हो जायेगा। वह ललितांग देव वज्रजंघ नामक राजकुमार के रूप में तेरी बुआ का ही पुत्र हुआ है और वही तेरा भर्तार होगा। हे पुत्री! बुआ यहीं आ रही है। हम उन्हें लेने ही जा रहे हैं।” ऐसा कहकर राजा गये ही थे कि सखी पण्डिता धाय आ गई।

पण्डिता धाय की प्रसन्नमुद्रा उसके द्वारा किए कार्य की सफलता की सूचक थी। उसने कहा - “मेरे द्वारा जिनमंदिर की चित्रशाला में फैलाये तुम्हारे पूर्वभव के चित्र को अनेक राजकुमारों ने देखा, पर सभी उसके रहस्य को जानने में असफल रहे। अन्ततोगत्वा राजकुमार वज्रजंघ आया और उसने कहा - ‘मुझे यह चित्र चिर-परिचित-सा लगता है।’ और उसने चित्र में चित्रित एक-एक दृश्य के विस्तार से ऐसे गुप्त रहस्य बताये, जिन्हें तुम्हारे पूर्व पति के सिवाय कोई नहीं बता सकता था। मेरे सभी प्रश्नों के उत्तर भी सटीक सही-सही दिए। वह निश्चित ही तुम्हारा पूर्व प्रेमी और वर्तमान चहेता ललितांगदेव का ही जीव है; अतः तुम उदासी छोड़ो और आनन्दित हो जाओ।

वज्रजंघ ने भी पण्डिता धाय को वैसा ही चित्रपट दिया, जिसमें पूर्वपर्याय की सुखद अवस्थाओं के नाना तरह के चित्र चित्रित किए थे। श्रीमती ने भी उस चित्रपट को बड़ी देर तक ध्यान से देखा। उसे देखकर उसे अपने मनोरथपूर्ण होने का विश्वास हो गया; अतः उसने सुख की सांस ली।

जिसप्रकार भव्यजीव अध्यात्म शास्त्रों को देखकर और देवगण नन्दीश्वर द्वीप में विराजित प्रतिमाओं के दर्शन कर हर्षित होते हैं; उसीप्रकार श्रीमती भी उस चित्रपट को पाकर प्रसन्न हुई। पण्डिता धाय ने श्रीमती से कहा- “वह वज्रजंघ तेरे पिता वज्रदन्त चक्रवर्ती का भानजा और तेरे फूफा का पुत्र है। अतः वे भी उसकी योग्यता और महानता से सुपरिचित हैं और तेरे योग्य उसे श्रेष्ठ मानते हैं। अतः तेरा मनोरथ निश्चित ही पूरा होगा।

वज्रदन्त ने अपने बहनोई वज्रवाहु एवं भानजे वज्रजंघ को सपरिवार आमंत्रित किया और उनका खूब

सत्कार किया तथा कहा कि “मेरे घर में यदि तुम्हारे योग्य सर्वप्रियवस्तु हो तो तुम उसे पाने को सहर्ष अपना अभिप्राय प्रगट करो।”

वज्रबाहु ने कहा - “हे राजन् ! आपका दिया हुआ हमारे पास सब कुछ है। आपके शासन में हमें किसी वस्तु की कमी नहीं है। धन, दौलत, सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात और राजपाट आदि सभी भोगोपभोग सामग्री हमारे पास है; अतः हम मांगे भी तो क्या मांगे ? हाँ, यदि उचित समझे तो अपने ही भानजे को अपनी बेटी श्रीमती प्रदान करें। हम उसका हाथ अपने बेटे के लिए माँगते हैं। वज्रजंघ आपकी ही बहिन का बेटा आपका भानजा है, इसकारण आप उसके गुणों से सुपरिचित हैं। इन दोनों के कई भवों से संस्कार होने से ये एक-दूसरे को हृदय से चाहते भी हैं।”

चक्रवर्ती वज्रदंत भी यही चाहते थे कि वज्रबाहु मेरी बेटी का हाथ माँगे। अतः उनके मनोरथ की पूर्ति हो गई। इसकारण उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। चक्रवर्ती वज्रदंत के आदेश को पाकर नगर सजाया गया, शादी की तैयारियाँ हुईं। दोनों पक्ष प्रसन्न तो थे ही। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार दोनों पक्षों द्वारा भारी महोत्सव मनाया गया। वज्रजंघ ने हर्ष के साथ श्रीमती का पाणिग्रहण किया। हर्षोल्लास के साथ दीन-दरिद्रों को धन देकर उनकी दरिद्रता दूर कर दी गई।

समस्त प्रजा उनके भाग्य की सराहना करते हुए कह रही थी कि इन्होंने पूर्व जन्म में ऐसा कौन-सा तप किया, कैसी धर्म की आराधना की, कौन-सा दान दिया ? किसकी पूजा की ? अथवा कौन-सा व्रत पालन किया ? जिससे इनको ऐसे सुन्दर संयोग मिले। अहो ! धर्म की बड़ी महिमा है, तपश्चरण से उत्तम सुख प्राप्त होता है। दया-दान, भक्ति-पूजा आदि से किस मनोरथ की पूर्ति नहीं होती ? सबके सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाला एकमात्र अहिंसामयी वीतराग धर्म ही तो है। जो लौकिक और पारलौकिक सुख चाहते हैं, उन्हें धर्म की आराधना करना ही चाहिए। कहा भी है -

धरम करत संसार सुख, धरम करत निर्वाण । धरम पन्थ साधे बिना, नर तिर्यच समान ॥

विवाहोपरान्त श्रीमती के साथ वज्रजंघ विपुल पूजन सामग्री लेकर जिन मंदिर पहुँचा। जिन प्रतिमा को साक्षात् जिनेन्द्र के रूप में देखते हुए उस दम्पति ने तीन प्रदक्षिणा दीं, प्रमादवश होनेवाली जो जीवहिंसा और मार्ग में चलते समय होनेवाली अशुद्धता को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त एवं ईर्यापथशुद्धि की। पश्चात् धर्म और धर्मायतनों की वन्दना करके जिनेन्द्र पूजन की।

स्तुति करते हुए वज्रजंघ ने प्रभु को संबोधित करते हुए कहा कि - “हे देव! यद्यपि आप वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, फिर भी हितोपदेशी विशेषण से स्मरण किये जाते हैं; आपको हितोपदेश देने की इच्छा न होते हुए भी भव्य जीवों के भाग्य से आपके द्वारा जगत का कल्याण करनेवाली दिव्यध्वनि सहज खिरती है। यह भी तो आपका एक अतिशय है। हे प्रभो ! सचमुच संसार में कोई सुख नहीं है, तभी तो आपने चक्रवर्ती और तीर्थंकर तुल्य भोग और यश का भी त्याग कर एवं आत्मारधना कर परमात्मपद प्राप्त किया है। कहा भी है -

*जो संसार विषैं सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागे ।  
काहे को शिव साधन करते, संयम सो अनुरागे ॥*

हे देव ! वैसे तो जो अनन्त गुण आप में हैं, वैसे ही अनन्त गुणों का धनी मेरा आत्मा भी है; परन्तु आपने स्वभाव सन्मुखता का अनन्त पुरुषार्थ करके उन गुणों की निर्मल अभिव्यक्ति कर ली है और हम पर्यायमूढ़ होकर पर-पदार्थों में अटक कर संसार में ही भटकते रहे हैं। आप जैसे अनन्त तीर्थंकर अनादिकाल से हमें हितोपदेश देकर मुक्त हो गये; फिर भी हम अपने स्वभाव को भूलकर संसार में पड़े दुःख भोग रहे हैं।

हे प्रभो ! अब कुछ-कुछ समझ में आ रहा है कि मैं भी आपकी भांति ही ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, मैं अखण्ड, अविनाशी चैतन्य घन का पिण्ड प्रभु हूँ। यदि मैं अपने इस स्वभाव को पहचान लूँ तो मैं भी पर्याय में प्रगट परमात्मपद प्राप्त कर सकता हूँ।

हे देव ! आपके द्वारा निरूपित तत्त्व, जन्म-मरण के नाश का कारण है। इसी से प्राणियों की इस लोक एवं परलोक संबंधी समस्त कार्यों की सिद्धि होती है। हे देव! समस्त भाषाओं में परिणमित होनेवाली आप

की दिव्यध्वनि पशु-पक्षियों के अज्ञान अंधकार को नष्ट करने में भी समर्थ है।

हे देव! आप के ऊपर लगे छत्र, ढुलते हुए चंवर, अष्ट प्रातिहार्य आदि की शोभा आपके कांतिमय शरीर से सहस्रगुणी हो जाती है।”

इसप्रकार नाना भांति से श्रीमती और वज्रजंघ ने जिनमंदिर में जाकर जिनेन्द्र की पूजन स्तुति की। वज्रजंघ का जीव तीर्थंकर ऋषभदेव के सातवें पूर्वभव का जीव है।

यद्यपि यह वज्रजंघ विवाहोपरान्त सुसराल पक्ष के आग्रह पर दीर्घकाल तक अपनी पत्नी श्रीमती के साथ चक्रवर्ती वज्रदंत के घर पर ही मेहमान के रूप में रहकर नानाप्रकार के मनचाहे भोगों को भोगता रहा; परन्तु उसे उन भोगों से संतोष नहीं हुआ। सो ठीक ही है भोगों से कभी किसी को संतोष नहीं होता। वस्तुतः हम भोगों को नहीं भोगते; बल्कि हमारे बहुमूल्य जीवन को ये भोग ही भोग लेते हैं अर्थात् भोगों का तो कोई अन्त नहीं होता, हमारा ही अन्त हो जाता है।

वज्रजंघ और श्रीमती ने अपने गुणों से समस्त पुरवासियों के मन को जीत लिया था। इसकारण उनकी विदाई पर वज्रदन्त चक्रवर्ती के समस्त पुरवासी अत्यन्त व्याकुल हो उठे। सो यह स्वाभाविक ही है। स्नेहियों की जुदाई से आकुलता तो होती ही है। वज्रजंघ अपनी पत्नी श्रीमती के साथ आगे-आगे और उन्हें लेने आये वज्रजंघ के पिता वज्रबाहु और उनकी पत्नी पीछे-पीछे चल रहे थे। पुरवासी, मंत्री, सेनापति तथा पुरोहित आदि जो भी उन्हें विदाई देने वाले साथ-साथ चल रहे थे, वज्रजंघ ने उन्हें थोड़ी ही दूर से वापिस कर दिया।

हाथी, घोड़े, रथ और पैदल चल रही विशाल सेना का संचालन करता हुआ वज्रजंघ अपने उत्पल खेटक नगर में पहुँचा। उसके स्वागत में नगर खूब सजाया गया था। जब वज्रजंघ प्रिया श्रीमती के साथ नगर की प्रमुख गलियों से महल की ओर जा रहा था। तो नगर की नारियों ने मकानों की छतों पर से आशीर्वाद देते हुए अक्षत एवं पुष्पवर्षा की। नव दम्पति ने राजभवन में प्रवेश किया। महा मनोहर राजभवन सर्व ऋतुओं

के अनुकूल सबप्रकार की सुविधाओं से समृद्ध और सुसज्जित था।

यद्यपि माता-पिता और गुरुजनों के बिछुड़ने से श्रीमती यदा-कदा खिन्न हो जाती थी; परन्तु वज्रजंघ का स्नेह और सास-श्वसुर के आशीर्वाद और लाड़-प्यार से उसकी पीहर की मधुर स्मृतियाँ दिन-प्रतिदिन विस्मृत होती जा रही थीं, धुंधला रही थीं।

वज्रबाहु का वैराग्य : एक दिन वज्रजंघ के पिता महाराज वज्रबाहु महल की छत पर बैठे शरद ऋतु के उठते-विलय होते बादलों को देख रहे थे कि उन्हें वैराग्य हो गया। वे मन में इसप्रकार विचार करने लगे - “जिस सम्पदा पर एवं भोगोपभोगों की सुखद सामग्री पर हम गर्व करते हैं, वह सब इन शरद ऋतु के बादलों की भांति क्षणभर में विलीन होने वाले हैं, नष्ट होनेवाले हैं। यह लक्ष्मी बिजली के समान चंचल एवं क्षणभंगुर है। पुण्योदय से प्राप्त ये भोग जो प्रारंभ में अच्छे लगते हैं, पाप का उदय आने पर ये भारी संताप देते हैं। यह आयु भी अंजुली के जल के समान प्रत्येक पल में क्षीण होती जा रही है। ये रूप, आरोग्यता, ऐश्वर्य, प्रिय बन्धु-बान्धवों एवं प्रिय स्त्री का प्रेम सब क्षणभंगुर है।”

इसप्रकार विचार कर महाराज वज्रबाहु ने अपने पुत्र वज्रजंघ का राज्याभिषेक कर दिया और राज्य तथा भोग सम्पदा का त्याग कर स्वयं ने श्रीयमधर मुनि के समीप ५०० राजाओं के साथ जिनदीक्षा ले ली। इसीसमय श्रीमती से उत्पन्न वज्रजंघ के अट्ठावनवे (९८) पुत्रों ने भी अपने दादा और राजऋषि वज्रबाहु के साथ दीक्षा ले ली। विशुद्ध परिणामों के धारी वज्रजंघ के ९८ पुत्र वीरबाहु आदि मुनियों के साथ वज्रबाहु चिरकाल तक विहार करते रहे और क्रम-क्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये।

वज्रजंघ पिता वज्रबाहु के द्वारा प्रदत्त राज्य को प्राप्त कर प्रजा का पालन करता हुआ चिरकाल तक राज्य सुख भोगता रहा। देखो! संसार की विचित्रता पिता राजभोगी और पुत्र वैरागी।

राजा वज्रजंघ के यद्यपि अनेक रानियाँ थीं; तथापि उसका श्रीमती के प्रति विशेष अनुराग था, इसकारण वह अन्य रानियों के प्रति प्रायः निस्पृह ही रहता था; क्योंकि श्रीमति का जीव वज्रजंघ के पूर्वभव ललितांग देव की प्राणप्रिया स्वयंप्रभा नाम की महादेवी थी। इस पूर्व संस्कार के कारण वह राजा वज्रजंघ श्रीमति

पर विशेष आसक्त था। इसप्रकार वज्रजंघ का समय श्रीमती के साथ बड़े आनन्दपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

एक दिन बड़ी विभूति के धारक तथा अनेक राजाओं से घिरे श्रीमती के पिता और वज्रजंघ के श्वसुर चक्रवर्ती महाराज वज्रदन्त सिंहासन पर सुख से बैठे थे। इतने में ही वनपाल ने एक नवीन खिला हुआ सुगन्धित कमल का फूल महाराज को अर्पित किया। राजा ने उसे सूंघने के लिए नाक के पास लाकर ज्यों ही सूंघना चाहा कि उन्हें उस कमल के फूल में सुगंध का लोभी भौरा मरा हुआ दिखा।

उस मृत भौरै को देख वे संसार के असारभूत सुखों से विरक्त हो गये। वे विचार करने लगे कि “अहो! मदोन्मत्त भ्रमर फूल की सुगंध से आकर्षित होकर यहाँ आया था और रस पीते-पीते ही सूर्यास्त हो गया और यह इसी में बन्द होकर मर गया है। ऐसी विषयों की चाह को धिक्कार है। देखो! विषय सामग्री की तीन अवस्थाएँ होती हैं - दान, भोग और वियोग। जो आज धनाढ्य है, वही कल दरिद्र होते देखा जाता है। संयोग के बाद वियोग होता ही है और सम्पत्ति भी वस्तुतः विपत्ति का ही मूल है।

इसप्रकार चक्रवर्ती वज्रदन्त ने विषय भोगों से विरक्त होकर अपने साम्राज्य का भार अमिततेज पुत्र को देना चाहा; परन्तु वह भी राज्य लेने को तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था -

“जो समझ तुमरी सोइ समझ हमरी, फिर हम नृपति पद क्यों गहें ?”

उसके तैयार न होने पर उन्होंने उसके छोटे भाइयों से कहा; परन्तु वे भी तैयार नहीं हुए।

अमित के छोटे भाई ने कहा - हे पिता! जब आप इस राज्य को छोड़ना चाहते हैं तो मुझे भी नहीं चाहिए। मुझे भी यह राजपाट भारभूत लगता है। हे पूज्य ! मैं भी आप के साथ तपोवन को चलूँगा।

जब किसी भी पुत्र ने राज्यपद स्वीकार नहीं किया, सभी ने साथ में दीक्षा लेने की भावना प्रगट की तो अन्ततोगत्वा चक्रवर्ती वज्रदन्त को अपने राज्य का उत्तरदायित्व अपने पोते, अमिततेज के पुत्र, पुण्डरीक



को सौंपना पड़ा। उस समय वह पुण्डरीक छोटी अवस्था का नावालिग था; किन्तु वही संतान की परिपाटी का पालन करनेवाला था।

राज्य की व्यवस्था कर राजर्षि वज्रदन्त अपने पुत्र-स्त्रियों तथा अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। उनके साथ साठ हजार रानियों ने, एक हजार पुत्रों ने और बीस हजार राजाओं ने दीक्षा ले ली। उसी समय श्रीमती की पण्डिता धाय ने भी अपने अनुरूप दीक्षा धारण की।

वास्तव में पाण्डित्य वही है जो संसार-सागर से पार कर दे। कहते हैं सुख में सागरों की लम्बी उम्र भी कब बीत जाती है इसका पता नहीं चलता। वज्रदन्त की वैराग्य भावना में कहा है - “सुखसागर में मग्न निरन्तर जात न जाने काल।”

चक्रवर्ती वज्रदन्त और पुत्र अमित तेज के मुनि होने पर उनकी पत्नी लक्ष्मीमति और पुत्रवधू को यह चिन्ता हुई कि उनका पोता पुण्डरीक इतने बड़े चक्रवर्ती के साम्राज्य को नहीं संभाल सकेगा। अतः उसने अपने साम्राज्य की सत्ता संभालने के लिए संदेश के साथ अपने बेटी-जमाई श्रीमती और वज्रजंघ के पास पुण्डरीकिणीपुरी के दूत के रूप में विश्वासपात्र व्यक्तियों को भेजा। उसे विश्वास था कि वज्रजंघ इस साम्राज्य को संभाल लेगा और उनके रहते बालक पुण्डरीक को सौंपा यह साम्राज्य निष्कंटक हो जायेगा।

अपने श्वसुर वज्रदन्त चक्रवर्ती और अमिततेज के दीक्षित होने पर पुण्डरीक को सौंपे गये साम्राज्य के संभलाने के लिए सन्देश पाते ही वज्रजंघ ने सेना सहित प्रस्थान कर दिया। मार्ग में जब वज्रजंघ सहित सेना विश्राम हेतु पड़ाव पर यथास्थान ठहर गई तो वहाँ एक घटना घटी, जो इसप्रकार है -

आकाशमार्ग से गमन करनेवाले श्री दमधर नामक मुनिराज सागरसेन मुनिराज के साथ वज्रजंघ के पड़ाव पर पहुँचे। उससमय श्रीमती वहाँ भोजन की तैयारी कर रही थी। संयोग से वन में ही मुनियों ने आहार लेने की प्रतिज्ञा की थी। राजा वज्रजंघ ने उन्हें देखा। दोनों मुनिराजों को वज्रजंघ ने सहर्ष पड़गाहन किया।

पुण्यात्मा वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ बड़ी भक्ति से उन मुनियों को हाथ जोड़कर अर्घ्य दिया और फिर नमस्कार कर भोजनशाला में प्रवेश कराया, उच्चासन दिया, चरणों का प्रक्षालन किया, पूजा की, नवधाभक्तिपूर्वक आहार दिया। फलस्वरूप पंच आश्चर्य हुए। उस वन में सिंह, बन्दर, शूकर और नेवला जैसे पशु भी मुनिराज के आहारदान को देखकर हर्षित हुए और आहारदान की अनुमोदना की। वज्रजंघ को कंचुकी के कहने से मालूम हुआ कि वे दमधर और सागरसेन मुनिराज वज्रजंघ के ही पुत्र हैं।

आहार होने के बाद राजा वज्रजंघ श्रीमती के साथ उन मुनिराजों के पास गये और विनयपूर्वक इन चारों पशुओं के पूर्वभव पूछे। उनमें से दमधर मुनिराज ने उनके पूर्वभव कहे। “हे राजन्! यह सिंह आदि भविष्य में तुम्हारे पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। यह सिंह पूर्वभव में हस्तिनापुर में एक व्यापारी का पुत्र था। तीव्र क्रोध के कारण मर कर सिंह हुआ है। यह शूकर पूर्वभव में एक राजपुत्र था; परन्तु मान कषाय के कारण मर कर शूकर हुआ। यह बन्दर पूर्वभव में वणिक पुत्र था जो तीव्र माया कषाय के कारण मरकर बन्दर हुआ है और यह नेवला एक हलवाई था। यह तीव्र लोभ के कारण मर कर नेवला हुआ है।

कषायों के कारण इनकी यह दुर्गति हुई है; अतः ये कषायें छोड़ने योग्य हैं। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होते तो कषायें उत्पन्न ही नहीं होतीं; अतः सभी को स्वाध्याय का नियम लेकर प्रतिदिन तत्त्वाभ्यास अवश्य करना चाहिए।

इससमय ये चारों सत्पात्र को दिए आहार दान की अनुमोदना कर हर्षित हुए हैं, इससे इन्हें अपने-अपने पूर्व भवों का जाति स्मरण तो हो ही गया है। जातिस्मरण होते ही ये चारों विषय-कषाय एवं सांसारिक भोगों से एकदम विरक्त भी हो गये हैं और निर्भय होकर धर्म श्रवण करने की इच्छा से यहाँ एकदम शान्त होकर बैठे हैं।

हे राजन! तुम दोनों ने आहारदान के फलस्वरूप भोगभूमि का बन्ध किया है और इन सिंहादिक चारों जीवों ने भी तुम्हारे साथ ही भोगभूमि की आयु बांधी है। अब यहाँ से छठवें भव में जब तुम ऋषभदेव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे तब ये चारों जीव भी उसी भव में मोक्ष जायेंगे। मोक्ष तक छहों भवों में भी ये तुम्हारे

साथ ही रहेंगे। यह श्रीमती का जीव भी तुम्हारे तीर्थकाल में दानतीर्थ की प्रवृत्ति चलाने वाले श्रेयांस राजा होंगे और उसी भव में मोक्षप्राप्त करेंगे।”

अपने ही सबसे छोटे पुत्र जो ऐसे उत्कृष्ट मुनिपद के धारक हो गये; उनसे उपर्युक्त भविष्यवाणी सुनकर राजा वज्रजंघ हर्ष से रोमांचित हो गया। श्रीमति रानी, मतिवर आदि मंत्रियों एवं सिंहादिक को भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। तत्पश्चात् वे निस्पृह मुनिवर आकाशमार्ग से अन्यत्र विहार कर गये।

मुनिवरों के विहार कर जाने पर राजा वज्रजंघ ने पूरा दिन सरोवर के किनारे बैठकर उन मुनिवरों को स्मरण किया एवं शेष समय उनकी आत्मसाधना एवं तपश्चरण की चर्चा में ही बिताया। पश्चात् वे प्रयाण करते हुए पुण्डरीकिणीपुरी जा पहुँचे और वहाँ कुछ काल रहकर अपने भतीजे को राजसत्ता संभालने में निपुण करके और राज्य को सुव्यवस्थित करके वापिस उत्पलखेटक नगरी लौट आये।

वज्रजंघ और श्रीमती का बहुत-सा समय भोगविलास में क्षणभर की तरह व्यतीत हो गया। आयु पूर्ण होने का समय निकट आ गया, इसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहा। एक बार वे शयनगृह में सो रहे थे। अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ सुलग रहे थे, अचानक बंद शयनकक्ष में धुंये से उनका दम घुटने लगा और कुछ ही देर में वे मूर्च्छित होकर मर गये।

जिन भोगों को हम सुख के साधन समझते हैं, वे पापभाव होने से आगामी भव में दुःख के कारण तो होते ही हैं; कभी-कभी वर्तमान में भी प्राणघातक बन जाते हैं। वज्रजंघ और श्रीमती की दुःखद मृत्यु का कारण वही जलता सुगन्धित पदार्थ बना, जिसे ०हँ० ०त्र के लिए जलाया था। जिन भोगों से प्राणियों की ऐसी शोचनीय दशा हो जाती है; फिर भी प्राणी उनसे विरक्त क्यों नहीं होते ? यह आश्चर्य है।

## ऋषभदेव का छटवाँ एवं पाँचवाँ पूर्वभव (आर्य एवं श्रीधरदेव)

मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में उत्तर कुरु भोगभूमि है, जो अपनी शोभा से स्वर्ग की शोभा को भी फीका करती है। वहाँ कल्पवृक्षों से ही सब भोग सामग्री उपलब्ध होती है। उत्तम पात्रों को दिए दान के फल में वह भोगभूमि उपलब्ध होती है। वहाँ के जीव चक्रवर्ती से भी अधिक सुखी हैं।

वज्रजंघ और श्रीमती आयु पूर्ण कर ऋषभदेव के छठवें पूर्वभव के रूप में उत्तम पात्रदान के प्रभाव से ऐसी सुखद पुण्यभूमि में आर्य-आर्या हुए। नेवला, सिंह, बंदर और शूकर के जीव भी आहारदान की अनुमोदना के प्रभाव से वहीं दिव्य शरीर पाकर भद्र परिणामी मनुष्य हुए। मतिवर मंत्री, आनंद पुरोहित, धनमित्र सेठ और अकम्पन सेनापति भी वज्रजंघ और श्रीमती की दुःखद मृत्यु से संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये और रत्नत्रय की आराधना करके देवलोक में प्रथम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

भोगभूमि में आर्य दम्पत्ति के रूप में उत्पन्न हुए वज्रजंघ और श्रीमती के जीव एक बार कल्पवृक्षों की शोभा निहार रहे थे। इसी बीच आकाश मार्ग से जाते हुए सूर्यप्रभदेव का विमान देखकर उन दोनों को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसके द्वारा वे अपने पूर्वभव जानकर संसार के क्षणिक, नाशवान और दुःखद स्वरूप का विचार करने लगे। उसीसमय वज्रजंघ के जीव आर्य ने आकाशमार्ग से आते हुए दो मुनियों को देखा। वे ऋद्धिधारी मुनिराज भी उन आर्य दम्पत्ति पर अनुग्रह करके आकाश से नीचे उतरे। उन्हें सन्मुख आते देख आर्य (वज्रजंघ) तुरंत ही खड़े होकर विनयपूर्वक उनका सत्कार करने लगा।

यह स्वाभाविक ही है कि पूर्वजन्म के संस्कार जीवों को हितकार्य में प्रेरित करते हैं। दोनों मुनिवरों के समक्ष खड़े उन आर्य दम्पत्ति ने उन मुनिवरों के चरणों में भक्तिपूर्वक अर्घ्य चढ़ाकर उन्हें नमस्कार किया और

विनयपूर्वक उन्हें उच्चासन पर विराजमान कर पूछा - “हे प्रभो ! आप हमारे परम हितैषी हैं। आपको देखते ही मेरे हृदय में सौहार्द भाव उमड़ रहा है। मुझे ऐसा लगता है कि आप हमारे परिचित हैं। प्रभो ! इसका क्या कारण है ?”

मुनिराज ने उस आर्य दम्पत्ति की इच्छापूर्ण करते हुए कहा - “हे आर्य! मैं उस स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव हूँ, जिसके द्वारा तुमने महाबल के भव में वीतराग धर्म का ज्ञान प्राप्त किया था। उस भव में तुम्हारी मृत्यु के बाद मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली थी और सन्यासपूर्वक देह का त्याग करके सौधर्म स्वर्ग में मणिचुल नामक देव हुआ। तत्पश्चात् विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में प्रीतिकर नामक राजपुत्र हुआ और यह दूसरे मुनि प्रीतिदेव मेरे लघु भ्राता हैं। हम दोनों ने स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समक्ष दीक्षा लेकर तपोबल से अवधिज्ञान व आकाशगामिनी चारणऋद्धि प्राप्त की है।

हे आर्य! हम दोनों ने अवधिज्ञान से यह जाना कि तुम यहाँ भोगभूमि में उत्पन्न हुए हो, पूर्वभव में तुम हमारे परम मित्र थे। इसलिए तुम्हें प्रतिबोधन हेतु हम यहाँ आये हैं। हे भव्य जीवों! तुम मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन के बिना मात्र पात्रदान के प्रभाव से ही यहाँ भोगभूमि में उत्पन्न हुए हो यद्यपि महाबल के भव में तुमने हमसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था; परन्तु उससमय भोगों की आकांक्षा के वश तुम दर्शनविशुद्धि प्राप्त नहीं कर पाये। अब तुम्हें सर्वश्रेष्ठ, स्वर्ग-मोक्ष के द्वाररूप सम्यग्दर्शन प्रगट कराने की मंगलमय भावना से ही हम यहाँ आये हैं। इसलिए हे आर्य! तुम वस्तुस्वरूप को यथार्थ समझ कर परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की और साततत्त्व की यथार्थ श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। अब तुम्हारे सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होने का स्वकाल आ चुका है।” मुनिराज के श्रीमुख से परम अनुग्रह भरे वचन सुनकर आर्य दम्पत्ति अत्यन्त प्रसन्न हुए।

मुनिराज ने आगे कहा - “देशनालब्धि आदि बहिरंग कारण और करणलब्धि रूप अंतरंगकारण द्वारा भव्य जीव दर्शनविशुद्धि प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञकथित छहद्रव्य, साततत्त्व और लोक की अनादिनिधन स्वतंत्र-स्वसंचालित विश्वव्यवस्था समझना और इन पर श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ अंगों द्वारा सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है। वे आठ अंग इसप्रकार हैं -

१. जिनेन्द्रकथित उपर्युक्त वस्तुस्वरूप समझकर उसमें शंका न करना *निःशंकित अंग* है। निःशंकित अंग का धारक व्यक्ति पूर्ण निर्भय होता है, कहा भी है - 'निःशंकः निश्भया ह्येति'।

२. सम्यग्दृष्टि जीव पापों के बीजरूप भोगों की आकांक्षा नहीं करते; धर्माराधना करके उसके फल में भोगों की चाह नहीं करते। वही *निःकांक्षित अंग* है।

३. 'वस्तु कोई भली-बुरी नहीं होती', अतः निर्विचिकित्सा अंगधारी ज्ञानी किसी भी पर-पदार्थ में ग्लानि नहीं करते। पाप के उदय में दुःखदायक संयोगों में उद्वेग रूप न होना तथा विष्टा आदि में ग्लानि न करना समकिति का *निर्विचिकित्सा अंग* है।

४. सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि अमूढ़ होती है, विवेकपूर्ण होती है, उनके देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी मूढ़ता नहीं होती। वे धर्माभास, देवताभास में देवबुद्धि व धर्मबुद्धि नहीं करते। यही समकिति का *अमूढ़दृष्टि अंग* है।

५. *उपगूहन* का दूसरा नाम उपवृहण भी है, जिसका अर्थ है धर्म को बढ़ाना और उपगूहन का अर्थ है दूसरों के दोषों को सार्वजनिक रूप से प्रगट न करना। समकिति इन दोनों बातों का ध्यान रखता है।

६. *स्थितिकरण अंग* के धारक धर्म से भ्रष्ट होते जीवों को पुनः धर्म में स्थापित करते हैं। काम-क्रोध एवं लोभादिक के वश हो धर्म से विचलित होते स्वयं को या दूसरों को विचलित नहीं होने देते। उनका धर्म में स्थितिकरण करना ही इस अंग की विशेषता है।

७. गोवत्स जैसी निःस्वार्थ प्रीति का नाम *वात्सल्य अंग* है। मोक्षसुख के कारणभूत रत्नत्रय में तथा हिंसा रहित जिनप्रणीत धर्म में तथा साधर्मियों में ज्ञानी सदा वात्सल्यभाव रखते हैं।

८. अपने आत्मा का तेज तो रत्नत्रय के प्रताप से प्रगट होता ही है और जिनधर्म की प्रभावना दया - दान-तप-जिनपूजा आदि द्वारा करना भी इस अंग की विशेषता है जो ज्ञानी के जीवन में देखी जाती है। कहा भी है - "आत्मा प्रभावनीय, रत्नत्रय तेजसा शततमेव; दान तपो जिनपूजा, विद्यातिशयेश्च जिनधर्मः। यही *प्रभावना अंग* है।

ऐसे आठ अंगों से सुशोभित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो। हे आर्य! यह सम्यग्दर्शन ही सर्व सुखों का साधन

है। इस संसार में वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही कृतार्थ है, उसी का जीवन धन्य है, जिसके हृदय में निर्दोष समकित सूर्य प्रकाशमान है। यह दुर्गति को रोकनेवाला है, यही स्वर्ग का सोपान और मोक्ष महल का द्वार है। हे भव्य - ऐसे सम्यग्दर्शन को तुम धारण करो।”

इसप्रकार आर्य पुरुष को संबोधन के बाद वे मुनिराज आर्या से बोले - “हे माता! तुम संसार समुद्र से पार होने के लिए सम्यग्दर्शन रूप नौका को ग्रहण करो। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव पराधीन स्त्री पर्याय में जन्म नहीं लेता। नीचे के छह नरकों में नहीं जाता। भवनवासी, व्यन्तर आदि नीचे देवों में उत्पन्न नहीं होता। तुम दोनों पाँच भवों को धारण करके ध्यानाग्नि में कर्मों को भस्म करके सिद्धपद प्राप्त करोगे। लोक में १. सज्जाति, २. सद्गृहस्थता (श्रावक के व्रत), ३. पारिव्रज्य (मुनियों के व्रत), ४. सुरेन्द्र पद, ५. राज्यपद, ६. अरहंत पद, ७. सिद्धपद - ये सात परमस्थान हैं, उत्कृष्ट स्थान हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परम स्थानों को प्राप्त होता है। आप लोग कुछ पुण्य भवों को धारण कर ध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्मों को भस्म कर परमपद प्राप्त करोगे।

इसप्रकार प्रीतंकर आचार्य के वचनों को सुनकर आर्य (वज्रजंघ) ने अपनी स्त्री के साथ-साथ सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

वह वज्रजंघ जन्मान्तर संबंधी प्रेम से प्रीतंकर मुनि के चरणों को आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। मुनिराज आशीर्वाद देकर चले गये।

आर्य और आर्या दोनों ने प्रीतंकर के उपदेश से प्रेरणा प्राप्त कर समस्त कर्तृत्वबुद्धि के भार को भाड़ में झोंककर अन्तर्मुख होकर अपने परमात्मतत्त्व का अवलोकन किया। राग-रंग एवं भेद से भी पार होकर अभेद-एक-अखण्ड परमात्मतत्त्व का अवलोकन किया और अभेद एक-अखण्ड परमात्मतत्त्व के शान्तरसमय ज्ञानधारा का वेदन किया। क्षण भर को उनका उपयोग सर्वविकल्पों से हटकर आत्मा में ही स्थिर हो गया। इसप्रकार वे आर्य दम्पति अत्यन्त तृप्त हुए। ठीक ही है - अपूर्व वस्तु का लाभ प्राणियों को संतोष का कारण होता ही है।



इसप्रकार ऋषभदेव के जीव ने भोगभूमि में अपने छठवें पूर्वभव में आर्य की पर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त किया। आर्य साधुजनों से कृतार्थ होकर कहने लगा - “अहा! कैसा आश्चर्य है कि साधु पुरुषों का क्षण भर का समागम हृदय के संताप को दूर कर देता है। महापुरुषों का यह स्वभाव ही है कि वे मात्र अनुग्रह बुद्धि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। अहा! यह मेरा धन्यभाग्य है कि मुनिवर भगवन्त मुझ पर अनुग्रह करके यहाँ पधारे। कहाँ वे निस्पृह साधु और कहाँ हम साधारण भोगभूमिया जीव। तप से जिनका शरीर कृश हो गया है - ऐसे वे दोनों तेजस्वी मुनि मानो अब भी मेरी दृष्टि के समक्ष खड़े हैं और मैं उनके चरण छू रहा हूँ और वे मुझे आशीर्वाद दे रहे हैं। उन मुनिवरों ने मुझे धर्माभूत का रसपान कराया है, जिससे मेरा मन पूर्ण संतापरहित और प्रसन्न हो रहा है।”

भगवान ऋषभदेव का जीव आर्य उन प्रीतिकर मुनिराज के उपकार का पुनः-पुनः स्मरण करते हुए कहता है - “वे प्रीतिकर मुनिराज वास्तव में प्रीतिकर हैं, इसीलिए तो उन्होंने दूर देशान्तर से आकर और तत्त्वोपदेश देकर अपार प्रीति प्रदर्शित की है। वे मेरे महाबल के पूर्व भव में भी मेरे गुरुदेव थे। उनके चरणों में हमारी भक्ति बनी रहे। जिसप्रकार जहाज के बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है, उसीप्रकार गुरु के उपदेश बिना संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता। श्रीगुरु के उपदेश से ही हम लोगों को विशुद्धि प्राप्त हुई है, अतः हम चाहते हैं कि जन्म-जन्मान्तरों में हमारी भक्ति गुरु के चरणों में बनी रहे।”

इसप्रकार गुरुदेव के उपकार का चिन्तन करते-करते आर्यदम्पति की सम्यक्त्व भावना अत्यन्त दृढ़ हो गई। मुनिपुंगव प्रीतिकर की देशना से सम्यक्त्व प्राप्त कर उन दोनों आर्य दम्पति ने भोगभूमि की आयु पूर्ण होने पर प्राण त्याग दिए और वे दोनों ईशान स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

‘शलाका पुरुष’ के चरित्र नायक तीर्थकर ऋषभदेव के छठवें पूर्वभव का जीव ‘आर्य’ अपनी भोगभूमि की आयु पूर्ण करके पाँचवें पूर्वभव में ईशान स्वर्ग में श्रीधर नामक देव हुआ और आर्या का जीव भी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से अपनी स्त्री पर्याय छेदकर उसी ईशान स्वर्ग में स्वयंप्रभ नामक देव हुआ। सिंह,

नेवला, बन्दर और शूकर – ये चारों प्राणी भोगभूमि की आयु पूर्ण करके उसी ईशान स्वर्ग में महान ऋद्धि धारक देव हुए। ये चारों जीव अगले भवों में ऋषभदेव के साथ ही रहेंगे और उनके पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे, बंदर का जीव उनका पुत्र होकर गणधर होगा।

महान ऋद्धिधारी श्रीधर देव अपने विमान में जिनपूजा, तीर्थकरों के कल्याणक आदि अनेक उत्सव मनाता हुआ प्रसन्नचित्त से धर्मसाधना करता था।

एक दिन श्रीधर देव को अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि “हमारे गुरु प्रीतिकर मुनिराज इससमय विदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। अहो! भोगभूमि में आकर हमें सम्यक्त्व प्राप्त करानेवाले प्रीतिकर मुनिराज हमारे महान उपकारी हैं, उन्हें आज केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। वे सर्वज्ञ हो गये हैं। धन्य हुआ उनका मानवजीवन! हम भी आत्मसाधना पूर्ण करके उन जैसे परमात्मा बन सकते हैं; परन्तु हमारा वह दिन कब आयेगा, हम केवलज्ञान कब प्राप्त करेंगे?” इसप्रकार श्रीधर देव ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा सामग्री लेकर स्वर्ग से आकर प्रीतिकर केवली के चरणों में नमन किया और उनसे पूछा – “महाबल के भव में मेरे चार मंत्री थे उनमें एक तो आप स्वयंबुद्ध मंत्री थे, जो सम्यग्दृष्टि थे और आपने मुझे जैनधर्म का तत्त्वज्ञान कराया था। अन्य तीनों मंत्री एकान्ती थे। वे इस समय कहाँ हैं?”

सर्वज्ञदेव प्रीतिकर की दिव्यध्वनि में आया – “हे भव्य! वे तीनों कुमरण कर दुर्गति को प्राप्त हुए हैं। उनमें महामति और सभिन्नमति तो मिथ्यामान्यता के पोषण करने के कारण निगोद में हैं, जहाँ वे अतिप्रगाढ़ अंधकार से घिरे हैं और उबलते हुए पानी में उठते बुलबुलों की भांति अनेक बार जन्म-मरण कर रहे हैं।

हे भव्य! शतमति मंत्री का जीव धर्म की तीव्र विराधना के कारण दूसरे नरक में दुःख भोग रहा है।”

यह निर्विवादरूप से सत्य है कि धर्म से सुख की प्राप्ति होती है और अधर्म सेवन से दुःख मिलता है; इसलिए बुद्धिमान जीव पाप बुद्धि और मिथ्यामान्यताओं को छोड़कर वीतरागधर्म में तत्पर होते हैं। पाप का फल अत्यन्त कटु होता है। नरक में पड़े जीव को एक पल की भी शान्ति नहीं मिलती।

जो व्यक्ति पाँचों पापों में संलग्न है, शराब पीता है, धर्म के सही स्वरूप को न पहिचानकर मिथ्यामार्ग पर चलता है, क्रूर है, मांसाहारी है, रौद्रध्यानी है अर्थात् विषयों का सेवन करके एवं पाप कार्यों को करके प्रसन्न होता है, अति आरंभ करता और परीग्रह संग्रह में तत्पर रहता है - वह नियम से नरक गति में जाकर दिन-रात असह्य दुःख का वेदन करता है।

नरक सात हैं, जो एक के नीचे एक हैं। असंज्ञी (बिना मन वाले) जीव प्रथम 'रत्नप्रभा' नरक में जाते हैं। पेट से सरकने वाले, गोह आदि दूसरे 'शर्कराप्रभा' नरक तक जाते हैं, पक्षी तीसरे 'बालुकाप्रभा' नरक तक जाते हैं। सर्प चौथे 'पंक' नरक तक जाते हैं, सिंह पाँचवें 'धूमप्रभा' नरक तक जाते हैं। स्त्री (नारी) छठवें 'तमप्रभा' तक और तीव्र पापी मनुष्य तथा मत्स्य (मच्छ) सातवें 'महातमप्रभा' तक जाते हैं। तीव्र पापोदय से उन नरकों में जाते ही अन्तर्मुहूर्त में दुर्गन्धित, घृणित, कुरूप और बेड़ौल आकार का शरीर प्राप्त हो जाता है। नरकों का कथन करते हुए जिनवाणी में कहा गया है कि -

“तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छू सहस्र डसे नहीं तिसो ।  
तहाँ राध श्रोणित वाहिनी, कृमि कुल कलित देह दाहिनी ॥९॥  
सेमर तरु दलजुत असिपत्र, असि ज्यों देह विदारें तत्र ।  
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥१०॥  
तिल-तिल करें देह के खण्ड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचण्ड ।  
सिन्धुनीर तें प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ॥११॥  
तीन लोक कौ नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय ।  
ये दुःख बहु सागर लों सहै, करम जौग तें नरगति लहै ॥१२॥”

प्रथम चार नरकों में उष्ण वेदना है, पाँचवें नरक में उष्ण और शीत दोनों हैं। ऊपर के दो लाख बिलों में उष्ण, नीचे के एक लाख बिल में शीत वेदना है। छटवीं व सातवीं पृथ्वी में शीत वेदना की पराकाष्ठा है।

शतमति मंत्री का जीव धर्म की निंदा के फल में जो दुःख भोग रहा है, उस नारकी के दुःखों की चर्चा करते हुए प्रीतिकर केवली कहते हैं - “वे नारकी पूर्व वैर का स्मरण कर-कर के परस्पर लड़ते हैं, परस्पर एक-दूसरे को कोल्हू में पेल देते हैं, खौलते तेल से भरी कढ़ाई में डाल देते हैं। जो मांसाहारी हैं, उनका मांस काट-काटकर खा जाते हैं। जो परस्त्रीरत थे, उन्हें लोहे की धधकती पुतलियों से आलिंगन कराते हैं। जिसके स्पर्श मात्र से शरीर सुलग उठते हैं, आँखें फट जाती है, नारकी मूर्च्छित होकर धरती पर लुढ़क जाते हैं। असुरकुमार जाति के देव तीसरे नरक तक आकर उन नारकियों को परस्पर भिड़ाते हैं, लड़ाते हैं।

अरे ! पापी जीव नरकों में पाप के फल में और अधर्म का सेवन करने के फल में, ऐसी घोरातिघोर पीड़ा भोगते हैं। इसप्रकार नरकों की भयंकर वेदना से भयभीत नारकियों के मन में ऐसा विचार आता है कि - ये सब दुःखद संयोग मेरे ही पापों का फल है। एक बार इनसे छुटकारा मिलने पर मैं पुनः ऐसी भूल नहीं करूँगा। परन्तु उनके ये संकल्प, ये वायदे, ये विचार - कुत्ते की मार की तरह अत्यन्त क्षणिक होते हैं। ऐसे विचार नारकियों ने एक-दो बार नहीं अनादिकाल से अबतक अनंत बार किये होंगे; किन्तु वहाँ से निकलते ही वे नारकी पुनः वैसी ही पाप प्रवृत्तियों में पड़ जाते हैं। खेद है कि ये जीव ऐसे दुःखों से क्यों नहीं डरते ? पुनः पुनः वही भूलें क्यों दुहराते हैं।

इन असहा दुःखों से बचने का समकित ही एकमात्र उपाय है। इसीलिए कहा है कि -

“लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ।  
तोरि सकल जग दंद फंद निज आतम ध्याओ ॥”

प्रीतिकर केवली की दिव्यध्वनि द्वारा प्रसारित हुआ कि “हे श्रीधरदेव! तुम भावी तीर्थकर हो। यह नरक में पड़ा हुआ शतमति मंत्री का जीव तुम्हारे उपदेश के निमित्त से वीतराग धर्म को प्राप्त करेगा।”

श्री प्रीतिकर केवली के श्रीमुख से जैनधर्म की महिमा सुनकर श्रीधरदेव प्रसन्नचित्त हो कहने लगा - “हे प्रभो! आप महान उपकारी हैं। आप जैसे गुरुओं का संग जीवों को परम हितकर है।” इसप्रकार प्रीतिकर केवली के दर्शन और स्तुति कर पूर्व स्नेह वश श्रीधरदेव दूसरे नरक गया और शतमति नारकी के जीव को

संबोधित कर कहा - “हे शतमति! क्या तुम्हें राजा महाबल का स्मरण आता है। मैं वही महाबल का जीव श्रीधरदेव हूँ, इससमय तुझे प्रतिबोध देने स्वर्ग से आया हूँ। शतमति के भव में तूने महामिथ्यात्व का सेवन किया था। देख ! उसी मिथ्यात्वभाव का फल यह दुर्दान्त दुःख तेरे सामने है। इन घोर दुःखों से बचने के लिए हे भव्य ! अब तू मिथ्यामान्यता को छोड़ और सत्यधर्म अंगीकार कर ! अपने अनादि-अनन्त एवं अनन्तगुणमय और चैतन्यमय आत्मतत्त्व को देख !”

श्रीधरदेव के उपदेश से उस शतमति के जीव ने अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर मिथ्यात्व मल को धो डाला तथा श्रीधर का उपकार मानते हुए उसने कहा - “अहो! आपने नरक में आकर मुझे सत्यधर्म प्राप्त कराया - यह आपका महान उपकार है।”

कालान्तर में वह शतमति का जीव नरक से निकल कर पूर्वविदेह में महीधर चक्रवर्ती राजा का जयसेन नामक पुत्र हुआ। जयसेन के विवाहोत्सव के समय श्रीधर देव ने पुनः आकर संबोधित किया और उसे नरकों के दुःखों का स्मरण दिलाया। जयसेन को अपने पूर्वभव के नरकों के दुःखों का स्मरण आते ही वह संसार के भोगों से विरक्त हो गया और उसने यमधर मुनि के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। कठिन तपस्या करते हुए समाधिपूर्वक देह त्यागकर वह शतमति का जीव ब्रह्मस्वर्ग में देव हुआ।

देखो! मिथ्यात्व और हिंसादि पापों के कारण कहाँ तो नारकी और कहाँ सम्यक्त्व के कारण इन्द्रपद? जीव अपने परिणामों और श्रद्धा के अनुसार ही विचित्रफल प्राप्त करता है। इसलिए उच्चपद के अभिलाषी जीवों को सदैव अहिंसक आचरण के साथ आत्मधर्म की आराधना करना चाहिए।

तीर्थकर ऋषभदेव का जीव श्रीधर देव की आयु पूर्ण होने पर अगले भव में विदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और मुनि होकर स्वर्ग जायेगा। तत्पश्चात् विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकणी नगरी में तीर्थकर का पुत्र होगा और वहाँ पहले चक्रवर्ती होकर फिर मुनि दीक्षा लेकर तीर्थकर प्रकृति को बांधेंगे। वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में जायेंगे। तत्पश्चात् अन्तिम दसवें भव में इस वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव होंगे।



### ऋषभदेव का चौथा एवं तीसरा पूर्वभव (राजा सुविध और अच्युतेन्द्र)

तीर्थकर ऋषभदेव अपने चतुर्थ पूर्व भव में स्वर्ग से च्युत होकर जम्बूद्वीप संबंधी पूर्व विदेह क्षेत्र में सुसीमा नगर में सुदृष्टि राजा की सुन्दरनन्दा रानी से सुविध नाम के पुत्र हुए। सुविध का चित्त निरन्तर ही आत्मकथा में अनुरक्त रहता था। राजकुमार सुविध ने अपने यौवन में ही काम-क्रोधादि के उद्रेक पर विजय प्राप्त कर ली थी। ठीक ही है - धर्मारथक जीव के लिए काम-क्रोधादि पर विजय पाना कुछ कठिन काम नहीं है। सुविधकुमार का विवाह उनके मामा अभयघोष चक्रवर्ती की पुत्री मनोरमा के साथ हुआ था, उनके एक केशव नाम का पुत्र हुआ। राजा वज्रजंघ की पर्याय में जो उसकी पत्नी श्रीमति थी, वही जीव स्वर्ग में स्वयंप्रभ देव हुआ था, फिर वही जीव यहाँ सुविधकुमार का पुत्र हुआ। इस पूर्व संस्कार के कारण सुविधकुमार का पुत्र पर विशेष स्नेह था।

सिंह, नेवला, बन्दर और सूकर - ये चारों जीव भोगभूमि में एकसाथ उत्पन्न होकर सम्यक्त्व को प्राप्त हुए थे। पश्चात् ईशान स्वर्ग में भी साथ रहे वे वहाँ से चयकर इसी देश में ही सुविधकुमार के समान विभूति के धारक राजपुत्र थे। उन चारों में सिंह का जीव वरदत्त, सूकर का जीव वरसेन, वानर का जीव चित्रांगद और नेवले का जीव प्रशान्तमदन थे। उन चारों राजकुमारों ने दीर्घकाल तक राजवैभव का उपभोग किया। राजवैभव के बीच रहने पर भी वे अपने चैतन्य वैभव को नहीं भूले। आत्मा की प्रतीति उनको सदैव वर्तती थी। एक बार वे चारों राजपुत्र चक्रवर्ती अभयघोष के साथ विमलवाहन जिनदेव की वन्दना को गये। वहाँ उन्होंने वन्दना कर प्रभु का दिव्य संदेश सुना, उसे सुनते ही वे चैतन्य रस में निमग्न हो गये। इतना ही नहीं, उन्होंने संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा भी धारण कर ली। चक्रवर्ती के साथ अन्य अठारह हजार राजाओं

और चक्रवर्ती के पाँच हजार पुत्रों ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। वे सब मुनिवर संवेग-निर्वेद रूप परिणामों द्वारा मोक्षमार्ग की साधना करते थे।

प्रश्न - इन संवेग-निर्वेद शब्दों का क्या अर्थ है और इन शब्दों का यहाँ किन परिणामों के अर्थ में प्रयोग हुआ है ?

उत्तर - रत्नत्रय धर्म में तथा उसके फल में प्राप्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति में उत्कृष्ट प्रतीति करके उत्साहपूर्वक रत्नत्रय की साधना-आराधना करना संवेग है तथा संसार, शरीर और भोग के प्रति अतिशय विरक्त परिणाम निर्वेद है।

ऐसे संवेग-निर्वेद परिणामों से वे मुनि मुक्ति की साधना करने लगे। भगवान ऋषभदेव का जीव जो चतुर्थ पूर्वभव में सुविध राजा हुआ, उसके पूर्वभव के साथी तो इसप्रकार मुनि हो गये, परन्तु राजा सुविध अपने पुत्र प्रेम के कारण दीक्षा धारण नहीं कर सका था; क्योंकि केशव के प्रति उसे अतिस्नेह था, इसकारण वह मुनिपने की भावना रखकर श्रावक के उत्कृष्ट धर्म का पालन करने लगा; और उसने देशव्रत ले लिए।

गृहस्थधर्म में सम्यक्त्व के अतिरिक्त देशव्रत के रूप में ग्यारह प्रतिमायें होती हैं अर्थात् देशव्रत पालन करने के ग्यारह स्थान होते हैं। प्रतिमा का स्वरूप इसप्रकार है -

संयम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।

उदय प्रतिज्ञा कौ भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥

प्रतिमा के स्वरूप में निम्नांकित तीन बातें आवश्यक हैं - १. देशसंयम होना, २. भोगोपभोगों से अरुचि होना और ३. प्रतिज्ञापूर्वक संयम ग्रहण करना। ये ग्यारह प्रतिमायें इसप्रकार हैं -

(१) दर्शन प्रतिमा -

आठ मूलगुण संग्रहे, कुव्यसन क्रिया न कोड़।

दर्शन गुण निर्मल करै, दर्शन प्रतिमा सोड़ ॥



अन्तर्मुख शुद्ध परिणतिपूर्वक कषाय मन्दता से अष्ट मूलगुण धारण एवं सप्त व्यसनों के त्यागरूप भावों का सहज होना ही दर्शन प्रतिमा है। मद्य मांस मधु एवं पाँच उदम्बर फलों का त्याग अथवा पाँच पापों का स्थूल त्याग अष्टमूलगुण है। प्रथम प्रतिमा में श्रावक इन अष्ट मूलगुणों का निर्दोषरूप से आचरण करता है।

जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान करना, वैश्या गमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री रमणता - ये सात व्यसन हैं। प्रथम प्रतिमा में इनका प्रतिज्ञापूर्वक त्याग होता है।

आत्मा की पंचम गुणस्थान योग्य शुद्ध परिणति निश्चय दर्शन प्रतिमा है। इसके साथ बिना हठ के सहज व्यसनादि का त्याग होना व्यवहार दर्शन प्रतिमा है। वर्तमान प्रतिमा में अभ्यासरूप से अगली प्रतिमा का भी आंशिक पालन होता है।

(२) व्रत प्रतिमा -

पाँच अनुव्रत आदरै, तीन गुण व्रत पाल।

शिक्षाव्रत चारों धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल ॥

पहली प्रतिमा में प्राप्त वीतरागता एवं शुद्धि को दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक बढ़ाता रहता है। इस दूसरी प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति निश्चय प्रतिमा है तथा बारह व्रतों का प्रतिज्ञापूर्वक निरतिचार (निर्दोष) पालन करना व्यवहार व्रत प्रतिमा है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का परिमाण करना अणुव्रत है तथा दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत - इन तीन की मर्यादा लेना गुणव्रत है और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व्रत और अतिथि संविभाग व्रत - ये चार शिक्षाव्रत हैं। प्रतिज्ञापूर्वक इन १२ व्रतों का पालन करना दूसरी प्रतिमा है।

(३) सामायिक प्रतिमा -

द्रव्य भावगत संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।

तज ममता समता गहे, अन्तर्मुहूर्त एक ॥

जो अरि-मित्र समान विचारै, आरत-रौद्र कुध्यान निवारै।

संयम सहित भावना भावै, सो सामायिक व्रत कहावै ॥

जो दिन में तीन बार एक-एक अन्तर्मुहूर्त तक प्रतिज्ञापूर्वक सर्व सावद्य योग का त्याग कर द्रव्य-भाव सहित अपने ज्ञायक स्वभाव के आश्रयपूर्वक ममता को त्यागकर समता धारण करे, शत्रु-मित्र को समान विचारे आर्त-रौद्र ध्यान का अभाव करे, अपने परिणामों का आत्मा में संयमन करे; उसे तीसरी सामायिक प्रतिमा होती है। मात्र अन्तर्मुहूर्त तक एकान्त में बैठ सामायिक पाठ आदि पढ़ लेने से सामायिक प्रतिमा नहीं होती। अतः उपर्युक्त परिभाषा को लक्ष्य में लेकर बिना हठ के सहजरूप से सामायिक होना ही सच्ची सामायिक प्रतिमा है।

(४) प्रोषध प्रतिमा - प्रथमहि सामायिक दशा, चार पहर सौं होय ।  
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय ॥

जब चार प्रहर तक अर्थात् १२ घंटे बिना अन्न जल ग्रहण किए सामायिक की दशा रहे अथवा विशेष में २४ घंटे तक रहे, उसको प्रोषध प्रतिमा कहते हैं। यह प्रक्रिया माह में चार बार प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशी को होती है।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा - जो सचित्त भोजन तजै, पीवे प्रासुक नीर ।  
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञा गीर ॥

शरीर की आवश्यकता पूर्ति हेतु भोजन लेना तो आवश्यक है। भोजन लेने का भाव भी आता है, किन्तु सचित्त भोजन नहीं लेते, सचित्त भोजन लेने का भाव भी नहीं आता। अतः इस प्रतिमावाले प्रतिज्ञापूर्वक सचित्त का त्याग कर देते हैं। पानी भी गर्म किया हुआ काम में लेते हैं। इस प्रतिमा में श्रावक की जो आन्तरिक शुद्धि एवं आत्मस्थिरता होती है, वह निश्चय प्रतिमा है और सचित्त भोजन-पानी का त्याग व्यवहार प्रतिमा है। अंकुरित बीज, अन्न एवं हरी वनस्पतियों को सचित्त कहते हैं।

(६) दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा - जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै, तिथि आये निशि-दिवस संभालै ।  
गहि नव बाढ़ करै व्रत रक्षा, सो षट् प्रतिमा श्रावक दक्षा ॥

साधक जीव ने दूसरी व्रत प्रतिमा में स्वस्त्री संतोषव्रत लिया था, अब इस छठवीं प्रतिमा में कुछ विशेष विशुद्ध परिणाम हुआ। अतः उसकी भोगों में आसक्ति घट गई। इसकारण इस प्रतिमा का धारी श्रावक नव बाढ़ सहित सदैव दिन में एवं अष्टमी चतुर्दशी को रात्रि में भी ब्रह्मचर्य से रहता है। इस प्रतिमा में रात्रिभोजन करने/कराने का सर्वथा त्याग हो जाता है, अतः इसका दूसरानाम रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा भी है।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा - जो नव बाढ़ सहित विध साधै, निश्चय ब्रह्मचर्य आराधै।  
सो सप्तम प्रतिमा धर ज्ञाता, शील शिरोमणि जगत विख्याता ॥

सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक की स्वरूपानन्द में विशेष लीनता बढ़ जाने से विषयासक्ति क्रमशः कम होती जाती है। अतः सदा के लिए नव बाढ़ सहित ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन होना इस प्रतिमा की मर्यादा है। साधक इस भूमिका में स्पर्शन इन्द्रिय संबंधी स्वस्त्री के भोग का भी त्यागी हो जाता है।

प्रश्न : छठवीं-सातवीं प्रतिमा के छन्दों में 'नवबाढ़' शब्द आये हैं, वे नवबाढ़ें कौन-कौन-सी हैं ?

उत्तर : १. परस्त्रियों के समागम में अधिक देर एकान्त में न रहना। २. परस्त्रियों को रागभरी दृष्टि से न देखना। ३. परस्त्रियों से परोक्ष में गुप्त पत्राचार और फोन आदि पर वार्ता न करना। ४. पूर्व में भोगे भोगों को स्मरण नहीं करना। ५. कामोत्तेजक गरिष्ठ भोजन नहीं करना। ६. कामोत्तेजक श्रृंगार नहीं करना। ७. परस्त्रियों के आसन, पलंग आदि पर नहीं बैठना न सोना। ८. कामोत्तेजक कथा गीत आदि नहीं सुनना। ९. भूख से अधिक भोजन नहीं करना।

८. आरंभ त्याग प्रतिमा - जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारंभ।  
सो अष्टम प्रतिमा धनी कुगति विजय रण थंभ ॥

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि और गृहारंभ में चक्की, चौका, चूल्हे आदि में होने वाले पापारंभ के विकल्पों एवं तत्संबंधी व्यापार का त्याग करना आरंभत्याग प्रतिमा है।

९. परिग्रहत्याग प्रतिमा - जो दसधा परिग्रह का त्यागी सुख संतोष सहित वैरागी।  
समरस संचित किंचित् ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमा धारी ॥

कषाय मंद हो जाने से अति आवश्यक सीमित वस्तुएँ रखकर बाकी सभी क्षेत्र, वास्तु, सुवर्ण, हिरण्य, धन-धान्य, दासी-दास आदि चेतन और अचेतन दस प्रकार के परिग्रह का एकदेश त्याग करने का शुभभाव परिग्रह त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक, सुखी, संतोषी और वैरागी होता है।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा - पर को पापारंभ का, जो न देय उपदेश।  
सो दसभी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत कलेश ॥

अपने कुटुम्बी जनों को एवं हितैषियों को भी व्यापार एवं शादी-विवाह आदि के संबंध में अनुमति देने का भाव न आकर अपने उपयोग को स्वभावसन्मुख रखना निश्चय अनुमति त्याग प्रतिमा है तथा उपर्युक्त विषयों में अपनी अनुमति देने का त्याग करना व्यवहार अनुमति त्याग प्रतिमा है।

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा - जो स्वतंत्र विहरै तज डेरा, मठ मण्डप में करै बसेरा।  
अनुद्दिष्ट आहरी प्रासुकपंथ विहारी, सो एकादश प्रतिमा धारी ॥

इस प्रतिमा के धारी श्रावक गृहत्याग कर स्वतंत्र विहार करते हैं। जिनमन्दिरों, मठों या श्रावकों द्वारा निर्मित अस्थाई मण्डप आदि में निवास करते हैं। उद्दिष्ट आहार ग्रहण नहीं करते तथा प्रासुक पथ में अर्थात् जीव-जन्तु रहित राहों पर विहार करते हैं। आचरण की अपेक्षा इस प्रतिमा के दो विभाग हैं - एक क्षुल्लक का पद और दूसरा ऐलक का पद। ऐलक दशा में मात्र लंगोटी एवं पिच्छि-कमण्डलु के अतिरिक्त समस्त बाह्य परिग्रह का त्याग हो जाता है।

क्षुल्लक की भावभूमि में ऐलक जैसी निर्मलता नहीं हो पाती; इसकारण यद्यपि उनके आहार-विहार की क्रिया में कोई अन्तर नहीं रहता है, किन्तु ये लंगोटी के अलावा ओढ़ने के लिए खण्डवस्त्र (छोटा-सा चादर) एवं केश लॉच के बजाय हजामत बनवाते हैं और पात्र में भोजन लेते हैं।

सुविधि राजा श्रावकधर्म की उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओं को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समझ कर अपने परिणामों की भूमिका के अनुसार यथायोग्य पालन करते थे। उनके परिणामों की विशुद्धि दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होती रही।

इसप्रकार वे सुविधि राजा दीर्घकाल तक श्रावकधर्म के द्वारा आत्मा की आराधना करते रहे। जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने सर्व परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर जिन दीक्षा धारण कर मुनिव्रत लेकर उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की आराधना करके समाधिमरण पूर्वक देहत्याग किया और अच्युत स्वर्ग में ऋद्धि के धारक अच्युतेन्द्र हुए। श्रीमति के जीव केशव ने भी समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया। सिंह, वानर आदि के जीव भी उसी अच्युत स्वर्ग में देव हुए। सच ही है - पूर्वभव में संस्कारों से जीव एक ही स्थान में एकत्रित हो जाते हैं।

इसप्रकार मुनि होकर एवं समाधिमरण पूर्वक मरण को प्राप्त तीर्थंकर ऋषभदेव का जीव तीसरे पूर्व भव में अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में २० सागर आयु प्रमाण अच्युतेन्द्र हुआ। उसके उपभोग में आनेवाले देव विमानों की संख्या १५९ थी। उसके परिवार में अन्य दस हजार सामानिक देव थे। यद्यपि उन सामानिक देवों का वैभव भी इन्द्र के ही समान होता है; परन्तु इन्द्र के समान उनकी आज्ञा नहीं चलती। उनके ४० हजार अंगरक्षक देव थे। स्वर्ग में यद्यपि किसी प्रकार का भय नहीं है, परन्तु वे अंगरक्षक इन्द्र की विभूति के सूचक हैं। इन्द्र की अन्तः परिषद, मध्यम परिषद, बाह्य परिषद नाम की तीन प्रकार की परिषदें होती हैं। चारों दिशाओं में चार लोकपाल होते हैं। प्रत्येक लोकपाल की ३२ देवियाँ होती हैं।

अच्युतेन्द्र के वैभव में ६३ वल्लनिका देवियाँ थीं और चार महादेवियाँ थीं, एक-एक महादेवी के २५०-२५० देवियों का परिवार था। इसप्रकार उस अच्युतेन्द्र की कुल दो हजार इकहत्तर देवियाँ थीं। उसका चित्त उन देवियों के स्मरण मात्र से सन्तुष्ट हो जाता था। उसकी प्रत्येक देवी में ऐसी विक्रियाशक्ति थी। वह सुन्दरतम दस लाख चौबीस हजार रूप बना सकती थीं। उस इन्द्र के हाथी, घोड़ा, रथ आदि सात प्रकार की सेना थी। जो देवों की ही विक्रिया द्वारा निर्मित थी। अच्युतेन्द्र २२ हजार वर्ष में एक बार अमृत का आहार करते थे। ग्यारह माह में एक श्वांस लेते थे। उनका अति सुन्दर शरीर मात्र तीन हाथ का था।

आचार्य कहते हैं कि भगवान ऋषभदेव के जीव ने धर्म के प्रताप से ऐसी अच्युतेन्द्र की पर्याय में ऐसी

उत्तम विभूति प्राप्त की थी। इसलिए भव्य जीवों को जिनेन्द्र द्वारा कहे गये धर्म में अपनी बुद्धि लगाना चाहिए और भक्तिपूर्वक उसका आराधन करना चाहिए।

धन्य है उस जीव को, जिसने ऐसी विभूति पाकर भी अन्तर में उन सबसे भिन्न अपने चैतन्य की विभूति की प्रतीति की थी। अन्तर के चैतन्य-वैभव के समक्ष उस समस्त इन्द्र के वैभव को वे तुच्छ समझते थे। उस वैभव के बीच रहकर भी वे अपने चैतन्य-वैभव को एकक्षण को भी भूलते नहीं थे। आत्मज्ञान की अखण्ड धारा को प्रवाहित रखकर स्वर्ग के दिव्य भोगों का सुखद अनुभव करते थे। कभी जिनेन्द्रदेव की महापूजा करते। कभी मध्यलोक में आकर तीर्थकर देव की वन्दना करते थे।

जब ऋषभदेव भगवान के जीव अच्युतेन्द्र की आयु के मात्र छह माह शेष रह गये, तब से उनकी अर्द्धलोक छोड़कर मध्यलोक में आने की तैयारी होने लगी, किन्तु अच्युतेन्द्र मृत्युभय से किंचित् भी विचलित नहीं हुए।

ज्ञानी जीव ऐसे ही धैर्यशाली होते हैं, उन्हें मृत्यु जैसा भय भी विचलित नहीं कर पाता। अच्युतेन्द्र ने अरहंतदेव की पूजा प्रारंभ की, पंचपरमेष्ठी के गुणस्मरण में चित्त लगाया और आयु की अवधि पूर्ण होने पर मध्यलोक में बज्रनाभि के रूप में उत्पन्न हुए।

आचार्य भव्यों को सम्बोधते हुए कहते हैं कि “स्वर्ग के इन्द्रदेव यद्यपि सब प्रकार से सुख सम्पन्न, महा धैर्यवान, बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक और वैभव से सम्पन्न होते हैं, तथापि उन्हें भी वह छोड़ना ही पड़ता है। इसलिए संसार और संयोगों की ऐसी क्षणभंगुरता जानकर पुनरागम रहित मुक्ति की साधना में ही आत्मार्थियों को अपना उपयोग लगाना चाहिए।”



### भगवान ऋषभदेव का दूसरा पूर्वभव वज्रनाभि चक्रवर्ती

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में अच्युतेन्द्र का जीव राजा वज्रसेन के घर एवं श्रीकान्ता रानी के उदर से वज्रनाभि नाम का पुत्र हुआ। वज्रनाभि ने पूर्व पुण्योदय से चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। इनके पूर्वभव संबंधी सिंह, बन्दर, नेवला और शूकर के जीव भी वहीं वज्रनाभि के सहोदर हुए। उनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित थे। जो वज्रजंघ के भव में आहारदान के समय साथ में थे, वे मतिवर आदि मंत्रियों के चार जीव भी ग्रैवेयक से चयकर वज्रनाभि के भाई के रूप में अवतरित हुए। उनमें मतिवर मंत्री का जीव सुबाहु, आनन्द पुरोहित का जीव महाबाहु, अकंपन सेनापति का जीव पीठ और धनमित्र सेठ का जीव महापीठ हुआ।

इसप्रकार पूर्वभवों के संस्कारों के कारण सब जीव एक स्थान पर एकत्रित हो गये। श्रीमती का जीव जो अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह वहाँ से चयकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक के घर धनदेव नामक पुत्र हुआ।

‘शलाका पुरुष’ ग्रन्थ के कथानायक भगवान ऋषभदेव का जीव ही अपने दूसरे पूर्व भव में राजा वज्रसेन का पुत्र वज्रनाभि अपने पिताश्री को केवलज्ञान होने पर उनके पादमूल में सोलह कारण भावनायें भाकर इसी भव में तीर्थंकर प्रकृति बांधकर एक भव बाद भरत क्षेत्र में वर्तमान चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होनेवाला है।

वह वज्रनाभि युवावस्था आने पर सर्व गुणों से सुशोभित होने लगा; किन्तु शास्त्राभ्यास होने से उसे यौवन का मद नहीं हुआ। सबप्रकार की राजविद्याओं में वह पारंगत था। नाभि में वज्र का चिह्न उनके चक्रवर्तित्व का परिचायक था और इसीकारण उनका नाम भी वज्रनाभि पड़ा था।



योग्य समय पर महाराजा वज्रसेन ने वज्रनाभि का राज तिलक कर चक्रवर्ती होने का आशीर्वाद दिया और स्वयं संसार से विरक्त हो गये। लौकान्तिक देवों ने उनके वैराग्य की अनुमोदना की। राजा वज्रसेन के साथ एक हजार अन्य राजाओं ने भी जिनदीक्षा ग्रहण की।

एक ओर राजा वज्रनाभि कुशलतापूर्वक राज्य शासन को संभाल रहे थे और दूसरी ओर मुनिराज वज्रसेन तपो लक्ष्मी की साधना कर रहे थे। यहाँ कुछ ही काल के बाद वज्रनाभि के शस्त्रागार में चक्ररत्न प्रगट हुआ और दूसरी ओर शुक्ल ध्यान रूप ध्यान चक्र के द्वारा मुनिराज वज्रसेन को धर्मचक्र की प्राप्ति हुई। पुत्र चक्रवर्ती बना तो पिता धर्मचक्र द्वारा केवलज्ञान प्रगट कर तीर्थंकर केवली हो गये। पुत्र ने पृथ्वी के छह खण्ड जीते और पिता ने अखण्ड आत्मा का आश्रय लेकर तीनों लोकों को जीत लिया। श्रीमति और केशव का जीव धनदेव भी उसी चक्रवर्ती की चेतननिधियों एवं चेतनरत्नों में गृहपति नामक रत्न हुआ।

तीर्थंकर वज्रसेन दिव्यध्वनि द्वारा तत्त्वोपदेश देकर जीवों का हित करने लगे और उनके पुत्र भावी तीर्थंकर वज्रनाभि चक्रवती होकर प्रजा का पालन करने लगे। ऐसा लगता था कि मानो पिता-पुत्र दोनों लोकहित में परस्पर स्पर्धा कर रहे हों। इसप्रकार विशाल अभ्युदय के धारक वज्रनाभि चक्रवर्ती ने चिरकाल तक पृथ्वी का उपभोग करते हुए एक दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर की देशना से अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रय का स्वरूप जाना।

इस देशना को सुनकर वज्रनाभि को ऐसा लगा कि “जो चतुर पुरुष अमृत तुल्य वचनों को हृदय में धारण कर रत्नत्रय रसायन का सेवन करेगा, उसी का जीवन धन्य है, सार्थक है। ये भोग आदि तो इस जीव ने सचमुच अनंतबार पाये, किन्तु उनसे किंचित् भी, संतोष नहीं मिला। ये सब तो आकुलता की खाने ही हैं।” अतः विचार करने लगा कि - “जिसतरह किसान बीज बचा कर ही अन्नादि वस्तुओं का उपभोग करता है, उसीतरह हमें भी धर्माचरण करते हुए ही राजसुख का उपभोग करना चाहिए।” बस फिर क्या था, वज्रनाभि ने वैसा ही किया।

चक्रवर्ती वज्रनाभि अपने चक्रवर्तित्व के उत्तरदायित्व को निभाते हुए तथा मानव जीवन को सार्थक करने

हेतु धर्माचरण को ध्यान में रखते हुए अपनी सम्पूर्ण दिनचर्या को नियमित बनाकर जगत के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया कि - इतने बड़े साम्राज्य का संचालन करते हुए भी आत्महित के लिए समय निकाला जा सकता है। एक कवि ने उनकी वैराग्य भावना के अभिप्राय को भाषा देते हुए लिखा है कि मुनिराज क्षेमंकर के दर्शन और देशना से उनके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हो गया। वे विरागी हो गये। अब उन्हें चक्रवर्ती के वैभव में भी किंचित् भी सुख दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। कवि कहता है कि -

‘बीजराख फल भोगवें, ज्यों किसान जग मांहि ।  
 त्यों चक्री सुख में मगन, धर्म विसारै नाहिं ॥१॥  
 इहविध राज करैं नर नायक, भोगैं पुण्य विशाल ।  
 सुखसागर में रमत निरन्तर, जात न जान्यो काल ॥  
 एक दिवस शुभ कर्म संयोगे, क्षेमंकर मुनि वन्दे ।  
 देखि श्रीगुरु के पद पंकज, लोचन अलि आनन्दे ॥२॥  
 तीन प्रदक्षिणा दे सिर नायो, कर पूजा थुति कीनी ।  
 साधु समीप विनय कर बैद्यो, चरनन में दिठि दीनी ॥  
 गुरु उपदेश्यो धर्म शिरोमणि, सुन राजा वैरागे ।  
 राजरमा वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे ॥३॥  
 मुनि सूरज कथनी किरणावलि, लगत भरम बुधि<sup>१</sup> भागी ।  
 भवतन भोगस्वरूप विचार्यो, परम धरमअनुरागी ॥  
 इह संसार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवै ।  
 जामन मरण जरा दव दाड़ै, जीव महादुःख पावै ॥४॥

१. सांसारिक सुख में सुखबुद्धि नहीं रही।

कबहुँ जाय नरक थिति भुंजे, छेदन भेदन भारी ।  
 कबहुँ पशु परजाय धरे तहँ, बध बन्धन भयकारी ॥  
 सुरगति में परसम्पत्ति देखे, राग उदय दुःख होई ।  
 मानुषयोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई ॥५॥  
 कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी ।  
 कोई दीन दरिद्री विगूचे, कोई तन के रोगी ॥  
 किस ही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई ।  
 किस ही के दुःख बाहिर दीखे, किस ही उर दुचिताई ॥६॥  
 कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवै ।  
 खोटी संततिसों दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सौवे ॥  
 पुण्यउदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुखसाता ।  
 यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखे दुःखदाता ॥७॥  
 जो संसार विषै सुख होता, तीर्थकर क्यों त्यागै ।  
 काहे को शिव साधन करते, संजम सों अनुरागे ॥  
 देह अपावन अथिर घिनावनी, यामें सार न कोई ।  
 सागर के जल सों शुचि कीजै तौ भी शुद्ध न होई ॥८॥  
 सप्त कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै ।  
 अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है ॥  
 नवमल द्वार स्रवैं निशिवासर, नाम लिये घिन आवै ।  
 व्याधि उपाधि अनेक विपतिमय, कौन सुधी सुखपावै ॥९॥

पोषत तो दुःख दोष करै अति, शोषत सुख उपजावे ।  
 दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूर्ख प्रीति बढ़ावे ॥१०॥  
 भोग बुरे भवरोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जीके ।  
 बेरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागे नीके ॥  
 बज्र अग्नि विष से विषधर से, ये अधिके दुःखदाई ।  
 धर्म रतन के चोर प्रबल अति, दुर्गतिपन्थ सहाई ॥११॥  
 मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले करे जानें ।  
 ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानें ॥  
 ज्यों-ज्यों भोगसंजोग मनोहर, मनवांछित जन पावे ।  
 तृष्णानागिन त्यों-त्यों डंके, लहर जहर की आवे ॥१२॥  
 मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोग भोग घनेरे ।  
 तो भी तनिक भये नहीं पूरन, भोग मनोरथ मेरे ॥  
 राज समाज महा अघ कारण वैर बढ़ावनहारा ।  
 वेश्या सम लक्ष्मी अति चंचल याका कौन पत्यारा ॥१३॥  
 मोह महारिपु वैर विचार्यो, जगजिय संकट डारे ।  
 तन काराग्रह बनिता बेड़ी, परिजन जन रखवारे ॥  
 सम्यकदर्शन ज्ञान चरन तप, ये जियके हितकारी ।  
 ये ही सार असार और सब, यह चक्री चितधारी ॥१४॥  
 छोड़े चौदह रत्न नवोनिधि, अरु छोड़े संग साथी ।  
 कोटि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी ॥

इत्यादिक सम्पत्ति बहुतेरी, जीरण तृण सम त्यागी ।  
नीतिविचार नियोगी सुत को, राज्य दियो बड़भागी ॥१५॥  
होय निशल्य अनेक नृपति संग, भूषण वसन उतारे ।  
श्री गुरु चरन धरी जिनमुद्रा, पंच महाव्रत धारे ॥  
धनियह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरजधारी ।  
ऐसी सम्पत्ति छोड़ बसेवन, तिनपद धोक हमारी ॥१६॥

परिग्रह पोट उतार सब, लीनों चारित पन्थ ।  
निज स्वभाव में थिर भये, वज्रनाभि निरग्रन्थ ॥

इसप्रकार संसार, शरीर और संयोगों की असारता एवं क्षणभंगुरता का विचार करते हुए वैराग्य भावना भाते हुए चक्रवर्ती वज्रनाभि ने परिग्रह की पोटली के बोझ को माथे से उतार कर चारित्र के पन्थ पर चलकर निज स्वभाव की साधना हेतु अपने पिता तीर्थकर वज्रसेन के समीप जाकर जिनदीक्षा ले ली । वज्रनाभि के साथ एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों एवं धनदेव ने भी जिनदीक्षा धारण की ।

सोलह हजार अन्य राजाओं ने भी चक्रवर्ती वज्रनाभि के वैराग्य से प्रेरणा प्राप्त कर जिनदीक्षा ले ली । यह उचित ही है; क्योंकि शीत से पीड़ित ऐसा कौन व्यक्ति है, जो धूप का सेवन नहीं करेगा । सभी ने पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रिय विजय, छह आवश्यक और शेष सात गुणों को धारण कर २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करने की प्रतिज्ञा की ।

तीर्थकर वज्रसेन की देशना - दीक्षित मुनिराजों द्वारा २८ मूलगुणों का स्वरूप विस्तार से जानने की जिज्ञासा प्रगट करने पर वज्रसेन तीर्थकर की दिव्यध्वनि में मुनियों के मूलगुणों का निम्नांकित स्वरूप आया - “हे भव्य! ये विकल्परूप २८ मूलगुण शुभभावरूप हैं, इनकी यथार्थ पालना छठवें गुणस्थान में क्रोधादि कषायों की तीन चौकड़ी के अभाव की भूमिका में होती है।”

प्रश्न - ये कषायों की तीन चौकड़ी क्या हैं ?

उत्तर - अरे! तुम्हें यह भी पता नहीं ? सुनो! प्रथम चौकड़ी अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ । द्वितीय चौकड़ी - अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया और लोभ तथा तृतीय चौकड़ी - प्रत्याख्यानावरण - क्रोध-मान-माया और लोभ । एक चौथी चौकड़ी भी है - उसका नाम है संज्वलन क्रोध-मान-माया और लोभ । इस चौथी चौकड़ी के क्रोधादि का मंद उदय तो क्रमशः सातवें, आठवें, नववें गुणस्थान तक रहता है तथा संज्वलन का सूक्ष्म लोभ तो दसवें गुणस्थान तक रहता है ।

प्रश्न - ये गुणस्थान क्या हैं और कितने हैं ?

उत्तर - मोह और योग के निमित्त से होनेवाले आत्मा के परिणामों को गुणस्थान कहते हैं और ये १४ होते हैं । जो इसप्रकार हैं - १. मिथ्यात्व २. सासादन ३. मिश्र ४. अविरत सम्यक्त्व ५. देशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत ८. अपूर्वकरण ९. अनिवृत्तिकरण १०. सूक्ष्मसाम्पराय ११. उपशान्तकषाय १२. क्षीणकषाय १३. सयोगकेवली जिन १४. अयोगकेवली जिन ।

यह तो गुणस्थानों की संक्षिप्त जानकारी हुई । अब साधु परमेष्ठी का स्वरूप एवं २८ मूलगुणों का स्वरूप जो शेष है, उसे कृपया थोड़ा विस्तार से बताने की कृपा करें ।

हाँ सुनो! सच्चे साधु परमेष्ठी के स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं -

“विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः । ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

जिनके विषयों की आशा समूल समाप्त हो गई है, जो हिंसोत्पादक आरंभ और परिग्रह से सर्वथा दूर रहते हैं तथा ज्ञान-ध्यान व तप में लीन रहते हुए निरन्तर निज स्वभाव को साधते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं ।”

विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्यभाव धन रखते हैं ।

निज-पर के हित साधन में जो, निश-दिन तत्पर रहते हैं ॥

स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।  
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुःख समूह को हरते हैं ॥

साधु परमेष्ठी के २८ मूलगुण होते हैं, जो इसप्रकार हैं :-

“पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियनि रोध। षट् आवश्यक सप्त गुण, अष्टविंशति बोध ॥”

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियविजय, छह आवश्यक एवं सात शेष गुण – ये सब मिलाकर साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। साधुओं के द्वारा इनका निरतिचार रूप से पालन होता है।

पाँच महाव्रत –

हिंसा अनृत तस्करी, अब्रह्म परिग्रह पाप। मन-वच-तन से त्याग करि, पंच महाव्रत थाप ॥

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों के अभावपूर्वक मन-वचन-काय से हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा त्याग पंचमहाव्रत है।

१. मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषायों के अभाव से उत्पन्न वीतरागपरिणति महाव्रती मुनिराजों की भाव अहिंसा है। एवं तत्पूर्वक त्रस-स्थावर जीवों की विराधना नहीं होना द्रव्य अहिंसा है। यह दोनों प्रकार की अहिंसा ही साधु परमेष्ठी का अहिंसा महाव्रत नामक प्रथम मूलगुण है।

इसीप्रकार का भाव सत्यादि महाव्रतों के संबंध में समझना चाहिए। जो इसप्रकार है –

२. मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी आदि तीन प्रकार की चारों कषायों के अभावपूर्वक सत्य बोलने का परिणाम एवं सत्य बोलना तथा स्थूल व सूक्ष्म किसी भी प्रकार झूठ नहीं बोलना सत्य महाव्रत है।

३. उपर्युक्त मिथ्यात्व व कषायों के अभावपूर्वक स्थूल व सूक्ष्म किसी भी प्रकार की चोरी का परिणाम

एवं चोरी की क्रियारूप परिणत नहीं होना *अचौर्य महाव्रत* है। इस महाव्रत के धारक मुनिराज द्वारा बिना दिए अन्य वस्तु का ग्रहण करना तो बहुत दूर की बात है, जल और मिट्टी भी वे बिना दिये ग्रहण नहीं करते।

४. प्रत्येक अन्तुर्मुहूर्त में होनेवाली आत्मरमणतापूर्वक स्वस्त्री व परस्त्री आदि सभी के सेवन का मन-वचन-काय से सम्पूर्णतः त्याग होना ही *ब्रह्मचर्य महाव्रत* है।

५. साधु परमेष्ठी के पास संयम का उपकरण, पिच्छी, शुद्धि का उपकरण कमण्डल एवं ज्ञान के उपकरण शास्त्र को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार के वस्त्रादि का परिग्रह नहीं होता है। यह *अपरिग्रह महाव्रत* है।

इस संदर्भ में जिनवाणी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

“षट्काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरव हिंसा टरी।  
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी ॥  
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयों गहैं।  
अठदश सहस विध शील धर, चिद् ब्रह्म में नित रमि रहैं ॥  
अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलैं ॥  
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं ॥

इसप्रकार साधु परमेष्ठी के ये पाँच महाव्रत रूप पाँच मूलगुण होते हैं तथा निम्नांकित पाँच समितियाँ हैं।

ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान। प्रतिष्ठापना युत क्रिया पाँचों समिति विधान ॥

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति एवं प्रतिष्ठापना समिति। ये पाँचों समिति मुख्यतः अहिंसा एवं सत्य महाव्रत की साधनभूत ही हैं।

मुनियों के (संज्वलन कषाय संबंधी) किंचित् राग होने से गमनादि क्रियायें होती हैं, उन क्रियाओं में अति आसक्तता के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिए स्वयमेव ही दया पलती है। इसप्रकार सच्ची समिति है।



पाँचों समितियों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है -

१. अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव हो जाने से मुनिराज जब भी आहार-विहार-निहार तथा देवदर्शन, तीर्थवन्दना आदि प्रशस्त प्रयोजन से गमन करते हैं तो प्रमाद छोड़कर चार हाथ आगे की जमीन देखकर, दिन में, प्रासुकमार्ग से ही गमन करते हैं। उनकी इस क्रिया को *ईर्यासमिति* कहते हैं।

२. इसीप्रकार उपर्युक्त कषायों का अभाव हो जाने से मुनिराज दूसरों को पीड़ाकारक-कर्कष-निन्द्य वचन कभी नहीं बोलते। जब भी बोलते हैं तो हित-मित-प्रिय और संशयरहित, मिथ्यात्वरूपी रोग का विनाश करने वाले वचन ही बोलते हैं। उनकी इसप्रकार की वाचिक क्रिया को *भाषासमिति* कहते हैं।

३. ध्यान, अध्ययन व तप में बाधा उत्पन्न करनेवाली क्षुधा-तृषा के लगने पर तपश्चरणादि की वृद्धि के लिए मुनिराज ४६ दोषों से रहित, ३२ अन्तराय और १४ मलदोष टालकर कुलीन श्रावक के घर दिन में ही खड़े-खड़े एक बार जो अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करते हैं, उसे *एषणासमिति* कहते हैं।

४. मुनिराज अपने शुद्धि, संयम और ज्ञानसाधन के उपकरण, कमण्डलु, पिच्छी और शास्त्र को सावधानीपूर्वक इसतरह देखभाल कर उठाते-रखते हैं कि जिससे किसी भी जीव को किंचित् भी बाधा उत्पन्न नहीं होती। मुनि की इस प्रमाद रहित क्रिया को *आदाननिक्षेपण* समिति कहते हैं।

५. साधु ऐसे स्थान पर मल-मूत्र एवं कफादि क्षेपण करते हैं, जो निर्जन्तुक हो, अचित्त हो, एकांत हो, नगर से दूर निर्जन हो, पर के अवरोध से रहित हो तथा जहाँ बिल व छिद्र न हों। उनकी यह क्रिया *प्रतिष्ठापना समिति* कहलाती है। इस संदर्भ में जिनवाणी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।  
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;  
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचंद्र तैं अमृत झरैं ॥

छयालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनें घर अशन को;  
ले तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन पोषते तजि रसन को।  
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;  
निर्जन्तु थान विलोकि, तन-मल-मूत्र-श्लेषम परिहरैं॥  
पंचेन्द्रियजय - रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ-असुहावने।  
तिनमें न राग-विरोध पंचेन्द्रिय जयन पद पावने॥

स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय के इष्टानिष्ट विषयों में राग-द्वेष रहित हो जाना पंचेन्द्रियजय या पंचेन्द्रिय निरोध कहा जाता है।

मुनिराज अपनी रुचि के अनुकूल-सुहावने लगनेवाले स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्णेन्द्रिय के विषयों में अनुराग नहीं करते, हर्षित नहीं होते तथा प्रतिकूल लगनेवाले इन्द्रिय विषयों में द्वेष-घ्रणा या असंतोष प्रगट नहीं करते; बल्कि दोनों परिस्थितियों में एक-सा साम्यभाव रखते हैं। इन्द्रिय विषयों से संबंधित उनके इस समताभाव को पंचेन्द्रियजय मूलगुण कहा जाता है।

षट् आवश्यक - समता सम्हारें, श्रुति उचारैं वन्दना जिनदेव को।  
नित करैं श्रुति रति, करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को॥

वीतरागी मुनिराज सदा त्रिकाल सामायिक, स्तुति, वंदना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते हैं। उनकी ये क्रियायें प्रतिदिन अवश्य करने योग्य हैं अतः आवश्यक कहलाती हैं। किन्तु मुनिराज इन्हें स्ववश होकर करते हैं। उन्हें ये खेंच कर नहीं करनी पड़ती। मूलाचार ग्रंथ में मुनि के षट् आवश्यकों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है -

१. सामायिक - चित्त को एकाग्र करके शुद्धात्मा-कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्माओं के रूप में पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का चिन्तन करना सामायिक है।

२. स्तवन - ऋषभ, अजित आदि चौबीस तीर्थकरों में से किसी एक तीर्थकर के अथवा सबके गुणों की स्तुति करना एवं मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक उनको नमस्कार करना स्तवन है।

३. वन्दना - अरहंत और सिद्धों के प्रतिबिम्बों के दर्शन-पूजन एवं श्रुतधर व तप में विशेष गुरुओं का मन-वचन व काय से स्तुतिपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

४. स्वाध्याय - वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेशरूप पाँच प्रकार से शास्त्रों का अध्ययन व चिंतन स्वाध्याय है।

५. प्रतिक्रमण - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आश्रय से अहिंसादि व्रतों में लगे हुए दोषों की निन्दा गर्हा द्वारा परित्याग (नाश) करना प्रतिक्रमण है।

६. कायोत्सर्ग - नित्य एवं नैमित्तिक क्रियाओं में जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्मरण करते हुए जो शरीर के प्रति ममत्व का त्याग होता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं।

स्तवन व वन्दना में अन्तर - यहाँ स्तवन और वंदना के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्तवन में तो ऋषभादि चौबीस तीर्थकरों के व्यक्तिगत नामोल्लेखपूर्वक गुणों की स्तुति की जाती है तथा वंदना में अरहंत सिद्धों की प्रतिमा के माध्यम से एवं आचार्यादि के विशेष गुणों को स्मरण करते हुए नमस्कार किया जाता है। एक में व्यक्ति विशेष की मुख्यता है और दूसरे में किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, बल्कि गुणों या पद-विशेष की मुख्यता से स्तुति की गई है।

इनके अतिरिक्त मुनि के निम्नांकित सात मूलगुण और होते हैं -

१. स्नान का त्याग, २. दंतमंजन का त्याग, ३. भूमि पर एक करवट से रात्रि के पिछले प्रहर में अल्प निद्रा लेना, ४. वस्त्र का सर्वथा त्याग, ५. केशलुंचन करना, ६. तीन घड़ी सूर्योदय के बाद व तीन घड़ी दिन शेष रहने के पूर्व एक बार आहार लेना, ७. खड़े-खड़े पाणि को ही पात्र बनाकर अर्थात् हाथ की अंजुली में ही अल्प आहार लेना। इसप्रकार सर्वसाधुओं के ये २८ मूलगुण होते हैं। मुनिराज के द्वारा इनका सहज ही निरतिचार पालन होता है।

८८  
श  
ला  
का  
पु  
रु  
ष

वस्तुतः मुनिराज की सहज जीवनचर्या-दिनचर्या का ही दूसरा नाम २८ मूलगुण है अर्थात् मुनिराज जब-जब सातवें गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में आते हैं, उस समय उनकी जो शुभभावरूप सहज बाह्य प्रवृत्ति होती है, वह सहज ही पाँच महाव्रत रूप, पाँच समितिरूप, पंचेन्द्रियों के विजयरूप, षट् आवश्यक तथा स्नान, दन्तधावन आदि न करनेरूप ही होती है। अशुभभाव का तो यहाँ अस्तित्व ही नहीं होता। बस इन २८ मूलगुणों का सहजभाव से निरतिचार पालन होना ही दिगम्बर जैन मुनि की बाह्य पहचान है। इसके बिना किसी को दिगम्बर जैन मुनि मानना मुनिधर्म का अवर्णवाद है, जो कि दर्शनमोहनीयकर्मबन्ध का कारण है।

‘णमो लोए सव्व साहूणं’ में इन्हीं साधुओं को नमन किया गया है। जब हम ‘णमो लोए सव्व साहूणं’ बोलें तो सच्चे साधु का साकार रूप हमारे मानस पटल पर अंकित होता हुआ भासित होना चाहिए।

ऐसे मुनिधर्म के धारक आचार्य, उपाध्याय और सामान्य साधु मुख्यरूप से तो आत्मस्वरूप को ही साधते हैं तथा बाह्य में २८ मूलगुणों को अखण्डित पालते हैं समस्त आरंभ और अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं, सदा ज्ञान-ध्यान में लवलीन रहते हैं, सांसारिक प्रपंचों से सदा दूर रहते हैं। आचार्य व उपाध्याय तो मुनिसंघ की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासनिक एवं शैक्षणिक पद हैं। जो साधु अपने मूल प्रयोजन को साधते हुए इसके योग्य होते हैं, उन्हें ये पद प्राप्त होते हैं। अन्त में समाधि के हेतु आचार्य, उपाध्याय भी अपने योग्य शिष्यों को अपना पद सौंपकर, स्वयं उन पदों से निवृत्त होकर निजस्वभाव की साधना में लग जाते हैं - ऐसे साधु परमेष्ठी को ही ‘णमो लोए सव्व साहूणं’ में स्मरण व नमन किया गया है, अन्य किसी को नहीं।

इसप्रकार णमोकार मंत्र में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है और उनका स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है। पंचपरमेष्ठियों के ऐसे स्वरूप को समझकर उनका स्मरण करते हुए णमोकार मंत्र का पाठ करना ही णमोकार मंत्र का स्मरण है और इसप्रकार के स्मरण से जीव पापभावों एवं पाप कर्मों से बचा रहता है।



ती  
र्थ  
क  
र  
व  
ज  
र  
से  
न  
की  
दे  
श  
ना  
सर्ग

### सोलह कारण भावनाओं का स्वरूप एवं पहला पूर्वभव अहमिन्द्र

आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करनेवाले धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराज ने अपने गृहस्थ जीवन के पिता वज्रसेन तीर्थकर के निकट उन सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया। जो इसप्रकार है -

(१) दर्शनविशुद्धि भावना - निश्चय से परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मस्वभाव की यथार्थ प्रतीति (अनुभूति) ही दर्शनविशुद्धि भावना है। ऐसे दर्शनविशुद्धि वाले जीवों का व्यवहार तीन मूढ़ता, छह अनायतन के त्यागरूप तथा आठ शंकादि दोष और आठ मद रहित होता है।

२. विनयसम्पन्नता भावना - निश्चय से अपने आत्मा के प्रति विनम्रता एवं व्यवहार से धर्मायतनों के प्रति विनय भाव का होना है।

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावना - शील और व्रतों में अतिचार (दोष) न लगाना शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

४. अभीक्षणज्ञानोपयोग भावना - निरंतर चारों अनुयोगों के अध्ययन में चित्त लगाना अभीक्षणज्ञानोपयोग भावना है।

५. संवेग भावना - संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर धर्म में अनुराग होना संवेग भावना है।

६. शक्तिःतपभावना - शक्ति के अनुसार इच्छाओं के निरोधपूर्वक अंतरंग-बहिरंग तपों की भावना होना शक्तिप्रमाणतप भावना है।

७. शक्तिःत्यागभावना - अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के प्रति ममता कम करने की भावना भाना एवं पात्र दान देना शक्तिप्रमाणत्याग भावना है।

८. साधुसमाधि भावना - संसार के जन्म-मरण के दुःखों के भय से उनसे विरक्त रहना तथा साधुओं के व्रत-शील आदि में विघ्न आने पर उनके दूर करने में सावधान रहना साधु समाधि भावना है।

९. वैयावृत्य भावना - व्रती पुरुषों के रोगादिक होने पर उसका उचित उपचार करना वैयावृत्य भावना है, वैयाव्रत तप नहीं।

१०. अरहंत भक्ति भावना - अरहंत भगवान में अपनी निश्चलभक्ति भावना होना अर्हद्भक्ति भावना है।

११. आचार्य भक्ति भावना - आचार्यों के प्रति अपनी आदर की भावना आचार्यभक्ति भावना है।

१२. बहुश्रुतभक्ति भावना - अधिक ज्ञानवान मुनियों के प्रति विशेष अनुराग होना बहुश्रुतभक्ति भावना है।

१३. प्रवचनभक्ति भावना - इस भावना में शास्त्रों को पढ़ना/पढ़ाना उन्हें जन-जन तक पहुँचाने की भावना होती है।

१४. आवश्यकापरिहाणि भावना - छहों आवश्यकों का पूर्णरूप से निर्दोष पालन करना आवश्यका-परिहाणि भावना है।

१५. प्रभावना भावना - तप तथा ज्ञानरूप सूर्य की किरणों द्वारा भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करना जिनमार्ग प्रभावना भावना है।

१६. वात्सल्य भावना - धर्मात्माओं के प्रति गोवत्स की भांति वात्सल्य रखना वात्सल्य भावना है।

इसप्रकार चिरकाल तक तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत भावना भाते हुए वज्रनाभि मुनि ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। यद्यपि उनकी मुनि अवस्था में तपश्चरण के परिणामस्वरूप अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं

थीं; परन्तु उनका तो मात्र गौरवशाली सिद्धपद ही लक्ष्य था। उसे ही केन्द्रबिन्दु बनाकर वे नानाप्रकार के तप करते थे। उन्हें अन्य कुछ भी इच्छा नहीं थी।

इसप्रकार निर्वाच्छक तप करने वाले और विशुद्ध भावनाओं के धारण करने वाले मुनि वज्रनाभि को आत्मविशुद्धि के साथ यदि जगत की नाना लौकिक ऋद्धियाँ भी उपलब्ध हो गईं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी उन्होंने तो ऋद्धियों के प्रति उपेक्षा ही रखी। वे आत्मसाधना द्वारा विशुद्धि को प्राप्त होते-होते उपशम श्रेणी को प्राप्त होकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँच गये। अन्तर्मुहूर्त में पुनः सातवें गुणस्थान में आ गये।

आयु के अन्त में प्रायोपगमन सन्यास लेकर अन्न जल का त्याग कर दिया। इस सन्यास में रत्नत्रय की विशेष शुद्धता होती है। इस संन्यास में वज्रनाभि मुनिराज आगम के नियम के अनुसार स्वयं भी अपने शरीर का कोई उपचार नहीं करते थे। दूसरों से सेवा व उपचार कराने की तो बात ही कहाँ रही ?

यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त कृश था, तथापि स्वाभाविक धैर्य के अवलम्बन द्वारा वे कई दिनों तक निश्चल चित्त बैठे रहे। क्षुधा, तृषा आदि परिषहों को सहते, दस धर्मों का पालन करते, बारह भावनाओं को भाते, वैराग्य भावना का निरन्तर चिन्तन करते वे पुनः उपशमश्रेणी पर आरूढ़ हुए। इसतरह उत्कृष्ट वीतराग भाव को प्राप्त कर ग्यारहवें गुणस्थान में प्राणों का त्याग कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

लोक के अग्रभागरूप जो सिद्धों का धाम है। उससे मात्र बारह योजन नीचे यह सर्वार्थसिद्धि स्वर्गलोक है। वहाँ उत्पन्न हुए जीव अन्तर्मुहूर्त में युवा हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्धि में जो अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। वहाँ अहमिन्द्र अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं की पूजन करते हैं और अपने क्षेत्र में ही विचरते हैं। वे अहमिन्द्र वहाँ रहकर ही समस्त लोक में विराजमान जिन प्रतिमाओं की भी पूजा करते हैं, तीर्थकर ऋषभदेव के जीव उस पुण्यात्मा अहमिन्द्र ने अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति जिनपूजा और तत्त्वचर्चा में ही लगाई थी। वे परस्पर

तत्त्वचर्चा में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। शुक्ललेश्या होने से वे अपने प्राप्त वैभव से ही पूर्ण संतुष्ट रहते थे। उन अहमिन्द्रों में छोटे-बड़े की भावना नहीं होती, वे सब समान होते हैं, उनमें परस्पर ईर्ष्या नहीं होती, द्वेष नहीं होता, निन्दा-प्रशंसा की भावना नहीं होती। वहाँ सभी अहमिन्द्र सुखमय, हर्ष सहित वर्तते हुए आत्मसाधना में लीन रहते हैं।

सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक दिव्य आहार लेते हैं। साढ़े सोलह माह में एकबार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। यद्यपि अहमिन्द्रों में अपने अवधिज्ञान की क्षेत्र सीमा तक बाहर जाने की सामर्थ्य होती है; परन्तु राग अत्यन्त मंद होने के कारण वे अपने विमान से बाहर नहीं आते-जाते।

वज्रनाभि चक्रवर्ती के आठों भाई - विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, बाहु, सुबाहु, महाबाहु, पीठ और महापीठ तथा श्रीमति का जीव धनदेव - ये नौ के नौ प्राणी भी अपने-अपने पुण्य प्रभाव से वज्रनाभि के साथ ही सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। वे वहाँ मोक्ष सुख जैसा निराकुल सुख का अनुभव करते थे। विषय भोगों से रहित आत्मिक सुख का अनुभव करते हुए रहते थे।

यद्यपि वहाँ पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल भोगों की सुख सामग्री नहीं है तथापि वे वहाँ सबसे अधिक सुखी थे; क्योंकि सचमुच भोग सामग्री सुख की साधन नहीं; मात्र विषयजन्य पीड़ा को कम करने का तात्कालिक उपचार मात्र है। जैसे किसी को जलन हो और ठंडे पानी की पट्टी से उस जलन को कुछ देर को कम कर दिया जाता है, किसी को बालतोड़ (फोड़ा) हो और पीप (पस) से भारी पीड़ा हो रही हो तो फोड़े को चीरफाड़ कर या गरम सलाखों से फोड़कर पीप (पस) निकाल दिया जाय तो बैचैन रोगी को थोड़ी देर को चैन मिल जाता है। भूखे-प्यासे को थोड़ा पानी मिल जाय तो उसकी थोड़ी भूख-प्यास कम हो जाती है। कुछ देर बाद फिर वे ही समस्यायें सामने मुँहबाये खड़ी होती हैं - इसतरह भोग सामग्री सुख का साधन नहीं दुःख का क्षणिक प्रतिकार मात्र है, अस्थाई उपाय है।



सर्वार्थसिद्धि में ये सब आकुलतायें एक तो हैं ही नहीं, यदि हैं भी तो अति अल्प हैं, जिनकी पूर्ति सहज हो जाती है। अतः वहाँ के सुख की तुलना मोक्ष से की गई है। यद्यपि मोक्षसुख सर्वार्थसिद्धि के सुख से भिन्नप्रकार का निराकुल एवं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। अतः सर्वार्थसिद्धि से गुणनफल निकालना तो संभव नहीं है; फिर भी अधिक बताने का दूसरा साधन न होने से अनन्तगुणा कह देते हैं। सचमुच मोक्ष का सुख तो अनुपम है, उससे संसार के किसी भी सुख की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह सम्पूर्ण इच्छा के अभाव में है और संसार में सर्वार्थसिद्धि में अभी कषायें और इच्छा विद्यमान हैं, भले वह अति मन्द हैं, पर हैं तो सही।

इन सब कथनों से यह तो सिद्ध होता ही है कि जितनी इच्छायें कम होंगी, उतना ही सुख अधिक होगा। भोग-सामग्री सुख का साधन नहीं है। अतः यदि हम सचमुच सच्चा सुख चाहते हैं तो सम्पूर्ण संसार को असार जानकर मुक्ति की साधना करनी चाहिए। यही संदेश हमें सर्वार्थसिद्धि के जीवों के परिचय से प्राप्त होता है।

वस्तुतः विषयों के अनुभव से जो सुखाभास होता है, वह भी पराधीन है, बाधाओं से युक्त है, अन्तराय (बाधा) सहित है, कर्मबन्धन का कारण है। इसकारण वह वस्तुतः दुःख ही है।

सर्वार्थसिद्धि में समकित होने के कारण देवों ने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ले लिया है, इसकारण उन्हें लौकिक सुख लुभा नहीं पाते। अतः वे बाह्य विषयों के बिना ही सुखी हैं। यदि भोग सामग्री में सुख हो तो ऊपर-ऊपर के स्वर्गों में भोग संयोग कम क्यों होते गये ? ऊपर-ऊपर के स्वर्गों में अधिक भोग सामग्री होना चाहिए थी। काय का प्रविचार (भोग) मात्र ऐशान स्वर्ग तक ही होता है। रसना की विषयभूत भूख ऊपर अधिक अन्तराल से लगती, उसकी पूर्ति भी कंठ में अमृत झरने से हो जाती। वे रसना का स्वाद ही नहीं जानते। सर्वार्थसिद्धि में ३३ हजार वर्ष बाद कंठ में अमृत झरता है और भूख का विकल्प शांत हो जाता है। इन सब शास्त्रीय प्रमाणों से भी सिद्ध है कि विषयों में सुख नहीं है।

यहाँ यह कहा गया है कि अति ही निकट में जिसे तीर्थकर पद प्राप्त होना है, उस वज्रनाभि ने जिसप्रकार

विशुद्धिपूर्वक प्रमाद रहित हो आत्मसाधना और जिनेन्द्र एवं जिनवाणी की आराधना की और महान सुख प्राप्त किया, उसीप्रकार हम भी यदि सुख के अभिलाषी हों और दुःखों से छूटना चाहते हों तो हमें भी प्रमादरहित होकर जिनेन्द्रकथित तत्त्वाभ्यास करना चाहिए।

तीर्थकर परमात्मा के जो गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक होते हैं, वे पंचकल्याणक ही आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रियाएँ हैं। विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो कहता है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो स्वयं परमात्मा है ही, यदि स्वयं को जाने, पहचाने और स्वयं में जम जाये, रम जाये तो पर्याय में भी परमात्मा बन सकता है।

हमारे तीर्थकर अपने पिछले भवों में हमारे-तुम्हारे जैसे ही पामर पुरुष थे एवं अनादिकाल से चतुर्गति में परिभ्रमण करते थे। उन्होंने काललब्धि आने पर स्वयं को जाना, पहचाना, स्वयं को अनुभव किया। स्वयं में समा गये तो अन्तर्मुहूर्त में ही सर्वज्ञता प्राप्त कर परमात्मा बन गये।

भगवान ऋषभदेव ने परमात्मा बनने का कार्य भोगभूमि के आर्य के भव में किया था, जो ऋषभदेव का छठवाँ पूर्व भव था और यही कार्य भगवान महावीर ने दस भव पूर्व शेर की पर्याय में किया था। भगवान पार्श्वनाथ ने यही कार्य हाथी के भव में किया था। इन बातों से स्पष्ट है कि जैनदर्शन के अनुसार न केवल मनुष्य; बल्कि पशु भी परमात्मा बन सकते हैं।

पंचकल्याणक घटनायें भरतक्षेत्र के प्रत्येक तीर्थकर के जीवन में घटती हैं। विदेहक्षेत्र में यद्यपि कुछ तीर्थकरों के दो या तीन कल्याणक ही होते हैं। भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक चौबीसों तीर्थकरों के पाँचों कल्याणक हुए हैं।

तीर्थकरों के सभी कल्याणकों के महोत्सव इन्द्रों द्वारा ही संचालित होते हैं। अतः उसमें कहीं कोई हिंसा

नहीं होती। अभिषेक का जल क्षीर समुद्र से आता है, जो पूर्ण निर्जन्तुक होता है। पूजा सामग्री दिव्य और अहिंसक होती है। अतः उनकी नकल पर हिंसोत्पादक सामग्री से पूजा नहीं करना चाहिए।

### निर्ग्रन्थ मुनि का स्वरूप

निर्ग्रन्थ मुनि नग्न ही क्यों होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर आगम, युक्ति तथा विज्ञान और मनोविज्ञान के अनुसार इसप्रकार है -

(१) जैनदर्शन की दार्शनिक व्याख्या के अनुसार अथवा शास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्ग्रन्थ साधु की निर्मल परिणति में (छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में) अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों का अभाव हो जाता है; इसकारण निर्ग्रन्थ मुनिराजों को इस भूमिका में वस्त्र धारण करने का भाव ही नहीं आता। अतः वे नग्न रहते हैं।

(२) सम्पूर्ण कामवासना व विषयविकार पर विजय प्राप्त हो जाने से अथवा पूर्ण निर्विकारी हो जाने से उनकी नग्नता सहज व स्वाभाविक है।

(३) यदि कोई बलात् उनके ऊपर वस्त्र डाल दे या पहना दे तो वे उसे उपसर्ग (आपतित संकट) मानकर उस उपसर्ग के दूर न होने तक भोजन-पानी एवं गमनागमन का भी त्याग कर देते हैं।

(४) लज्जा-गारव, शीत-उष्ण, डांस-मच्छर आदि के समस्त परिषहों को जीत लेने से निर्ग्रन्थ साधु को वस्त्र धारण करने का भाव नहीं होता, विकल्प ही नहीं आता, अतः निर्ग्रन्थ मुनि नग्न रहते हैं।

(५) निर्ग्रन्थ साधु पूर्ण स्वाधीन और स्वावलम्बी होते हैं, पराधीनता और परावलम्बन उनके स्वभाव में ही नहीं होता। अतः संयम का उपकरण पिछी, शुद्धि का उपकरण कमण्डल तथा ज्ञान का उपकरण शास्त्र के सिवा उन्हें कुछ भी स्वीकृत नहीं होता है। अतः नग्न ही रहते हैं।

(६) दिशायें ही जिनके अम्बर (वस्त्र) होते हैं, जिन्हें देह पर वस्त्र धारण करने का राग (भाव) नहीं रहता,

दशों दिशाएँ ही उनके अम्बर होने से उन्हें तो दिगम्बर जैनसाधु कहते ही हैं, जो उनके भक्त या अनुयायी होते हैं, उन्हें दिगम्बर जैन श्रावक कहते हैं।

(७) नन्हें-मुत्रे दो तीन-वर्षीय निर्विकारी बालकवत् निर्ग्रन्थ साधुओं को वस्त्र धारण करने का विकल्प नहीं आता, आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। जिसतरह काम-वासना से रहित बालक माँ-बहिन के समक्ष लजाता नहीं है, संकोच भी नहीं करता तथा माँ-बहिनों को भी उसे नग्न देखने से, गोद में लेने से लज्जा नहीं आती; ठीक उसीतरह निर्विकारी निर्ग्रन्थ मुनिराजों को भी लज्जा नहीं आती। उनके दर्शन करने में उनके भक्त नर-नारियों को भी संकोच नहीं होता।

(८) इसतरह जब उनके आत्मा में कोई कषाय या मनोविकार की ग्रन्थि ही नहीं रही तो तन पर वस्त्र की गांठ कैसे रह सकती है ? अतः वे नग्न होते हैं।

(९) लौकिक दृष्टि से भी दिगम्बर जैन मुनियों को सामाजिक सीमाओं के घेरे में नहीं घेरा जा सकता; क्योंकि वे लोकव्यवहार से ऊपर उठ चुके हैं, व्यवहारातीत हो गये हैं। वे वनवासी सिंह की भांति पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी और अत्यन्त निर्भय होते हैं। इसकारण वे मुख्यतया वनवासी ही होते हैं। मात्र आहार हेतु नगर में आते हैं। काल दोष से वन में जीवन असुरक्षित हो चला है, शारीरिक संहनन भी कमजोर होने से इस कलिकाल में नगर के निकट के उपवनों में नसिया में या नगर के एकान्त स्थान में जल से भिन्न कमल की भांति ठहर कर साधु धर्म साधन करते हैं।

दिगम्बर जैन साधुओं की निर्ग्रन्थता निर्दोषता, निर्विकारिता, निरपेक्षता, निर्भयता, निश्चिंतता और सहज स्वाभाविकता की परिचायक है।

दिगम्बरत्व की स्वाभाविकता, सहजता और निर्विकारिता के साथ उसकी नग्नता की अनिवार्यता से अपरिचित कतिपय महानुभावों को मुनिराज की नग्नता में जो असभ्यता व असामाजिकता दृष्टिगोचर होती है, वह उनके स्वयं की समझ और सोच का फेर है। ऐसे लोग समय-समय पर नग्नता जैसे सर्वोत्कृष्ट रूप

से नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं, घृणा का भाव भी व्यक्त करते रहते हैं। उन्हें एक बार नग्नता को निर्विकारी दृष्टि से देखना चाहिए। अन्य दर्शनों में भी नग्नता को ही साधु का उत्कृष्ट रूप माना गया है। परमहंस नामक परमत (जैनेतर) के साधु भी नग्न रहते हैं - ऐसा उनके ही पुराणों में उल्लेख है।

हाँ, निर्विकारी हुए बिना नग्नता निश्चित ही निन्दनीय है। नग्नता के साथ निर्विकारी होना अनिवार्य है। केवल तन से नग्न होने का नाम दिगम्बरत्व नहीं है। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारी भावों से मन (आत्मा) की नग्नता के साथ तन की नग्नता ही सच्चा दिगम्बरत्व है। इस नग्नता को कभी भी लज्जाजनक, अशिष्ट एवं अश्लील नहीं कहा जा सकता। ऐसी नग्नता तो परम पूज्य है, आदर्श है, अतः अनुकरणीय है।

हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध ऋषि शुक्राचार्य के कथानक से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि तन की नग्नता के साथ मन का निर्विकारी होना अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा जो नग्नता पूज्य है वही निन्दनीय हो जाती है।

कहा जाता है कि शुक्राचार्य युवा थे, पर शिशुवत् निर्विकारी थे अतः सहज भाव से नग्न रहते थे। एक दिन वे उस तालाब के किनारे से जा रहे थे, जहाँ ऋषि कन्यायें निर्वस्त्र होकर स्नान व जलक्रीड़ा कर रही थीं। वे शुक्राचार्य को देखकर भी वैसी नग्न अवस्था में ही स्नान करती रहीं, जरा भी नहीं लजाई। ऋषि कन्यायें व शुक्राचार्य दोनों ही एक-दूसरे की नग्नता से जरा भी प्रभावित नहीं हुए।

थोड़ी देर बाद शुक्राचार्य के वयोवृद्ध पिता वहाँ से निकले। उन्हें देखते ही सभी ऋषि कन्यायें लजा गईं। वे न केवल लजाईं, क्षुब्ध भी हो गईं। जल क्रीड़ा छोड़कर भागीं और सबने वस्त्र पहन लिए।

देखो! वे ऋषि कन्यायें युवक को नग्न देख तो लजाईं नहीं और एक वृद्ध व्यक्ति को देख लजा गईं। जरा सोचिए! इसका क्या कारण हो सकता है ? बस यही न कि तन से नंगा युवक मन से भी नंगा था, निर्विकारी था। और उसके पिता अभी मन से पूर्ण निर्विकारी नहीं हो सके थे। यह बात नारियों की निगाह से छिपी नहीं रही, रह भी नहीं सकती थी। कोई कितना भी क्यों न छिपायें, पर मन का विकार तो सिर पर चढ़कर बोलता है। कहा भी है - “मुखाकृति कह देत है, मैले मन की बात”

नग्नता से नफरत करने का अर्थ है कि हमें अपना निर्विकारी होना पसंद नहीं है।

पर ध्यान रहे, तन की नग्नता के साथ मन की नग्नता होनी ही चाहिए, अन्यथा कोई लाभ नहीं होगा। नग्नता कलंकित ही होगी। इसलिए तो कहा है - “सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ़ चारित लीजे।”

जिनागम के सिवाय अन्य जैनेतर शास्त्रों एवं पुराणों में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख मिलते हैं - रामायण के सर्ग १४ के २२ वें श्लोक में राजा दशरथ निर्ग्रन्थ श्रमणों को आहार देते बताये गये हैं। भूषण की टीका में श्रमण का अर्थ दिगम्बर मुनि किया है।

श्रीमद्भागवत और विष्णु पुराण में ऋषभदेव का दिगम्बर मुनि के रूप में ही उल्लेख है। वायुपुराण एवं स्कन्ध पुराण में भी दिगम्बर मुनि का अस्तित्व दर्शाया गया है।

ईसाई धर्म में भी दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि “आदम और हव्वा” नग्न रहते हुए कभी नहीं लजाये।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इतिहास एवं इतिहासातीत श्रमण एवं वैष्णव साहित्य में यहाँ तक कहा गया है कि दिगम्बर हुए बिना मोक्ष की साधना एवं कैवल्यप्राप्ति संभव नहीं है। अतः नग्नता से नफरत करना, घ्रणा करना अपने ही धर्म, संस्कृति, पुरातत्त्व एवं सत्य से घ्रणा करना है।





### भगवान ऋषभदेव के गर्भ एवं जन्मकल्याणक

जब तीर्थकर का जीव माता के गर्भ में आता है, तब उसके गर्भ में आने के ६ माह पूर्व से कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ दिव्य रत्नों की वर्षा होती है। जिससे पूरे नगर में दरिद्रता का अभाव हो जाता है। निर्धन व्यक्ति दिव्य सुख-सामग्री को पाकर धन्य हो जाते हैं। ये रत्न तीर्थकर के पिता के राजमहल के प्रांगण में बरसते हैं। अतः आशंका की तो कोई गुंजाइश नहीं है; फिर भी कोई ऐसा तर्क कर सकता है कि जो रत्न (पत्थर) ओलों की तरह आकाश से बरसते होंगे, उन दिव्य रत्नों की बाजार में क्या कीमत होती होगी ? वे बाजार में बिकते होंगे या नहीं ?

उनसे हमारा कहना है कि यदि आपको यह बात नहीं जँचती है तो आप रत्नों की वर्षा को समृद्धि का प्रतीक तो मान ही सकते हैं। जैसे कि जब कृषि के अनुकूल समय पर पानी की वर्षा होती है तो लोग कहते हैं कि यह पानी नहीं सोना बरस रहा है; किन्तु वहाँ कोई सोने के कण या स्वर्ण आभूषण तो नहीं बरसते – ऐसे ही जब तीर्थकर का जन्म होता है तो सारे देश में समृद्धि हो जाती है, कोई दरिद्र नहीं रहता। न अतिवृष्टि होती है, न अनावृष्टि और न अकाल या दुष्काल पड़ता है। बस, इसे ही रत्नों की वर्षा के प्रतीकरूप मान लो। अप्रयोजनभूत बातों में तर्क करने से प्रयोजनभूत तत्त्व में अश्रद्धा हो सकती है। अतः ऐसे तर्क करना उचित नहीं है।

जिनवाणी में ऐसे उल्लेख आये हैं कि उस रत्नवर्षा से भगवान के पिता द्वारा किमिच्छिक दान देने से दरिद्रों की दरिद्रता समाप्त हो गई थी। इसका अर्थ भी यही है कि वे रत्न केवल शोभामात्र नहीं होते; बल्कि बहुमूल्य होते हैं। उनसे दरिद्रों की दरिद्रता दूर होती है।

तिलोयपण्णति, महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, शान्तिनाथ पुराण, महावीर पुराण

यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य और वास्तविक तथ्य है कि जब कोई बड़ा काम होता है तो पहले वह हमारे सपने में ही अवतरित होता है, बाद में भौतिक रूप से साकार रूप लेता है। ठीक इसीप्रकार जब तीर्थकर का जीव गर्भ में आता है तो उसके पूर्व माता के १६ स्वप्नों में आता है। वे १६ स्वप्न इस बात के सूचक हैं कि माता के गर्भ में तीर्थकर का जीव आनेवाला है।

कैसे होंगे वे माता-पिता, जिनके घर में तीर्थकर अवतरित होंगे ? कैसे होंगे वे सौभाग्यशाली लोग, जिन्हें तीर्थकर जैसे शलाका पुरुष का समागम होगा। जब माता को १६ स्वप्न आये तो उनके परिणाम अति निर्मल होते गये। प्रातः उठकर माता मरुदेवी ने राजा नाभिराज से उन स्वप्नों का फल पूछा -

राजा नाभिराज ने कहा - “हे रानी ! सोलह स्वप्नों में प्रथम स्वप्न में - ऐरावत हाथी का देखना धर्मश्रेष्ठ पुत्र होने का सूचक है। दूसरे स्वप्न में - वृषभ का देखना पुत्र का जगत गुरु होने का सूचक है। तीसरे स्वप्न में - सिंह का देखना शक्तिशाली पुत्र का सूचक है। चौथे स्वप्न में - दो पुष्प मालायें देखना तीर्थप्रवर्तन करने का सूचक है। पाँचवें स्वप्न में - लक्ष्मी द्वारा स्नान का फल इन्द्रों द्वारा जन्माभिषेक का सूचक है। छठवें स्वप्न में - पूर्ण चन्द्रमा का देखना जगत के सुखी होने का प्रतीक है। सातवें स्वप्न में - उदित होते सूर्य का देखना प्रतापी होने का प्रतीक है। आठवें स्वप्न में - युगल स्वर्ण घट का देखना निधिपति होने का प्रतीक है। नवम स्वप्न में - युगल मीनों का खेल देखना आनन्द का प्रतीक है। दसवें स्वप्न में - कमलयुक्त सरोवर देखना अनेक लक्षणों से शोभित होने का प्रतीक है। ग्यारहवें स्वप्न में - लहराते सागर का देखना जगत का गुरु एवं सर्वज्ञ होने का प्रतीक है। बारहवें स्वप्न में - सिंहासन का देखना साम्राज्य के स्वामी होने का प्रतीक है। तेरहवें स्वप्न में - देवविमान का देखना स्वर्ग से आने का प्रतीक है। चौदहवें स्वप्न में - नागेन्द्र भवन का देखना अवधिज्ञानी होने का सूचक है। पन्द्रहवें स्वप्न में - रत्नों की राशि का देखना गुणवान होने का सूचक है। सोलहवें स्वप्न में - धूमरहित अग्नि का देखना कर्मध्वंस करने का सूचक है तथा अन्त में बैल का मुख में प्रवेश करना देखना तीर्थकर पुत्र के उत्पन्न होने का सूचक है।



राजा नाभिराज के मुख से स्वप्न के फल सुनकर मरुदेवी हर्षित हुई। अहमिन्द्र को स्वर्ग से माता मरुदेवी के गर्भ में आते ही इन्द्रलोक में घण्टों के नाद आदि अनेक मंगल चिह्न प्रगट हुए। उनसे भगवान के गर्भकल्याणक का प्रसंग जानकर सौधर्म इन्द्रादि देव वहाँ आये और अयोध्या नगरी की प्रदक्षिणा करके माता-पिता को नमस्कार किया। सौधर्म इन्द्र दिक्कुमारी आदि देवियों को माता मरुदेवी की सेवा में लगाकर वापस चले गये।

वे देवियाँ माता की प्रशंसा करते हुए कहती थीं कि “हे माता! आपके गर्भस्थ पुत्र द्वारा जगत का संताप नष्ट होगा, इसलिए आप जगत का पालन करनेवाली जगत माता हो। हे माता! आपका पुत्र जगत विजेता, सर्वज्ञ, तीर्थकर और कृतकृत्य होकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा।”

वे देवियाँ आनन्द सहित माता के साथ अनेकप्रकार से तत्त्वचर्चा करती थीं। माता उन्हें मधुरभाषा में उत्तर देती थीं। माता से किए गये कुछ प्रश्नोत्तर इसप्रकार हैं -

देवी - हे माता जगत में सर्वश्रेष्ठ रत्न कौन-सा है ?

माता - सम्यग्दर्शन रत्न जगत में सर्वश्रेष्ठ है।

देवी - हे माता ! जगत में किसका जन्म सफल है ?

माता - जो आत्मा की साधना करे, उसी का जन्म सफल है।

देवी - जगत में बहरा कौन है ?

माता - जो जिनवचन नहीं सुनता।

देवी - हे माता! जगत में कौन-सी स्त्री उत्तम है।

माता - जो तीर्थकर पुत्र को जन्म दे।

इसप्रकार दिक्कुमारी आदि देवियाँ नौ माह तक अनेकप्रकार से मरुदेवी माता की सेवा करती थीं तथा विविध गोष्ठियों द्वारा माता को प्रसन्न रखती थीं।

२. **जन्मकल्याणक** - नौ माह बाद चैत्रकृष्ण नवमी के सुप्रभात में मरुदेवी के उदर से बालक ऋषभ का जन्म हुआ। तीन ज्ञान से सुशोभित बालक ऋषभ का जन्म होते ही तीनों लोकों में आनन्द छा गया। पृथ्वी आनन्द से झूम उठी। आकाश निर्मल हो गया। कल्पवृक्षों से पुष्पों की वर्षा होने लगी, सुगन्धित वायु वहने लगी। इन्द्रासन डोलने लगा। स्वर्ग में दिव्य बाजे बजने लगे। सर्वत्र आनन्द छा गया।

**शंका** - इन पंचकल्याणकों के संबंध में एक प्रश्न यह उठता है कि मोक्ष तो कल्याण स्वरूप है ही। केवलज्ञान भी कल्याणस्वरूप है; तप भी कल्याण का कारण है। अतः इन तीनों को कल्याणक कहना तो उचित ही है; किन्तु गर्भ में आना और जन्म लेना तो कल्याण के कारण नहीं हैं। फिर इन्हें कल्याणक क्यों कहा गया है? गर्भ में तो सभी आते हैं, जन्म भी सब लेते हैं। तो तीर्थकरों के गर्भ-जन्म को कल्याणक कहने का क्या औचित्य है?

**समाधान** - यद्यपि पुनः-पुनः गर्भ में आना और बार-बार जन्म लेना कल्याणस्वरूप नहीं होता; परन्तु जिस गर्भ एवं जन्म के बाद पुनः गर्भ में आकर नौ माह तक माता के उदर में औंधे मुँह लटकने का कष्ट न भोगना पड़े और जिसे बारम्बार जन्म की असह्य पीड़ा न झेलना पड़े, उस गर्भ एवं जन्म को कल्याणक कहते हैं। ऋषभदेव का जीव अब किसी माता के गर्भ में नहीं आयेगा, जन्म भी नहीं लेगा; अतः उनके जन्म को जन्मकल्याणक कहते हैं। विशेष पुण्योदय से तीर्थकर के जीव माता के गर्भ एवं जन्म में कष्ट नहीं पाते। तीर्थकर की माता भी गर्भकाल में एवं प्रसूति के समय कष्ट नहीं पातीं। सब सहज हो जाता है। अतः निस्सन्देह तीर्थकर का गर्भ में आना गर्भकल्याणक एवं जन्म लेना जन्मकल्याणक है। बाल तीर्थकर माँ का दुग्धपान नहीं करते, इन्द्र द्वारा अमृत लगा अपने पैर का अगूँठा चूसते हैं।

जन्माभिषेक के पश्चात् बाल तीर्थंकर ऋषभदेव की सौधर्म इन्द्र द्वारा स्तुति की गई। स्तुति का सार इसप्रकार है - “हे देव! मिथ्याज्ञान रूप अंधकूप में पड़े हम संसारी प्राणियों को प्रकाशमय धर्मभूमि पर निकालने हेतु एकमात्र आप ही हस्तावलम्बन हैं। आपकी दिव्यध्वनि रूप वचन किरणों द्वारा हमारे हृदय का घोर अज्ञान अंधकार नष्ट होगा। हे प्रभु! आपका प्रगट होनेवाला केवलज्ञानसूर्य अनन्त पदार्थों को एकसाथ प्रकाशित करनेवाला होगा। हे नाथ! आप अतुल्यबल के धारक हैं, इसकारण आपके नववें पूर्व भव का ‘महाबल’ नाम अब सार्थक हो गया है, आप ललित अंग के धारी हैं, अतः आठमें पूर्व भव में आपकी ललितांगदेव संज्ञा भी आज सार्थक हुई है। इसीप्रकार आपके जितने भी पूर्वभवों के नामों के उल्लेख पुराणों में प्राप्त हैं, आपने इस वर्तमान ऋषभदेव के भव में उन सब नाम निक्षेपों के नामों को भावनिक्षेप में परिवर्तित कर दिया है, सभी नामों को सार्थक सिद्ध कर दिया है।

इसप्रकार जो तीनलोक के अधिपति हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, हमें भी उनका आश्रय लेने योग्य है। ऐसे भगवान ऋषभदेव नाभिराज के घर में दिव्य भोग भोगते हुए देव कुमारों के साथ-साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे। प्रौढ़ होने पर विधिवत् राज्यशासन का संचालन करते रहे।

जब राजकुमार ऋषभदेव युवा हुए तो माता-पिता को उनके विवाह करने का विकल्प आया। वे सोचने लगे - “यद्यपि ऋषभ एकदम आध्यात्मिक प्रकृति का है। राग-रंग में उसका मन बिल्कुल नहीं लगता। वह निरन्तर आत्मचिन्तन में ही रत रहता है। उसे विवाह के लिए राजी करना सरल काम नहीं है, लगता है कि - वह शादी से इन्कार ही कर दे। फिर भी हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उसे शादी के लिए प्रेरित करें, योग्य वधू की तलाश करें; फिर होगा तो वही जो होना होगा।”

महाराजा नाभिराज और माता मरुदेवी ने परस्पर विचार-विमर्श करके और नाना प्रबल युक्तियाँ सोचकर एक दिन राजकुमार ऋषभ से कहा - “आओ पुत्र ऋषभ! हमें तुमसे एक बहुत जरूरी बात करनी है।”

ऋषभदेव ने कहा - “आज्ञा दीजिए तात! आपकी प्रसन्नता के लिए मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने को तत्पर हूँ।”

महाराजा नाभिराज बोले - “बेटा हमें तुमसे यही अपेक्षा और आशा है; पर बात जरा गंभीर है। चलो तुम्हारे कक्ष में चलकर बैठते हैं, वहाँ शान्ति से बात करेंगे।”

राजकुमार ऋषभदेव के कक्ष में बैठकर महाराजा नाभिराज लम्बी भूमिका बांधते हुए समझाने लगे - “बेटा! अब तुम युवा हो गये हो, यद्यपि हम जानते हैं कि तुम्हें इस सांसारिक सुखाभास में किंचित् भी रुचि नहीं है; परन्तु तुम्हें अपनी माता की मनोकामना तो पूर्ण करनी ही होगी। यह सच है कि आत्मधर्म ही सर्वोपरि है अतः तुम आत्मलीन होना चाहते हो; पर यह काम गृहस्थ धर्म में रहकर भी तो हो सकता है। हमने तुम्हारे योग्य अनेक कन्यायें देख रखी हैं, बस तुम्हारे हाँ करने की देर है।”

ऋषभदेव ने सहज ही स्वीकृति देते हुए कहा - “ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।”

इतनी सहजता से ऋषभदेव की “हाँ” सुनकर नाभिराज और मरुदेवी चकित रह गये।

माँ मरुदेवी कहने लगी कि हम तो सोचते थे कि “उसे यह स्वीकृत कराना सहज कार्य नहीं है, पर यहाँ तो कुछ करना ही नहीं पड़ा। सच है महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल होती है, तीर्थकर का जीव है न! जब जो मन में होता है, तब वही वचनों में व्यक्त कर देता है।” यही तो सरलता है महापुरुषों की। उनकी तत्त्वरुचि और वैराग्य भी गृहस्थ की भूमिकानुसार यथार्थ ही है। गृहस्थधर्म में ऐसा ही होता है। अन्तरंग तत्त्वरुचि भी रहती है, उचित वैराग्य भी रहता है और भूमिकानुसार राग भी रहता ही है।

एक ओर तो कुमार ऋषभदेव के यौवनागम में ही ऐसी प्रवृत्ति कि माता-पिता को भी भ्रम हो गया कि यह शादी ही नहीं करेगा और दूसरी ओर ८३ लाख पूर्व की वृद्धावस्था में नीलांजना का नृत्य देखना, क्या इसमें कुछ विरोधाभास नहीं लगता? अज्ञानियों को लगता होगा; पर वस्तुतः विरोध नहीं है। वह तो माता-

पिता पुत्र के अनुरागवश और कुमार ऋषभ की गंभीरता के कारण ऋषभ की परिणति पहचानने में चूक गये थे।

अरे भाई ! कभी-कभी भूमिका की सही जानकारी नहीं होने से भी भ्रम उत्पन्न होता है। माता-पिता के अति अनुराग में भी पुत्रों की थोड़ी-सी वैराग्यवृत्ति बहुत अधिक प्रतीत होती है। उन्हें आशंका होती है कि काश! हमारा पुत्र दीक्षित न हो जाय। जबकि वस्तुतः ऋषभ में ऐसी बात नहीं थी।

नाभिराज और मरुदेवी का यह सोचना कि “यह तो शादी ही नहीं करेगा” उनके अति अनुराग का ही द्योतक था। उनके वैराग्यमयी सदाचारी यौवन अवस्था में शादी करने का सहज राग तो तब भी था ही, तदनुसार ही तो उन्होंने ‘हाँ’ की थी। और वैसी वैराग्य वृत्ति के रहते उनका नीलांजना का नृत्य देखना चौथे गुणस्थान की भूमिका में अनुचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उम्र से धार्मिक प्रवृत्ति और अंतरंग वैराग्यवृत्ति को नहीं नापा जा सकता। नापना भी नहीं चाहिए।

हाँ, इन्द्र-इन्द्राणियों, राजा-रानियों का एकसाथ नाचना साधु-सन्तों और ब्रह्मचारियों को कैसे सुहा सकता है? क्योंकि वे तो इस राग-रंग की भूमिका को पार कर चुके होते हैं। लौकान्तिक देव भी तो दीक्षाकल्याणक के पहले राग-रंग के उत्सवों में नहीं आते, क्योंकि वे भी ब्रह्मचारी होते हैं।

महाराजा नाभिराज ने सुन्दर, सुशील, सती और शांत स्वभाव की यशस्वी और सुनन्दा नामक दो कन्याओं के साथ युवराज ऋषभदेव का विवाह मंगल महोत्सव के साथ कर दिया। वे दोनों कन्यायें राजा कच्छ एवं महाकच्छ की बहनें थीं। विवाहोपरान्त सुख से समय बीत रहा था।

अनेक शुभलक्षणों से सहित ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसका नाम भरत रखा गया। निमित्तज्ञानियों ने शुभ लक्षण देखकर बताया कि यह चक्रवर्ती राजा होगा।

युवराज ऋषभदेव की दो पत्नियाँ थीं - नन्दा (यशस्वी) और सुनन्दा। महारानी नन्दा से भरतादि सौ पुत्र और ब्राह्मी नाम की पुत्री थी और सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री थी। ऋषभदेव

के प्रथम पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर ही इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा है। युवराज ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को तो शस्त्रादि विद्याओं में निपुण किया और ब्राह्मी-सुन्दरी को अक्षर एवं अंकविद्या सिखाई। कर्मभूमि की सभी विद्याओं और कलाओं के मूलजनक राजा ऋषभदेव ही थे। यदि वे युवावस्था में ही दीक्षित हो जाते तो इन विद्याओं और कलाओं का विकास संभव नहीं था। वस्तुतः तीर्थंकर ऋषभदेव तीर्थ प्रवर्तक होने के साथ-साथ युगप्रवर्तक भी थे।

उत्तम पुत्र-पुत्रियों के परिवार से सुशोभित युवराज ऋषभदेव एक बार सिंहासन पर विराजमान थे। वहाँ ब्राह्मी एवं सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने आकर विनयपूर्वक पिताश्री को प्रणाम किया। पिताश्री ने उन्हें गोद में बिठाकर उनके माथे पर प्यार से हाथ फेरा और उनका चित्त प्रसन्न करने हेतु हास्य-विनोद करते हुए उनके गुणों की प्रशंसा की। फिर कहा - तुम बुद्धिमान तो हो ही तुम्हें यदि विद्या और पढ़ा दी जाये तो तुम्हारा जन्म सार्थक हो जायेगा; विद्या की महिमा दर्शाते हुए उन्होंने कहा है कि -

विद्याधन ही सर्वश्रेष्ठ धन है, इसे चोर चुरा नहीं सकते, राजा हड़प नहीं सकते। भाई बांट नहीं सकते, यह खर्च करने पर घटती नहीं; बल्कि दूसरों को बांटने पर बढ़ती ही है; अतः विद्याधन सब धनों में प्रधान है और हाँ, सर्वविद्याओं में अध्यात्म विद्या का तो कहना ही क्या है ? वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही। इससे सर्व मनोरथ पूर्ण होते हैं। अतः अक्षर और अंकविद्या के माध्यम से तुम अध्यात्म विद्या का अर्जन करो।

ऐसा कहकर ऋषभदेव ने दोनों पुत्रियों को अक्षर एवं अंक विद्या सिखाई। पिता ही जिनके गुरु थे - ऐसी दोनों पुत्रियाँ समस्त अंक व अक्षर विद्याओं में पारंगत हो गईं।

पिताश्री ने भरत-बाहुबली आदि सभी पुत्रों को भी चित्रकला, नाट्यकला आदि लौकिक विद्यायें तो पढ़ाई ही, साथ में उन्हें भी अध्यात्म विद्या में पारंगत किया।

ऋषभदेव को जन्मे २० लाख पूर्व हुए ही थे कि इधर तीसरा काल समाप्त होने को था, चौथा काल आते-आते भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होकर कर्मभूमि प्रवर्तन का समय निकट था। कल्पवृक्ष मुरझा गये

थे। उनकी फलदान शक्ति क्षीण हो गई थी। प्रजा घबराकर राजा नाभिराज के पास पहुँची। नाभिराज ने उन्हें युवराज ऋषभदेव के पास भेजा। प्रजा ने युवराज के समीप अपनी समस्याएँ रखीं।

युवराज ऋषभ ने प्रजा को आश्वस्त किया और उन्होंने समस्याओं का समाधान करते हुए बताया— काल के प्रभाव से अब भोगभूमि का समय समाप्त हो रहा है और कर्मभूमि प्रारंभ हो रही है। अतः अब यहाँ तुम्हें पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र की भांति ही असि-मसि-कृषि, वाणिज्य, शिल्प तथा सेवा – ये छह कर्म सीखने होंगे और भिन्न-भिन्न परिवार बसाने के लिए गृहों, ग्रामों और नगर बसाने की व्यवस्था करनी होगी। इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए युवराज ने देवों और इन्द्रों को स्मरण किया। स्मरण करने मात्र से इन्द्र आ गया, देवों और इन्द्रों के द्वारा सर्वप्रथम अयोध्या नगरी के मध्य में मंगलस्वरूप जिनमंदिर का निर्माण कराया गया फिर प्रजा का राहत कार्य यथायोग्य तरीकों से प्रारंभ किया। जिसमें, सुकौशल, अवन्तिका, मालव, वत्स, पांचाल, कासी, कलिंग, अंग, बंग, कच्छ, कश्मीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, विदर्भ, आन्ध्र, कर्णाटक आदि अनेक देश-नगर बसाये। इन्द्र द्वारा पुर बसाये जाने से ही उसका एक नाम पुरन्दर भी है।

युवराज ऋषभदेव ने प्रजाजनों को असि (शस्त्र), मसि (लेखनी), कृषि, व्यापार विद्या और शिल्प – इन छह कार्यों द्वारा आजीविका का उपदेश दिया। ऋषभदेव अभी सरागी थे, गृहस्थ थे, वीतरागी नहीं हुए थे। अतः ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए कि भगवान ने खेती और शस्त्र चलाने जैसे हिंसोत्पादकज्ञान का उपदेश क्यों दिया ? वे अभी गृहस्थ थे और गृहस्थ आरंभी और विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं होता है। आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा को त्यागने योग्य मानते हुए भी अभी उनका त्याग संभव नहीं था। आरंभ और उद्योग में हिंसा होती अवश्य है; पर उसमें उद्देश्य हिंसा करना नहीं, बल्कि प्रजा का संरक्षण, पालन-पोषण और आजीविका देना होता है और उससमय गृहस्थ की भूमिका होने से वे उसके त्यागी हो भी नहीं सकते थे। तभी तो कहा है कि मुनि हुए बिना मोक्ष नहीं होता। संयम तो तीर्थकरों को भी धारण करना ही होता है। कहा भी है – जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रूल्यो जग कीच में।

इक घरी मत विसरौ करो यह आयु जम मुख बीच में॥

भाई! एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगी भावों में महान अन्तर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र! सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराज के दरबार में ताण्डवनृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते; जबकि दोनों चतुर्थ गुणस्थान वाले अविरति समकिति हैं।

संयोगों और संयोगी भावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक-सी ही है। अतः संयोगी भावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है। ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगी भावों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

वह समय युग की आदि का समय था, कर्मभूमि प्रारंभ ही हुई थी। लोगों को कर्मभूमि की व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं था। कल्पवृक्ष समाप्त हो गये थे। खान-पान की व्यवस्था श्रमसाध्य हो गई थी। लोगों को अनाज उगाने और भोजन पकाने की विधि भी ज्ञात नहीं थी। यह सब रूपरेखा भी ऋषभदेव ने ही दी। अतः उनका लम्बे कालतक राजकाज संभालना युग की आवश्यकता थी।

कर्मभूमि के आद्य सूत्रधार वे ही थे। उनके द्वारा दी गई व्यवस्था हमारे गृहस्थ जीवन का मूलाधार है। हमें अपने जीवन को उनके आदर्श जीवन के अनुसार व्यवस्थित करना चाहिए।

महाराजा ऋषभदेव का त्रेसठ लाख पूर्व का भारी काल पुत्र-पौत्र आदि से घिरे रहने के कारण, उनके स्नेहपूर्ण मधुर व्यवहार से सुख का अनुभव करते हुए, उन्हें इस बात का पता ही न चला कि “राज्य करते हुए मेरा इतना लम्बा काल कब/कैसे बीत गया ?”

ऋषभदेव का वैराग्य - एक दिन सैकड़ों राजाओं से घिरे हुए राजा ऋषभदेव सिंहासन पर विराजे थे। भक्ति विभोर इन्द्र ने ऋषभदेव को प्रसन्न करने की भावना से अप्सराओं और गंधर्वों का नृत्य कराना प्रारंभ किया। उस नृत्य ने राजा ऋषभदेव के मन को मोह लिया। सो ठीक ही है - शुद्ध स्फटिकमणि भी लाल



रंग के संसर्ग से लाल हो जाता है। इसी बीच एक घटना घटी – राजा ऋषभदेव के राजदरबार में नृत्य करते-करते बीच में ही नीलांजना की मृत्यु हो गई/दर्शकों के मनोरंजन में विघ्न न हो एतदर्थ तत्काल वैसी ही इन्द्र द्वारा अन्य देवांगना उपस्थित कर दी गई। लोगों को पता ही न चला कि नृत्यांगना बदल गई है। पर ऋषभदेव की सूक्ष्मदृष्टि से बात छुपी न रह सकी।

जगत के इस स्वार्थीपन ने उनके चित्त को विरक्त कर दिया। वे सोचने लगे कि हमारा मनोरंजन इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि नृत्यांगना की मौत की कीमत पर भी हमारे रंग में भंग नहीं पड़ना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि “मौतें तो उन्होंने पहले भी देखी थीं, नीलांजना की मौत ही उनके वैराग्य की निमित्त क्यों बनी, वस्तुतः नीलांजना की मृत्यु कारण नहीं बनी; बल्कि जगत की निष्ठुरता और स्वार्थीपना देख उनका दिल दहल गया। वे सोचने लगे जगत के जीव बड़े स्वार्थी हैं, निष्ठुर हैं, जहाँ इनका स्वार्थ सधता हो वहाँ दूसरों की पीड़ा की ये किंचित् भी परवाह नहीं करते।”

ऋषभदेव यह सब पहले से जानते थे; क्योंकि वे तो ज्ञानी थे, धर्मात्मा थे; पर अभी तक उन्हें वैराग्य क्यों नहीं हुआ? इन सबका एक ही उत्तर है कि अभी उनकी काललब्धि नहीं आई थी। अभी वैराग्य का स्वकाल नहीं आया था अर्थात् अभी उनकी पर्यायगत योग्यता का परिपाक नहीं हुआ था। निमित्तों से क्या होता है, जब तक जीव की योग्यता का परिपाक न हो। वस्तुतः अन्तर की तैयारी के बिना कुछ नहीं होता।

ऋषभदेव तो जन्म से ही क्षायिक समकिती थे, अवधिज्ञानी थे, तीर्थंकर थे, तद्भवमोक्षगामी थे, परंतु जबतक उनकी योग्यता का परिपाक नहीं हुआ, तबतक वैराग्य नहीं हुआ। काललब्धि आते ही पाँचों समवाय एकसाथ मिल गये और उन्हें वैराग्य हो गया।

ऋषभदेव प्रत्युत्पन्नमति तो थे ही, नीलांजना की निमिषमात्र में अचानक मृत्यु के प्रसंग में ऋषभदेव भव-तन-भोग से विरक्त हुए ही इन्द्र के इस सद्भिप्राय को भी समझ गये कि इन्द्र ने मुझे प्रतिबोधन हेतु नृत्य के लिए जानबूझकर यही नीलांजना राजदरबार में भेजी। वे इन्द्र की चतुराई से प्रसन्न हुए और बारह

भावनाओं का इसप्रकार चिन्तवन करने लगे। “सचमुच मेरी मनुष्यपर्याय इन क्षणभंगुर राज भोगों और राग-रंग के लिए नहीं है, मैं इतने दिनों तक इनमें उलझा रहा - यही बड़ा अफसोस है।”

तपकल्याणक - ‘ऋषभदेव को वैराग्य हो गया’ यह जानते ही ब्रह्मस्वर्ग से लौकान्तिक देव तपकल्याणक की पूजा करने अयोध्या आये और स्तुति करके उन्होंने राजा ऋषभदेव के वैराग्य की अनुमोदना की। आठप्रकार के लौकान्तिकदेव अपने पूर्व भव में श्रुत केवली होते हैं, वे एक भवावतारी होते हैं, उनके लोक का अन्त आ गया, इसकारण उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। वे ऋषभदेव की स्तुति करते हुए कहने लगे - “हे नाथ! आप केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा अज्ञान में डूबे हुए संसार के उद्धार में सद्निमित्त बनेंगे। आपके द्वारा दर्शाये धर्मतीर्थ को प्राप्त करके भव्यजीव इस संसार समुद्र को क्रीड़ामात्र में पार कर लेंगे। आपकी वाणी भव्य जीवों के कल्याण का कारण बनेगी। प्रभो! आप धर्मतीर्थ के नायक हो। हे प्रभु! आप स्वयंभू हो। आपने मोक्ष का मार्ग स्वयं जान लिया है। आपकी दिव्यवाणी प्रत्येक आत्मा के स्वयंभू स्वरूप को समझायेगी।”

ब्रह्मस्वर्ग के देव आगे कहते हैं कि “हम आपको प्रतिबोधने वाले कौन ? हममें कहाँ ऐसी सामर्थ्य है, हमारा तो मात्र शिष्टाचार है, इसे नियोग ही कहना चाहिए। वस्तुतः आप तो स्वयंबुद्ध हैं। भव्य जीव चातकवत आपकी दिव्यध्वनिरूप अमृतवर्षा की आशा से आपकी ओर निहार रहे हैं। अतः आप शीघ्र ही दीक्षा लेकर स्वरूप में सावधान होकर केवलज्ञान प्राप्त कर भव्यचातकों को दिव्यध्वनि का अमृत पान कराओ।” इसप्रकार ब्रह्मर्षि देवों द्वारा स्तुति किए जाने पर महाराजा ऋषभदेव ने दीक्षा धारण करने का निश्चय कर लिया। ब्रह्मर्षि देव ऋषभदेव के वैराग्य की अनुमोदना करके वापिस ब्रह्म स्वर्ग चले गये।

उसी समय इन्द्रासन डोलने से सौधर्म इन्द्र ने जाना कि ऋषभदेव के तपकल्याणक का समय आ गया है। अतः वे तपकल्याणक का उत्सव करने सब देव और इन्द्रों के साथ अयोध्या आये। क्षीरसागर के जल से सम्राट ऋषभदेव का अभिषेक किया। सम्राट ऋषभदेव ने बाहुबली को पोदनपुर का राज्य देकर युवराज

पद दिया। शेष ९९ पुत्रों को भी राज्य का भिन्न-भिन्न भाग देकर सम्राट ऋषभदेव दीक्षा हेतु पूर्ण निराकुल हो गये। संसार संबंधी कोई चिन्ता उन्हें नहीं रही।

माता-पिता आदि परिवार से विदाई लेकर इन्द्र द्वारा सजाई गई सुदर्शन नामक पालकी पर जब वैरागी सम्राट ऋषभदेव सवार हुए तब इन्द्र ने अति आदर पूर्वक बिठाया। उस समय वहाँ उपस्थित इन्द्रों, विद्याधरों भूमिगोचरी राजाओं में यह विवाद हुआ कि सर्वप्रथम पालकी कौन उठाये ?

अन्ततोगत्वा यह निर्णय हुआ जो तीर्थंकर के साथ संयम धारण कर सकें, उन्हें ही पालकी उठाने का अधिकार है। एक मात्र मानवों में संयम धारण की पात्रता होती है, अतः यह अधिकार उन्हें प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। इन्द्रों को मानवों से ईर्ष्या हुई, उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा - "हे प्रभो! हम मनुष्य पर्याय पर अपना इन्द्रपद न्यौछावर करने को तैयार हैं, हमारा इन्द्र पद लेकर बदले में हमें मनुष्य पर्याय दे दें।"

यहाँ अफसोस यह है कि हमें परम सौभाग्य से न केवल मनुष्यभव मिला, बल्कि उत्तमकुल भी मिला, श्रेष्ठ जाति, अच्छा क्षयोपशम, परिवार की अनुकूलता, सत्संगति आदि सब कुछ मिला; फिर भी हम चेतते नहीं हैं। क्षणिक पर्याय की अनुकूलता मे मुग्ध होकर हम अपना अमूल्य मनुष्य भव यों ही भोगों में गमा रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि हमें भी कभी पछताना पड़े और देवों की भांति मनुष्य भव प्राप्त करने की याचना करनी पड़े।

हमें देवों और मानवों में हुए संघर्ष से यह सबक सीखना चाहिए कि हम अपना अमूल्य समय व्यर्थ न गमायें। संयम धारण कर तीर्थंकरों का अनुसरण करते हुए अपनी मानव पर्याय सार्थक करें।



## ऋषभदेव का दीक्षाकल्याणक

वैरागी राजा ऋषभदेव राज वैभव से विरक्त होकर सम्पूर्ण स्वतंत्रता का सुख प्राप्त करने के लिए वन में प्रवेश कर रहे थे। पिताश्री के दीक्षाकल्याणक के हर्ष के प्रसंग में महाराजा भरत किमिच्छिक दान दे रहे थे। यशस्वती और सुनन्दा महारानियाँ एवं सहस्रों राजा उनके पीछे चल रहे थे।

महाराज नाभिराज तथा माता मरुदेवी भी उनके साथ-साथ तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिए पीछे-पीछे जा रहे थे। सम्राट भरत एवं बाहुबली कुमार भी वैरागी पिता के पीछे चल रहे थे। वैरागी राजा ऋषभदेव अयोध्या से थोड़ी ही दूर सिद्धार्थ वन में इन्द्र द्वारा निर्मित एक चन्द्रकान्त मणियों से बनी हुई पवित्र शिला पर जा विराजे। साथ चले रहे लोग सभा में परिवर्तित हो गये। दीक्षा से पूर्व राजा ऋषभदेव ने देवों तथा मनुष्यों की सभा को योग्य उपदेश द्वारा प्रशान्त एवं प्रसन्न किया और अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का सर्वथा त्याग कर उपस्थित जनसमूह की साक्षीपूर्वक स्वतः ही दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली। पूर्वदिशा सन्मुख पद्मासन लगाकर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करके पंचमुष्टि से केशलोच किया। इन्द्र ने उन केशों को रत्नमयी मंजूषा में रखकर क्षीर सागर में प्रवाहित कर दिये। जिस चैत्र कृष्ण नवमी तिथि में वे जन्मे थे, उसी तिथि में उन्होंने मुनि दीक्षा ली थी। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान हो गया। उन्होंने उसीसमय छह मास का उपवास ग्रहण कर लिया और खड़गासन में ध्यानस्थ हो गये।

यहाँ ज्ञातव्य है कि तीर्थंकर ॐ नमः सिद्धेभ्यः कहकर स्वयं दीक्षित होते हैं, उनका कोई गुरु नहीं होता। वे किसी से दीक्षा लेते भी नहीं और किसी को दीक्षा देते भी नहीं हैं। वे दीक्षा लेते ही जीवन भर को मौन धारण कर लेते हैं। वे किसी को साथ नहीं रखते। वे तो एकल विहारी ही होते हैं। केवलज्ञान होने के बाद

उनकी दिव्यध्वनि अवश्य खिरती है; पर वे छद्मस्थ मुनिदशा में बिल्कुल नहीं बोलते। दिव्यध्वनि भी सर्वांग से खिरती है। अतः मुँह से तो वे फिर भी नहीं बोलते।

स्वामीभक्ति से प्रेरित होकर ऋषभ मुनिराज के साथ आगा-पीछा सोचे बिना राजकच्छ एवं महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी उनकी देखा-देखी जिनदीक्षा ले ली, किन्तु जब ऋषभ मुनि बिना कुछ कहे छह माह को ध्यानस्थ हो गये तो वे चार हजार मुनि वेषधारी राजा भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी के कारण भ्रष्ट हो गये। अब उनके लिए महाराज भरत के भय से पुनः वस्त्र धारण कर घर लौटना भी संभव नहीं था और यथार्थ मार्गदर्शक के बिना वन में रहना भी कठिन हो रहा था। वे मुनिराज ऋषभदेव के अनिश्चितकालीन ध्यान समाप्त होने की प्रतीक्षा में कबतक धैर्य रखते। अतः वन में ही कन्दमूल, फलादि के द्वारा अपना उदर पोषण करते हुए मुनिराज ऋषभदेव के ध्यान पूर्ण होने की प्रतीक्षा करने लगे। अस्तु, उसका दुष्परिणाम जो होना था, वह हुआ।

जब वे भ्रष्ट होकर भक्ष्य-अभक्ष्य फल खाने लगे, नदी-तालाब का अप्रासुक पानी पीने लगे तो मुनिवेष में उनकी ऐसी अयोग्य प्रवृत्ति देखकर वनदेवता ने उन्हें ऐसा करने से रोका और कहा कि “तुम नग्न दिगम्बर वेष में ऐसा निंद्य काम मत करो।”

वनदेवता ने आगे कहा - “अरे! भोले भक्तो! ऐसा दिगम्बर वेष तो सिंहवृत्ति के धारक तीर्थंकर आदि महापुरुष मोक्ष की साधना के लिए धारण करते हैं। इस वेष में तुम कायरों जैसी दीन-हीन दुष्प्रवृत्ति मत करो। दिगम्बर वेष में रहकर सचित्त कन्द-मूल मत खाओ और यह अप्रासुक जल मत पिओ। मुनिराज का बाह्य आचार अति उत्तम प्रकार का जगत के लिए आदर्श होता है।”

वनदेवता के ऐसे वचन सुनकर राजा भयभीत हुए और नग्नवेष छोड़कर वल्कल (वृक्षों की छाल) आदि अनेकप्रकार के वेष धारण कर स्वच्छन्दतापूर्वक रहने लगे। यद्यपि उनकी वह मजबूरी थी, परंतु धीरे-धीरे

उनके द्वारा अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हो गये। फिर भी वे जल और फल के उपहारों से मुनिराज ऋषभदेव के चरण पूजते रहे; क्योंकि स्वयंभू भगवान ऋषभदेव के सिवाय उनका अन्य कोई उपास्य देव नहीं था।

ऋषभदेव का पौत्र मारीचि भी साधु बन गया था। वह कुछ प्रतिभासम्पन्न तेजस्वी पुरुष था। अतः उसने उन भ्रष्ट राजाओं का प्रमुख बनकर उन्हें मिथ्यामत का उपदेश देकर एक पंथ का प्रवर्तन भी किया। जब धर्म के नाम पर यह सब उथल-पुथल हो रही थी, तब मुनिराज ऋषभदेव आत्मसाधना में लीन थे। तीन गुप्तियों के धारक थे। आत्मचिन्तन के सिवाय न मन में कुछ अन्य सोचते, न वाणी से कुछ कहते और न काया से कुछ करते - इसतरह मन-वचन एवं काय को काबू में रखकर तीन गुप्तियों का पालन करते हुए ध्यानस्थ थे। संयम उनका कवच था तथा सम्यग्दर्शन आदि गुण उनके सैनिक थे, जिनसे वे अपने आप में पूर्ण सुरक्षित थे।

जब मुनिराज ऋषभदेव तप में लीन थे, तब उसी बीच में कच्छ-महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि राजकुमार मुनिराज ऋषभदेव के पास आये और प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन्! आपने हमें राज्य में कुछ हिस्सा नहीं दिया, अतः हमें भी कुछ जीवन-निर्वाह की सामग्री प्रदान करो।

मुनिराज ऋषभदेव के तप में विघ्न के इस प्रसंग से धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। धरणेन्द्र ने अपना आसन कम्पायमान होने से यह जाना कि मुनि के स्वरूप से अनजान नादान राजकुमार नमि-विनमि मुनिराज के ध्यान में व्यर्थ ही विघ्न डाल रहे हैं तो धरणेन्द्र ने वेष बदल कर मुनिराज के पास पहुँच कर सर्वप्रथम मुनिराज की स्तुति-वंदना की फिर राजकुमार नमि-विनमि को समझाया कि - “ये मुनिराज तो सब ओर से पूर्ण निस्पृह हैं, तुम्हें इसतरह इनके ध्यान में विघ्न नहीं डालना चाहिए। यदि तुम्हें राजपाट, धन-दौलत और भोग-सामग्री चाहिए तो महाराजा भरत के पास जाओ। मुनिराज तो सब कुछ छोड़कर मुक्ति की साधना कर रहे हैं। वे तुम्हें भोग सामग्री कहाँ से देंगे ?”

यह सुनकर वे दोनों राजकुमार धरणेन्द्र से बोले - “हे महानुभाव! आप यहाँ से चले जाओ। हमें आपकी

सलाह की जरूरत नहीं है। यद्यपि आप सौम्य, शान्त और तेजस्वी हैं, आप कोई भद्रपरिणामी महापुरुष लगते हैं; परन्तु हमारे बीच में पड़कर अपनी मूर्खता का परिचय क्यों देते हो ? हमें माफ़ करो। हम आपको मूर्ख कहने की गुस्ताखी नहीं कर सकते; परन्तु दो के बीच में बोलने वालों को नीतिकारों ने मूर्खों की श्रेणी में रखा है। अतः हमारी हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि आप हमारे बीच में न पड़े तो उत्तम है। हम तो ऋषिराज ऋषभदेव को प्रसन्न करना चाहते हैं, ये ही हमारे सर्वस्व हैं। हम इन्हें छोड़ कर अन्यत्र कहीं जानेवाले नहीं हैं।”

राजकुमारों की मुनिराज के प्रति श्रद्धा-भक्ति देखकर वह धरणेन्द्र अपने असली रूप में प्रगट होकर बोला - “हे कुमारो ! मैं धरणेन्द्र हूँ और मुनिराज का सेवक हूँ। मैं मुनिवर के प्रति तुम्हारी भक्तिभावना से तुमसे प्रसन्न हूँ, चलो मैं तुम्हें मुनिवर ऋषभदेव के ही पूर्व आदेशानुसार और तुम्हारी इच्छानुसार विजयार्ध पर्वत की पूर्व श्रेणी और उत्तर श्रेणी का राजपाट और भोग-सामग्री देता हूँ।”

धरणेन्द्र की बात सुनकर दोनों कुमार प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि सचमुच मुनिराज ऋषभदेव हमारे ऊपर प्रसन्न हो गये हैं। उनके पुण्य योग से और धरणेन्द्र के निमित्त से उन दोनों के मनोरथ पूर्ण हो गये।

विजयार्द्ध पर्वत की प्रशंसा करते हुए धरणेन्द्र ने नमि और विनमि राजकुमारों को विजयार्ध पर्वत का परिचय कराया। राजकुमारों ने भी पर्वत की प्रशंसा सुनकर प्रसन्नता प्रगट की। पश्चात् उस धरणेन्द्र के साथ पर्वत से नीचे उतर कर अति श्रेष्ठ रथनूपुरचक्रवाल नामक नगर में प्रवेश किया। धरणेन्द्र ने वहाँ उन दोनों को सिंहासन पर बैठाकर सब विद्याधरों से कहा कि “ये तुम्हारे स्वामी हैं।” और फिर उस धरणेन्द्र ने विद्याधारियों के हाथों से उठाये हुए स्वर्ण कलशों से इन दोनों का राज्याभिषेक किया। इसके पश्चात् धरणेन्द्र ने विद्याधरों से कहा - “जिसप्रकार इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है, उसीप्रकार यह नमि अब दक्षिणश्रेणी का अधिपति है और यह विनमि उत्तर श्रेणी का अधिपति है। कर्मभूमि की व्यवस्था से अनजान प्राणियों को मार्गदर्शन देनेवाले जगद्गुरु तीर्थंकर राजा ऋषभदेव ने अपनी सम्मति से इन नमि-विनमि राजकुमारों को यहाँ भेजा है, इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेम से मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा का पालन करें।”

इस निर्देश के साथ ही धरणेन्द्र ने दोनों राजकुमारों को गान्धार पदा और पन्नगपदा नाम की दो विद्यायें दीं। इसतरह अपना कार्य पूरा कर धरणेन्द्र वापिस चला गया। धरणेन्द्र के चले जाने पर वहाँ के विद्याधरों ने दोनों राजकुमारों को अपना स्वामी मानते हुए उनकी आज्ञा का पालन कर अपने व्यवहार से उन्हें संतुष्ट किया।

आचार्य कहते हैं कि - “देखो ! ये नमि और विनमि कहाँ तो उत्पन्न हुए और कहाँ उन्हें समस्त शत्रुओं को तिरस्कृत करनेवाला यह विद्याधरों के इन्द्र का पद मिला। यथार्थ में मनुष्य के द्वारा सत्कर्मों से उपार्जित पुण्य ही जगत में सुखद संयोग देनेवाला है।”

नमिकुमार ने बड़ी-बड़ी भोगोपभोग की सम्पदाओं को प्राप्त हुए दक्षिणश्रेणी पर रहनेवाले समस्त विद्याधर राजाओं को अपने आधीन कर लिया था और विनमि ने उत्तरश्रेणी पर रहनेवाले समस्त विद्याधर राजाओं को नम्रीभूत किया था। इसप्रकार वे दोनों राजकुमार विजयाब्ध पर्वत के तट पर निष्कंटक रूप से रहते थे।

हे भव्य जीवो! देखो, मुनिराज ऋषभदेव के चरणों का आश्रय लेने वाले इन दोनों राजकुमारों को पुण्य से ही इसप्रकार की विभूति प्राप्त हुई। इसलिए जो जीव स्वर्ग आदि की लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हैं, वे सत्कार्यों द्वारा पुण्य का संचय करें।

— — — — —

ऋषभ मुनिराज की हस्तिनापुर में प्रथम पारणा :- अचिन्त्य महिमावन्त मुनिराज ऋषभदेव को प्रतिज्ञापूर्वक योग धारण किए जब छह माह पूर्ण हो गये तब उन्होंने देखा और सोचा कि “ये बड़े-बड़े राजवंशों में उत्पन्न हुए सुकुमार राजा, जो यतिचर्या से सर्वथा अनजान थे। भावुकतावश मेरे भरोसे मेरे साथ दीक्षित हो गये और मैंने ६ माह तक योगसाधना करने की प्रतिज्ञा ले ली तो इनको भ्रष्ट तो होना ही था, सो हो गये। अस्तु, वस्तुतः मोक्ष की साधना के लिए शरीर की स्वस्थ स्थिति रखना तो आवश्यक है ही, एतदर्थ आहार भी



अनिवार्य है। यद्यपि मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न तो कृश ही करना है और न ही स्वादिष्ट पौष्टिक भोजन से इसे पुष्ट ही करना है। जिसप्रकार ये इन्द्रियाँ और मन अपने वश में रहें, कुमार्ग की ओर न दौड़े, इसप्रकार की शुद्ध आहार-विहार की मध्यमवृत्ति का आश्रय ले लेना चाहिए। प्राणधारण करने के लिए आहार ग्रहण करना जिनवाणी में भी दर्शाया गया है। कायक्लेश भी उतना ही करना चाहिए, जितने से संक्लेश न हो।

हाँ, वात-पित्त-कफ आदि दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक उपवास आदि भी करना चाहिए तथा प्राणधारण के लिए शुद्ध एवं विधिवत् आवश्यकतानुसार अल्प आहार भी ग्रहण करना चाहिए अन्यथा चित्त चंचल हो जाता है और मुक्तिमार्ग से च्युत भी हो जाता है। संयमरूपी यात्रा की सिद्धि के लिए शरीर के पोषक गरिष्ठ एवं रसीले आहार में आसक्त न होकर निर्दोष एवं सुपाच्य आहार ग्रहण करना चाहिए।”

इसप्रकार निश्चय कर धीर-वीर मुनिवर ऋषभदेव ने आहारचर्या के पथ प्रदर्शन हेतु योग समाप्त कर आहार हेतु ईर्यासमिति पूर्वक विहार किया। गृहस्थ लोग मुनिवर की प्रतीक्षा में बैठे-बैठे वही चर्चा कर रहे थे कि मुनिवर के दर्शन पाकर वे धन्य हो गये।

मुनिराज जहाँ-जहाँ भी आहार के लिए पधारते वहाँ के लोग प्रसन्नता से भक्तिपूर्वक नमन करते और उन्हें नंगे पैर, नग्नदशा में देखकर जूते-कपड़े भेंट करते तथा पूछते कि हे देव! कहिए क्या आज्ञा है? आप जिस कार्य के लिए यहाँ पधारे, वह हमें बताइए, आज्ञा दीजिए। अनेक लोग उन्हें पैदल चलता देख हाथी-घोड़े-रथ-वस्त्राभूषण-रत्न तथा भोजनादि सामग्री मुनिराज को अर्पण करने के लिए लाते। कोई उनका गृहस्थ जीवन बसाने हेतु अपनी युवती कन्या को मुनिराज से ब्याहने का प्रस्ताव करते, ताकि उनका गृहस्थ जीवन पुनः व्यवस्थित हो सके।

मुनिराज सोचते - “अरे! रे! कैसी अज्ञानता है यह ?” यह सोचकर मुनिराज चुपचाप आगे चले जाते। वे किसलिए पधारे हैं ? यह नहीं समझ पाने से कुछ लोग तो अश्रुपूरित नेत्रों से मुनिराज के चरणों से लिपट

जाते। इसप्रकार अनेक नगरों तथा ग्रामों में विहार करते-करते सात माह और नौ दिन का समय निराहार अवस्था में बीत गया।

एक दिन विहार करते हुए मुनिराज ऋषभदेव कुरुक्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। उस समय हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ और उनके लघु भ्राता श्रेयांस कुमार थे। ये राजा श्रेयांस अपने पूर्व के सातवें भव में आहार दान के समय जो कि ऋषभदेव के ब्रजजंघ की पर्याय में उनकी श्रीमती नाम की रानी थे। वही यह राजा श्रेयांसकुमार हैं। मुनिराज जिस दिन हस्तिनापुर पधारने वाले थे, उसी दिन की पूर्व रात्रि के पिछले प्रहर में श्रेयांसकुमार ने पूर्वसंस्कार के बल से सुमेरु पर्वत, कल्पवृक्ष, सिंह, बैल, सूर्य-चन्द्र, समुद्र आदि सात स्वप्न देखे। जिनका फल 'अपने आंगन में आहार के निमित्त मुनिराज का पदार्पण था।'

प्रभात होने पर दोनों भाई स्वप्नों की चर्चा कर ही रहे थे कि योगिराज मुनि ऋषभदेव ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। मुनिराज के आगमन से आनन्दित होकर चारों ओर से नगर निवासियों के समूह मुनिराज के दर्शन हेतु उमड़ पड़े। भोले-भाले लोग कह रहे थे कि मुनिराज फिर प्रजाजनों की रक्षा करने पधारे हैं। ऋषभदेव सबके पितामह हैं।

अब तक ऐसा सुना था, आज प्रत्यक्ष देखा है। जब नगर में उनके प्रति भक्ति भावना से लोग नानाप्रकार से अपने-अपने भक्तिभाव भरे वचन बोल रहे थे, तब भी मुनिराज तो अपने संवेग और वैराग्य की सिद्धि के लिए वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते-करते अपनी आत्मा की धुन में ही चले जा रहे थे। लोग कह रहे थे - "अहो ऐसी राग-द्वेष रहित समता वृत्ति को धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।"

'मुनिराज ऋषभदेव राजमहल की ओर पधार रहे हैं' यह जानकर सिद्धार्थनामक द्वारपाल ने तुरन्त राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांस को सूचना दी कि मुनिराज ऋषभदेव राजमहल की ओर पदार्पण कर रहे हैं।

यह सुनते ही दोनों भाई, मंत्री आदि सहित खड़े हुए और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजमहल के प्रांगण में आकर उन्होंने दूर से ही मुनिराज के चरणों में भक्तिभाव पूर्वक नमस्कार किया। मुनिराज के पधारते ही सम्मान

सहित पादप्रक्षालन करके अर्घ्य चढ़ाकर पूजा की तथा प्रदक्षिणा दी। मुनिराज का रूप देखते ही राजा श्रेयांस को जातिस्मरण ज्ञान हुआ और पूर्व भव के संस्कार के कारण मुनिराज को आहारदान देने की विधि ज्ञात हो गई। व्रजजंघ और श्रीमती के पूर्व भव का सारा वृत्तान्त उन्हें स्मरण हो आया। उस भव में श्रीमती ने सरोवर के किनारे दो मुनियों को आहारदान दिया था। जो उन्हीं के पुत्र थे। वह सब याद आ गया। बस, फिर क्या था। राजा श्रेयांस ने ऋषभ मुनिराज को अत्यन्त भक्तिभाव से इक्षुरस का आहारदान किया। इसप्रकार मुनि ऋषभ को सर्वप्रथम आहारदान देकर उन्होंने इस चौबीसी में आहारदान की प्रवृत्ति चलाई, दानतीर्थ का प्रवर्तन किया। उन्होंने नवधा भक्तिपूर्वक और श्रद्धा आदि सात गुणों सहित दान दिया।

ऋषभ मुनिराज खड़े-खड़े अपने करपात्र में इक्षुरस का आहार ले रहे थे, वह दिन वैशाख शुक्ला तीज का था, जो आज भी अक्षय तृतीया के नाम से प्रचलित है। आहारदान की खुशी में उस समय देवगण आकाश मार्ग से पंचाश्चर्य सहित पुष्पवृष्टि कर अनुमोदना कर रहे थे।

मुनिराज ऋषभदेव को प्रथम पारणा कराने से राजा श्रेयांस का यश सारे जगत में फैल गया। आहारदान की क्रिया जानकर चक्रवर्ती भरत आदि को महान आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे 'मौन धारण किए हुए मुनिराज का अभिप्राय उन्होंने कैसे जान लिया? देवों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ और आनन्दित होकर उन्होंने राजा श्रेयांस का सम्मान किया। महाराज भरत ने भी अयोध्या से हस्तिनापुर आकर राजा श्रेयांस का सम्मान किया और अति हर्ष व्यक्त करते हुए पूछा - "हे महादानपति! यह तो बताइए कि मुनिराज के मन की बात आपने कैसे जान ली? इस भरतक्षेत्र में पहले कभी नहीं देखी गई यह दान की विधि आदि आपने न बतलाई होती तो कौन जान पाता? हे कुरुराज! आज आप हमारे लिए गुरु समान पूज्य बने हैं। आप दानतीर्थ के प्रवर्तक हैं, महापुण्यवान हैं, इस दान की पूरी बात हमें बतलाइए।"

राजा श्रेयांस ने बताया - "यह सब मैंने पूर्वभव के स्मरण से जाना है, जब मुनिराज के सर्वप्रथम दर्शन किए तो उनका उत्कृष्टरूप देखकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और मैंने मुनिराज का अभिप्राय जान लिया। पूर्व के आठवें भव में जब ऋषभ मुनिराज राजा वज्रजंघ थे तब मैं उनकी श्रीमती नाम की रानी था। तब

मैंने राजा के साथ दो चारणऋद्धि धारक मुनिराजों को आहारदान दिया था, उन संस्कारों का स्मरण होने से मैंने आज भी उसी विधि से आहार दान दिया।”

“अहा! सच्चे सन्तों को आहार दान देने का अवसर प्राप्त होना भी बहुत बड़े पुण्य का फल है। ऐसा कल्याणकारी पावन अवसर पाना आपका परम सौभाग्य है” – इसप्रकार राजा श्रेयांस की प्रशंसा करते हुए महाराज भरत ने राजा श्रेयांस के सुकृत की और सौभाग्य की बारम्बार सराहना की।

दान का स्वरूप समझाते हुए राजा श्रेयांस महाराजा भरत से कहते हैं कि “स्वपर के उपकार हेतु मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक अपनी वस्तु योग्यपात्र को सम्मानपूर्वक देने को दान कहते हैं। जो श्रद्धादि गुणों से सहित हो वह दाता है। आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभय – ये चारों वस्तुएँ देय हैं। जो रागादि दोषों से दूर और सम्यक्त्वादि गुणों से सहित वह ही पात्र है। उनमें जो मिथ्यादृष्टि है; किन्तु व्यवहार में व्रत-शील संयम धारण करनेवाले जघन्य पात्र हैं। अव्रती सम्यकदृष्टि मध्यमपात्र हैं और व्रत शील सहित समकिती उत्तम पात्र हैं। तथा व्रतशील से रहित मिथ्यादृष्टि पात्र नहीं हैं, अपात्र हैं।

यहाँ जो दिव्य पंचाश्चर्य हुए, रत्नवृष्टि आदि हुई – ये सब दान की महिमा को प्रगट करते हैं। अब मुनिराज ऋषभदेव के तीर्थ में उत्तम, मध्यम आदि पात्र सर्वत्र फैल जाएंगे। जहाँ-तहाँ मुनि विचरेंगे। इसलिए हे भरत! दान की विधि जानकर आपको भी भक्तिपूर्वक आहारदान देना चाहिए।”

इसप्रकार दान का उपदेश देकर राजा श्रेयांस ने दान तीर्थ का प्रवर्तन किया। राजा श्रेयांस के श्रेयस्कर वचन सुनकर राजा भरत को उनके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई और उन्होंने अति हर्ष से राजा श्रेयांस और सोमप्रभ का सम्मान किया।

आहार लेकर वन में पधारे मुनि ऋषभदेव की इन्द्रों ने एवं देवों ने इसप्रकार जोर-जोर से स्तुति की – “हे स्वामिन् ! यद्यपि हम जैसे जीव आपके अगणित गुणों की स्तुति नहीं कर सकते, तथापि भक्ति के वश स्तुति के बहाने हम अपने परिणामों की विशुद्धि एवं आत्मा की उन्नति ही कर रहे हैं। हे प्रभो! वैसे तो आप

स्वभाव से ही तेजस्वी हो, किन्तु आपके तपरूप तेज से आप और भी अधिक दैदीप्यमान हो गये हो।”

इसप्रकार नाना तरह से इन्द्रों द्वारा हजार नेत्रों से दर्शन एवं स्तुति के उपरान्त देवों ने भी मुनिनाथ की पूजा-स्तुति की। हे मुनिवर! अपकी यह पारमेश्वरी दीक्षा गंगा नदी के समान तीनों लोकों का सन्ताप दूर करनेवाली है। हे यतीन्द्र! आप चंचल लक्ष्मी को त्यागकर एवं स्नेह रूप बन्धन को तोड़कर, धन की धूल उड़ाकर मुक्तिपथगामी बन गये हो। हे स्वामिन्! आप राज्यलक्ष्मी से विरक्त हो गये और तपरूप लक्ष्मी में अनुरक्त हो गये हो। पराधीन सुख छोड़ा और स्वाधीन सुख अपना लिया। इत्यादि प्रकार से देवों द्वारा एवं चक्रवर्ती भरत द्वारा पूजा-स्तुति करके मुनिवर के तप-त्याग और अतीन्द्रिय आनन्द की प्रशंसा की।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, केशलुंच, भूमिशयन, नग्नता, अदन्तधोवन, अस्नान दिन में एक बार खड़े-खड़े अल्प आहार लेना और एक करवट से रात्रि के पिछले प्रहर में श्वान निद्रा लेना, वे इन २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करते थे, पैदल ही चलते थे।

छह माह तक तो निरन्तर ध्यानस्थ रहने के कारण उन्होंने आहार ग्रहण ही नहीं किया था और सात माह नौ दिन तक उन्हें आहार की विधि प्राप्त नहीं हुई थी; फिर भी उनके शरीर में किंचित् भी निर्बलता नहीं थी। पुण्योदय से मुनिराज के ऐसे और भी अनेक अतिशय थे। यह भी एक अतिशय ही था कि जंगल के जानवर भी परस्पर का बैर-विरोध भूल गये थे। शेर-गाय एकसाथ एक घाट पर ही पानी पीते। सांप-नेवला निर्भय होकर एकसाथ बैठे रहते।

मुनिराज ऋषभदेव सामायिक चारित्र में निरतिचार प्रवर्तते थे। उनके चारित्र में कभी भी दोष नहीं लगता था अतः उन्हें प्रतिक्रमण की और छेदोपस्थापना की आवश्यकता ही नहीं थी। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया। चार ज्ञान के धारी मुनि ऋषभदेव ने १ हजार वर्ष तक तप किया। धन्य हैं वे मुनिवर और धन्य हैं उन्हें आहारदान देकर दानतीर्थ के प्रवर्तक राजा श्रेयांस के मानवजीवन को।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि - यद्यपि भरतचक्रवर्ती और देवों द्वारा मुनिराज की द्रव्यपूजा में नानाप्रकार के फलों का स्पष्ट उल्लेख है; परन्तु वहाँ दिव्य और देवपुनीत निर्जन्तुक सामग्री की बात है। जैसा कि आगम में आता है - “दिव्वेणगंधेण, दिव्वेणपुप्फेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण वासेण, अच्चन्ति पूज्जन्ति....।”

अतः हमें वर्तमान परिस्थितियों में उनकी होड़ करना अभीष्ट नहीं है; फिर भी जहाँ जो पद्धति चलती हो, उसे चलने देना चाहिए, क्योंकि यह कोई सैद्धान्तिक और तात्त्विक विषय ही नहीं है, ये हमारे साध्य नहीं, बल्कि मात्र साधन हैं; अतः जिन माध्यमों से जिसके उपयोग की स्थिरता बढ़ती हो, मनःस्थिति जिनपूजा के अनुकूल रहती हो, वह उसे अपनाये। पर, कोई भी किसी तरह का दुराग्रह न पाले। जहाँ तक संभव हो अहिंसक सामग्री का उपयोग करें तो अति उत्तम है। एतदर्थ जिसतरह मुनिराज के आहार में सचित्त सामग्री को अचित्त करके उपयोग में लेते हैं - ऐसा ही कोई बीच का मार्ग पूजापद्धति में मिल जाये तो भी इस पन्थभेद की समस्या का समाधान होना सरल हो सकता है। अन्यथा इस विषय को गौण रखकर भी हमारी एकता, संगठन और परस्पर का सौहार्द बना रह सकता है। जो कि सामाजिक दृष्टि से तो अच्छा है ही, तत्त्वप्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।



### भगवान ऋषभदेव का केवलज्ञान कल्याणक

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन मुनिराज ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। लोकालोक में जितने भी द्रव्य हैं, पदार्थ हैं, उनके सम्पूर्ण गुणों और सम्पूर्ण पर्यायों को एक समय में एक ही साथ जान लेना केवलज्ञान का विषय है। यह केवलज्ञान पूर्ण असहाय होता है, इसे इन्द्रियों और मन के सहयोग की कतई आवश्यकता नहीं होती। केवलज्ञान, सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती – सभी पदार्थों को बिना किसी अन्य की सहायता के स्वतः ही अत्यन्त स्पष्ट हथेली पर रखे आंखों की भांति देखता-जानता है। कहा भी है –

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

परमाणु आदि सूक्ष्म हैं, राम आदि काल से दूर हैं और मेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर हैं – उन सभी को केवलज्ञान स्पष्ट जानता है। केवली भगवान किसी पदार्थ को जानने के लिए उसके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; फिर भी सभी पदार्थ बिना यत्न के ही दर्पणवत् प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं। न तो पदार्थों के परिणामन से उनका केवलज्ञान प्रभावित होता है और न उनके केवलज्ञान से पदार्थ प्रभावित होते हैं – दोनों अपने में पूर्ण स्वाधीन रहकर जानते हैं और जानने में आते हैं। दोनों में मात्र ज्ञायक-ज्ञेय संबंध है, अन्य कुछ भी संबंध नहीं है।

प्रश्न – यदि केवलज्ञान भविष्य की पर्यायों को भी जानता है तो फिर सम्पूर्ण भविष्य भी निश्चित होगा।

उसमें कोई कुछ भी फेरफार नहीं कर सकेगा, इसतरह पुरुषार्थ कहाँ रहा ? तथा जो पर्यायें उत्पन्न ही नहीं हुई, उन्हें केवलज्ञान कैसे जानेगा ?

उत्तर - हाँ बात तो ऐसी ही है कि प्रत्येक पदार्थ का किससमय कैसा/क्या परिणामन होगा - यह सब सुनिश्चित ही है और केवली उसे उसी रूप में स्पष्ट जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया कि यह मारीचि ही एक कोड़ाकोड़ी वर्ष बाद इसी भरतक्षेत्र का २४वाँ तीर्थकर महावीर होगा?

भगवान ऋषभदेव के पौत्र मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्यभव थे। वे सभी तीर्थकर ऋषभदेव के केवलज्ञान में झलक रहे थे। ऐसी एक नहीं अनेक घटनायें पुराणों में हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भविष्य एकदम सुनिश्चित है। अनन्तकेवली उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं।

जिनवाणी में भी कहा है कि यदि केवलज्ञान भविष्य को न जाने तो उसे दिव्य कौन कहेगा ?

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च गाणस्स ।

ण हवदि वा तं गाणं दिव्वं ति हि के परूवेति ॥३९॥

यदि अनुत्पन्न विनष्ट पर्यायें प्रत्यक्ष न ज्ञान के।

तो ज्ञान है वह 'दिव्य' ऐसा कौन निश्चय से कहे ॥३९॥

अरे भाई! सर्वज्ञता का स्वरूप जानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है, क्योंकि सर्वज्ञता धर्म का मूल है। सच्चे देव के स्वरूप में सर्वज्ञता शामिल है। जो वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हो वही सच्चादेव है - ऐसा आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहते हैं। सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को समझना भी संभव नहीं है। और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी जो नहीं जानता, उसके तो व्यवहार सम्यग्दर्शन का भी ठिकाना नहीं, उसे धर्म कहाँ से/कैसे होगा?

ऋषभदेव मुनि अवस्था में एक हजार वर्ष तक रहे। दीक्षा लेने के एक हजार वर्ष बाद उन्हें केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान के बाद उनकी दिव्यध्वनि खिरी, जिससे मुक्ति के मार्ग का उद्घाटन हुआ।



केवलज्ञान कल्याणक के संदर्भ में तीन बातें जानना जरूरी हैं - १. ऋषभदेव की धर्मसभा (समोसरण) की रचना। २. भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि। ३. दिव्यध्वनि में आया वस्तुस्वरूप अर्थात् धर्म का सार।

समवसरण की रचना सौधर्म इन्द्र करता है। वह धर्मसभा गोलाकार होती है। बीच में तीर्थंकर भगवान विराजते हैं। चारों ओर श्रोतागण बैठते हैं। चारों ओर कुल १२ कोठे होते हैं। जिनमें मुनिराज, आर्यिका एवं श्रावक, श्राविकाओं के साथ देव-देवांगनायें तथा पशु-पक्षी भी श्रोताओं के रूप में बैठते हैं।

यद्यपि भगवान बीच में बैठते हैं, पर सबको उनका मुख ही दिखाई देता, सबको ऐसा लगता है कि भगवान मुझे ही समझा रहे हैं - यह समवसरण का अतिशय है। इसी कारण उन्हें चतुर्मुख भी कहा जाता है। और भी अनेक अतिशय केवलज्ञान प्रगट होने पर होते हैं। जैसे कि -

योजन शत इक में सुभिख, गगन गमन मुख चार।  
नहिं अदया उपसर्ग नहिं, नाहीं कवलाहार ॥  
सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढ़ें नख-केश।  
अनमिष दृग छायाहित, दश केवल के वेश ॥

१. एक सौ योजन में सुभिक्षता, २. आकाश में गमन, ३. चारों ओर मुखों का दीखना, ४. अदया का अभाव, ५. उपसर्ग का न होना, ६. कवलाहार का नहीं होना, ७. समस्त विद्याओं का स्वामीपना, ८. नख-केशों का नहीं बढ़ना, ९. नेत्रों की पलकें न झपकना, १०. शरीर की छाया न पड़ना - ये दश अतिशय केवलज्ञान के समय प्रगट होते हैं। १४ अतिशय देवकृत भी होते हैं, जो इसप्रकार हैं -

देव रचित हैं चारदश, अर्द्धमागधीभाष।  
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश।  
होत फूल-फल ऋतु सबै, पृथिवी कांच समान।  
चरण कमल तल कमल हैं, नभतैं जय-जय बान ॥

मन्द-सुगंध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि ।  
भूमिविषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥  
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार ।  
अतिशय श्री अरहंत के, ये चौंतीस प्रकार ॥

१. भगवान की अर्द्धमागधी भाषा का होना, २. समस्त जीवों में परस्पर मित्रता का होना, ३. दिशाओं का निर्मल होना, ४. आकाश का निर्मल होना, ५. सब ऋतु के फल-फूलों का एक ही समय में फलना, ६. एक योजन तक की पृथ्वी का दर्पण की तरह निर्मल होना, ७. चलते समय भगवान के चरणकमलों के तले स्वर्ण-कमलों का होना, ८. आकाश में जय-जय ध्वनि का होना, ९. मन्द सुगंधित पवन का चलना, १०. सुगंधमय जल की वृष्टि होना, ११. भूमि का कण्टकरहित होना, १२. समस्त जीवों का आनन्दमय होना, १३. भगवान के आगे धर्मचक्र का चलना, १४. छत्र-चंवर, ध्वजा-घण्टा आदि - आठ मंगल द्रव्यों का साथ रहना - ये चौदह अतिशय देवकृत होते हैं ।

उक्त १२ सभाओं के सिवा समवसरण में बाग-बगीचे, नाट्य शालायें आदि अनेक प्रकार की सुन्दर रचनायें होती हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है -

**समवसरण का स्वरूप** - समवसरण निम्नांकित प्रारूप से निर्मित होता है । सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, वीथी, धूलिशाल नामक प्रथम कोट, चैत्यप्रासाद भूमियाँ, नृत्यशाला, मानस्तम्भ, वेदी, खातिकाभूमि, वेदी, लताभूमि, साल नामक द्वितीय कोट, उपवनभूमि, नृत्यशाला, वेदी, ध्वजभूमि, साल नामक तृतीय कोट, कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवनभूमि, स्तूप, साल चतुर्थ कोट, श्रीमण्डप, ऋषि आदि गण, वेदी पीठ, द्वि-पीठ, तृतीय पीठ और गन्धकुटी आदि ।

उपर्युक्त प्रारूप का संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है -

समवसरण की सामान्य भूमि गोल होती है । इसकी प्रत्येक दिशा में आकाश में स्थित बीस-बीस हजार

सोपान (सीढ़ियाँ) हैं। इसमें चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र अन्तर भाग में तीन-तीन पीठ होते हैं।

प्रत्येक दिशा में सोपानों से लेकर अष्टमभूमि के भीतर गन्धकुटी की प्रथम पीठ तक, एक-एक बीथी (गली, सड़क) होती है। बीथियों के दोनों बाजुओं में बीथियों जितनी ही लम्बी दो वेदियाँ होती हैं। आठों भूमियों के मूल में बहुत से तोरणद्वार होते हैं। सर्वप्रथम धूलिशाल नामक प्रथम कोट है। इसकी चारों दिशाओं में चार तोरण द्वार हैं। प्रत्येक गोपुर द्वार के बाहर मंगल द्रव्य नवनिधि व धूप घट आदि सहित पुतलियाँ (देवियों की मूर्तियाँ) स्थित हैं। प्रत्येक द्वार के मध्य दोनों बाजुओं में एक-एक नाट्यशाला है। ज्योतिषदेव इन द्वारों की रक्षा करते हैं। धूलिसाल कोट के भीतर चैतन्य प्रसाद भूमियाँ हैं। जहाँ पाँच-पाँच प्रासादों के अन्तराल से एक-एक चैत्यालय स्थित हैं। इस भूमि के भीतर पूर्वोक्त चार बीथियों के पार्श्वभागों में नाट्यशालाएँ हैं, जिनमें ३२ रंगभूमियाँ हैं। प्रत्येक रंगभूमि में ३२ भवनवासी कन्याएँ नृत्य करती हैं। भूमि के बहुमध्य भाग में चारों बीथियों के बीचोंबीच गोल मानस्तम्भ भूमि है। इस प्रथम चैत्यप्रासाद भूमि से आगे प्रथम वेदी है, इस वेदी से आगे स्वातिका भूमि है। जिसमें जल से पूर्ण खातिकाएँ हैं। इसके आगे पूर्व वेदिका सदृश ही द्वितीय वेदिका है। इसके आगे लताभूमि है, जो अनेकों क्रीड़ा पर्वतों व वापिकाओं आदि से शोभित है। इसके आगे दूसरा कोट है, यह यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे उपवन नाम की चौथी भूमि है। जो अनेकप्रकार के वनों, वापिकाओं व चैत्य वृक्षों से शोभित है। सब वनों के आश्रित सब बीथियों के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो (कुल १४) नाट्यशालाएँ होती हैं। उनमें भवनवासी देवकन्याएँ और कल्पवासी देवकन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके पूर्वसदृश ही तीसरी वेदी है, जो यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे ध्वजभूमि है, जिसकी प्रत्येक दिशा में सिंह, गज आदि दस चिन्हों से चिन्हित १०८ ध्वजाएँ हैं। प्रत्येक ध्वजा अन्य १२८ क्षुद्रध्वजाओं से युक्त है। इसके आगे तृतीय कोट है। इसके आगे छठी कल्पभूमि है। जो दसप्रकार के कल्पवृक्षों से तथा अनेकों वापिकाओं, प्रासादों, सिद्धार्थ वृक्षों (चैत्यवृक्षों) से शोभित है।

उसके आगे १००० खम्भों पर खड़ा हुआ महोदय नाम का मण्डप है, जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवी विद्यमान रहती है। उस श्रुतदेवी के दाहिने भाग में बहुश्रुत के धारक अनेक धीर-वीर मुनियों से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते हैं। महोदय मण्डप से आधे विस्तारवाले चार परिवार मण्डप और हैं, जिनमें कथा कहनेवाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएँ कहते रहते हैं। इन मण्डपों के समीप में नानाप्रकार के फुटकर स्थान भी बने रहते हैं, जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियों के धारक ऋषि इच्छुकजनों के लिए उनकी इष्टवस्तुओं का निरूपण करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अभव्य जन श्रीमण्डप के भीतर नहीं जाते - सप्तभूमि में अनेक स्तूप हैं। उनमें सर्वार्थसिद्धि नाम के अनेकों स्तूप हैं। उनके आगे देदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नाम के स्तूप रहते हैं, जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते, क्योंकि उनके प्रभाव से उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं।

समवसरण का माहात्म्य - समवसरण में कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, तथापि वे सब जीव जिनदेव के माहात्म्य से एक-दूसरे को स्पर्श किए बिना उसमें समा जाते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान के माहात्म्य से बालक-वृद्ध सभी जीव अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही समवसरण में प्रवेश करके अन्दर की ओर अथवा वहाँ से निकलकर बाहर संख्यात योजन चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा तथा तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीड़ाएँ नहीं होती हैं।

कल्पभूमि के दोनों पार्श्वभाग में प्रत्येक बीथी के आश्रित १६ नाट्यशालाएँ हैं। यहाँ ज्योतिष कन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे चौथी वेदी है, इसके आगे भवनभूमियाँ हैं, जिनमें ध्वजा-पताकायुक्त अनेकों भवन हैं। इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक बीथी के मध्य में जिन प्रतिमाओं से युक्त नौ-नौ स्तूप (कुल ७२ स्तूप) हैं। इसके आगे चतुर्थ कोट है, जो कल्पवासी देवों द्वारा रक्षित है। इसके आगे अन्तिम श्रीमण्डप भूमि है। इसमें कुल ६ दीवारें व उनके बीच १२ कोठे हैं, पूर्वदिशा को आदि करके इन १२ कोठों में क्रम

से गणधर आदि मुनिजन, कल्पवासी देवियाँ, आर्यिकाएँ व श्राविकाएँ, ज्योतिषी देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषीदेव, कल्पवासी देव, मनुष्य व तिर्यच बैठते हैं। इसके आगे पंचम वेदी है। इसके आगे प्रथम पीठ है, जिस पर बारह कोठों व चारों वीथियों के सन्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ हैं। इस पीठ पर चारों दिशाओं में सर पर धर्मचक्र रखे चार यक्षेन्द्र स्थित हैं। प्रथम पीठ के ऊपर द्वितीय पीठ होता है। जिसके चारों दिशाओं में सोपान है। इस पीठ पर सिंह, बैल आदि चिन्होंवाली ध्वजाएँ हैं व अष्टमंगल द्रव्य, नवनिधि आदि शोभित हैं। द्वितीय पीठ के ऊपर तीसरी पीठ है। जिसके चारों दिशाओं में आठ-आठ सोपान हैं। तीसरी पीठ के ऊपर एक गन्धकुटी है, जो अनेक ध्वजाओं से शोभित है। गन्धकुटी के मध्य में पादपीठ सहित सिंहासन है। जिस पर भगवान चार अंगुल के अन्तराल से आकाश में स्थित हैं।

यह जो सामान्य भूमिका प्रमाण बतलाया है, वह अवसर्पिणी काल का है। उत्सर्पिणी काल में इससे विपरीत है। विदेह क्षेत्र के सम्पूर्ण तीर्थकरों के समवसरण की भूमि बारह योजन प्रमाण ही रहती है। अवसर्पिणी काल में जिसप्रकार प्रथम तीर्थ से अन्तिम तीर्थ तक भूमि आदि के विस्तार उत्तरोत्तर कम होते गये हैं, उसीप्रकार उत्पसर्पिणी काल में वे उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

भगवान की दिव्यध्वनि ओंकाररूप एकाक्षरी होती है। उसे निरक्षरी भी कहते हैं। यद्यपि दिव्यध्वनि निरक्षरी होती है, परन्तु श्रोता के कान में आते-आते श्रोताओं की भाषा में परिणमित हो जाती है। इसप्रकार सभी श्रोता अपनी-अपनी भाषा में सुनते/समझते हैं। यह भी एक अतिशय ही है।

भगवान ऋषभदेव के समवसरण में २० हजार सीढ़िया थीं। और १२ योजन के विस्तार में बना था।

प्रश्न हो सकता है कि धर्मसभा में बाग-बगीचे, नृत्यशालायें एवं नाट्यशालायें क्यों ?

उत्तर - जगत में विभिन्न रुचिवाले जीव होते हैं, जिन्हें जिनेन्द्रवाणी सुनना है, वे राग-रंग के साधनों

में न अटक कर सीधे धर्मसभा में चले जाते हैं। जिनका संसार अभी बहुत बाकी है – वे अपनी रुचि के अनुसार नाटक आदि देखकर बाग-बगीचों में घूमकर बीच से वापिस लौट आते हैं।

तीर्थकर की धर्मसभा और इन्द्र जैसे समर्थ व्यवस्थापक के रहते कोई निराश क्यों लौटे? अतः जो उचित मनोरंजन के साधन संभव होते हैं, इन्द्र उनकी व्यवस्था कर देता है। समवसरण की रचना इन्द्र की व्यवस्था है। तीर्थकर का उसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं; क्योंकि वे तो वीतरागी हो चुके हैं, अतः किसी से कुछ प्रयोजन नहीं। परन्तु यह सब तीर्थकर पुण्य प्रकृति के फल में होता है। तीर्थकर तो धर्मसभा में अपने सिंहासन पर भी आसन से चार अंगुल ऊपर ही रहते हैं। आज के वैज्ञानिकयुग में इसप्रकार की व्यवस्था अनेक लोक सभाओं में हो गई है। अतः इन्द्र जैसे साधन-सम्पन्न और वैज्ञानिक प्रज्ञा के धनी द्वारा यदि यह सब व्यवस्था हो तो असंभव नहीं लगती।

ये पंचकल्याणक 'कल्याणक' कहलाते ही इसीकारण हैं, कि ये भव्य जीवों को कल्याण में निमित्त बनते हैं। शास्त्रों में इन पंचकल्याणकों के दर्शन को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा है। अब देखना यह है कि समोसरण का वह कौन-सा अंग है जो सम्यग्दर्शन में निमित्त बनता है?

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले अनिवार्यरूप से होनेवाली पाँच लब्धियाँ हैं, उनमें एक देशनालब्धि है। तीर्थकर भगवान की देशना को ही सम्यग्दर्शन में निमित्त कहा है।



### भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि द्वारा भरत को तत्त्वोपदेश

जीवतत्त्व एवं अजीवतत्त्व को जानने के उपाय - एकदिन महाराजा भरत को राज्य दरबार में एकसाथ ३ समाचार मिले । १. (तीर्थकर) मुनि ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति । २. आयुधशाला में चक्ररत्न प्राप्ति की सूचना । ३. स्वयं के पुत्ररत्न की प्राप्ति । उन्होंने सर्वप्रथम समवशरण में जाकर तीर्थकर ऋषभदेव की पूजा की एवं मन में उत्पन्न हुए प्रश्न पूछे ।

“प्रभो ! जीवतत्त्व एवं अजीवतत्त्व का क्या स्वरूप है और उनको जानने के क्या-क्या उपाय हैं ?”

भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि में आया - “जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखने की शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते हैं । वह अनादिनिधन है । द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा । इसके सिवाय वह स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा है; परन्तु संसार अवस्था में द्रव्यकर्म और भावकर्मों को करनेवाला है । ज्ञानादि गुण तथा शुभ-अशुभ कर्मों के फलों का भोक्ता है और स्वदेह प्रमाण है । न सर्वव्यापक है और न अणुरूप है, अनेक गुणों से युक्त है । उर्ध्वगमन स्वभाववाला है । नामकर्म के उदय से जितना छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है, तदनुसार संकोच-विस्ताररूप हो जाता है ।

उस जीव का अन्वेषण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक - इन चौदह मार्गणास्थानों द्वारा होता है । इन मार्गणा स्थानों में सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगों के द्वारा विशेष रूप से जीव का अन्वेषण किया जाता है । इसीप्रकार चौदह गुणस्थानों के द्वारा भी जीवतत्त्व का अन्वेषण किया जाता है । ये जीवतत्त्व के जानने के उपाय हैं ।

इनके सिवाय प्रमाण-नय-निक्षेपों के द्वारा भी जीवतत्त्व का निश्चय किया जाता है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक - जीव के इन भावों से भी जीव का स्वरूप जाना जाता है। ज्ञान-दर्शन उपयोगों में ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।

किसी वस्तु के भेद ग्रहण करने को साकार उपयोग कहते हैं और सामान्यरूप ग्रहण करने को अनाकार उपयोग कहते हैं। ज्ञानोपयोग वस्तु को भेदपूर्वक ग्रहण करता है, इसलिए वह साकार-सविकल्प योग है और दर्शनोपयोग वस्तु को सामान्यरूप से ग्रहण करता है, इसलिए वह अनाकार-निर्विकल्प उपयोग है।

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी - ये सब जीव के पर्यायवाची नाम हैं। चूंकि यह जीव वर्तमान में जीवित है, भूतकाल में भी जीवित था और अनागतकाल में भी जीवित रहेगा - इसलिए इसे 'जीव' कहते हैं। सिद्ध भगवान अपनी पूर्व पर्यायों में जीवित थे, वर्तमान में जीवित हैं और भविष्य में जीवित रहेंगे; इसलिए वे भी 'जीव' कहलाते हैं।

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - ये दस प्राण पंचेन्द्रिय जीवों के विद्यमान हैं। इसकारण ये 'प्राणी' कहलाते हैं। यह जीव बार-बार जन्म धारण करता है, इसकारण 'जन्तु' कहलाता है। इसके स्वरूप को क्षेत्र कहते हैं और उसे जानता है, इसलिए 'क्षेत्रज्ञ' भी कहलाता है। पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगों में प्रवृत्ति करने से यह 'पुरुष' कहा जाता है और अपने को (स्वयं को) पवित्र करता है, इसलिए 'पुमान' कहलाता है।

यह जीव नर-नारकादि पर्यायों में 'अतति' अर्थात् निरन्तर गमन करता रहता है, इसलिए 'आत्मा' कहलाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से 'अन्तरात्मा' भी कहा जाता है। यह जीव ज्ञान गुण से सहित है, इसलिए 'ज्ञ' कहलाता है और इसीकारण ज्ञानी भी कहा जाता है।

इसप्रकार यह जीव ऊपर कहे हुए पर्याय शब्दों तथा उन्हीं के समान अन्य अनेक शब्दों से जानने के योग्य है। यह जीव नित्य है; परन्तु इसकी नर-नारकादि पर्यायें जुदी-जुदी हैं। जिसप्रकार मिट्टी नित्य है, परन्तु



पर्यायों की अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है, उसी प्रकार यह जीव नित्य है, परन्तु पर्यायों की अपेक्षा उसमें भी उत्पाद एवं विनाश होता रहता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है। एकसाथ दोनों अपेक्षाओं से यह जीव उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप है। जो पर्यायें पहले नहीं थीं उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है। किसी पर्याय का उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों का पूर्व पर्यायों में तदवस्थ होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है। इसप्रकार यह आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - इन तीनों लक्षणों से सहित है।

उपर्युक्त कहे हुए स्वभाव से युक्त आत्मा को नहीं जानते हुए मिथ्यादृष्टि पुरुष उसका स्वरूप अनेक प्रकार से मानते हैं, जो ठीक नहीं है। जीव की दो अवस्थायें मानी गई हैं - एक - संसार और दूसरी - मोक्ष।

नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव - इन चार भेदों से युक्त संसाररूपी भंवर में परिभ्रमण करना संसार पर्याय है और समस्त कर्मों का क्षय मोक्ष पर्याय है।

वह मोक्ष अनन्तसुख स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप साधन से प्राप्त होता है। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और समीचीन पदार्थों का प्रसन्नतापूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन मोक्षप्राप्ति का पहला साधन है। जीव-अजीव आदि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला तथा अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समताभाव धारण करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनों मोक्ष के कारण कहे गये हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र फल देनेवाले होते हैं। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के रहते हुए ही सम्यक्चारित्र मोक्ष का कारण होता है। जिसप्रकार अंधपुरुष का दौड़ना उसके पतन का ही कारण होता है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से शून्य पुरुष का चारित्र भी उसके पतन का कारण है, कुगति का कारण है।

जिनागम में आप्त, आगम व पदार्थों का जो स्वरूप कहा गया है, उससे अधिक व कम न तो है, न

था और न आगे ही होगा। इसप्रकार आप्त आदि तीनों के विषय में श्रद्धान की दृढ़ता होने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धता उत्पन्न होती है।

जो अनन्तज्ञान आदि गुणों से सहित, घातिकर्मों से रहित, कृतकृत्य हो तथा सबके भला होने में सद्निमित्त हो, वह आप्त है। जो आप्त का कहा हो, वह आगम है। अनन्तसुख का अभ्युदय प्राप्त सिद्धपरमेष्ठी मुक्तजीव कहे जाते हैं। इसीतरह अजीवतत्त्व को जानकर उसका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति हेतु आवश्यक है।

**अजीव तत्त्व :-** धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल तथा काल ये पाँच द्रव्य अजीवतत्त्व हैं। जो जीव और पुद्गलों के गमन में सहायक कारण हो, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं और जो उन्हीं के स्थित होने में सहकारी कारण हो उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। धर्म और अधर्म - ये दोनों ही द्रव्य या पदार्थ अपनी इच्छा से गमन करते और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गलों के गमन करने और ठहरने में सहायक (निमित्त) होकर प्रवृत्त होते हैं, स्वयं किसी को प्रेरित नहीं करते। जिसप्रकार जल के बिना मछली का गमन नहीं हो सकता, फिर भी जल मछली को प्रेरित नहीं करता, उसीप्रकार जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य धर्मद्रव्य के बिना नहीं चल सकते, फिर भी धर्मद्रव्य उन्हें चलने को प्रेरित नहीं करता। अधर्मास्तिकाय द्रव्य भी वृक्ष की छाया की भांति उदासीन होकर जीव और पुद्गलों को स्थित करने में निमित्त होता है, परन्तु स्वयं ठहरने की प्रेरणा नहीं देता।

जो जीव और पुद्गलों को अवकाश (ठहरने को स्थान) देता है, उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। यह आकाश स्पर्शरहित है, सबजगह व्याप्त है और क्रियारहित है। जिसका वर्तना लक्षण है, उसे कालद्रव्य कहते हैं। वह वर्तना काल तथा काल से भिन्न जीवादि पदार्थों के आश्रय रहती है और सब पदार्थों का जो अपने-अपने गुण तथा पर्यायरूप परिणमन करती है, उसमें निमित्त कारण होती है। जिसप्रकार कुम्हार का चक्र फिरने में उसके नीचे लगी कील कारण होती है, उसीप्रकार कालद्रव्य भी सब पदार्थों के परिवर्तन में कारण होता है। देखो, यद्यपि कुम्हार का चाक स्वयं घूमता है; किन्तु चक्र के नीचे केन्द्र में जिस कील पर वह चक्र रखा होता है, उसके बिना नहीं घूमता। बस, इसीतरह कालद्रव्य की निमित्तता भी सभी द्रव्यों के परिवर्तन या परिणमन में होती ही है।

काल दो प्रकार का है - व्यवहार काल और निश्चय काल। घड़ी-घंटा आदि को व्यवहार काल कहते हैं और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान बिना स्पर्श किये रहनेवाले जो असंख्यात कालाणु हैं, उन्हें निश्चय काल कहते हैं। व्यवहार काल से ही निश्चय काल का निर्णय एवं निश्चय होता है। यदि मुख्य पदार्थ अर्थात् निश्चय काल ही न होता तो घड़ी, घंटा का व्यवहार कहाँ से/कैसे होता? यहाँ स्थूल व्यवहार काल के द्वारा सूक्ष्म निश्चय काल की सिद्धि की है। पर्याय के द्वारा ही तो पर्यायी (द्रव्य) का ज्ञान होता है।

परस्पर में प्रदेशों के नहीं मिलने से यह कालद्रव्य अकाय, अप्रदेशी या एक प्रदेशी कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि जिसमें बहुप्रदेश हों उसे अस्तिकाय कहते हैं। काल को छोड़कर सभी द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं और कालद्रव्य एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं कहा जाता है। काल को छोड़कर शेष द्रव्यों के प्रदेश एक-दूसरे से मिले रहते हैं। इसीकारण वे अस्तिकाय हैं। इनमें मात्र पुद्गल मूर्तिक है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। एक जीव चेतन हैं, शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं।

पाँच इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जिसका स्पष्ट ज्ञान हो उसे मूर्तिक कहते हैं। जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जाय, वे पुद्गल हैं। पूरण-गलन स्वभाव होने से पुद्गल नाम सार्थक है। पूरण अर्थात् मिलना और गलन अर्थात् बिछुड़ना। पुद्गल द्रव्य में मिलना-बिछुड़ना - ये दोनों अवस्थायें होती रहती हैं। इसलिए उसका पुद्गल नाम सार्थक है।

पुद्गल के दो भेद हैं - स्कन्ध, परमाणु। अणुओं के समुदाय को स्कन्ध कहते हैं। ये स्कन्ध दो परमाणु वाले 'द्वयणुक' स्कन्ध से लेकर अनन्तानन्त परमाणु वाले 'महास्कन्ध' तक होते हैं। छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी, मेघ आदि सब पुद्गलस्कन्ध के भेद-प्रभेद हैं। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। वे इन्द्रियों से नहीं जाने जाते। घट-पट आदि परमाणुओं के कार्य हैं। परमाणु गोल और नित्य होते हैं। पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं।

आकार की अपेक्षा पुद्गल के ६ भेद हैं। १. सूक्ष्म-सूक्ष्म, २. सूक्ष्म, ३. सूक्ष्म-स्थूल, ४. स्थूल-सूक्ष्म, ५. स्थूल, ६. स्थूल-स्थूल।

१. स्कन्ध से पृथक् रहनेवाला परमाणु 'सूक्ष्म-सूक्ष्म' है। २. कर्मों के स्कन्ध 'सूक्ष्म' हैं। ३. शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध 'सूक्ष्म-स्थूल' हैं। ४. छाया, चांदनी और आतप आदि 'स्थूल-स्थूल' हैं, ५. पानी आदि तरल पदार्थ जो कि पृथक् करने पर भी मिल जाते हैं, वे 'स्थूल' हैं तथा ६. पृथ्वी आदि स्कन्ध जो तोड़ने पर मिले नहीं, वे 'स्थूल-स्थूल' हैं।" इसप्रकार ऊपर कहे हुए जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का जो भव्य विपरीतता रहित श्रद्धान करता है वह परब्रह्म अवस्था को प्राप्त होता है।

भगवान ऋषभदेव से तत्त्वों का स्वरूप सुनकर भक्ति से भरे हुए भरत परम आनन्द को प्राप्त हुए। भरतजी ने भगवान ऋषभदेव से सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतों की परमशुद्धि को प्राप्त किया। भरतजी ने भगवान ऋषभदेव की आराधना कर व्रत और शील धारण कर लिए।

उसी समय पुरिमताल (आधुनिक प्रयाग) के स्वामी और राजा भरत के छोटा भाई वृषभसेन ने भी भगवान ऋषभदेव के पास जाकर दीक्षा ले ली। वृषभसेन पुण्यवान, विद्वान, धीर, वीर, स्वाभिमानी, बुद्धिमान और जितेन्द्रिय थे। उन्हें समवसरण में मानस्तम्भ के दर्शन करने मात्र से वैराग्य हो गया था। वे भगवान ऋषभदेव के प्रथम गणधर बने। ऋषभदेव के अन्य पुत्र भी गणधर बने। आहारदान देनेवाले राजा सोमप्रभ एवं राजा श्रेयांस तथा अन्य राजा भी दीक्षा धारण करके भगवान ऋषभदेव के गणधर हुए।

भरत के भाई अनन्तवीर्य ने भी दीक्षा ले ली। यहाँ ज्ञातव्य है कि इस युग में अनन्तवीर्य ने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था। जो ऋषभदेव के साथ दीक्षित होकर भ्रष्ट हो गये थे। वे चार हजार तपस्वी भगवान ऋषभदेव से तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर फिर से दीक्षित हो तपस्या करने लगे थे। मात्र मारीचि नहीं सुलटा।

गृहस्थ जीवन में राजा ऋषभदेव की पुत्री भरत की बहिन ब्राह्मी दीक्षा लेकर आर्यिका संघ की प्रमुख आर्यिका बनी थी। ऋषभदेव की द्वितीय पुत्री बाहुबली की सहोदरी सुन्दरी ने भी प्रभु की साक्षी पूर्वक

आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। अन्य कितने ही राजा एवं राजकुमार तथा राजपुत्रियों ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी।

अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष श्रुतकीर्ति ने श्रावकव्रत ग्रहण किए। वे लाखों देशव्रती श्रावकों में श्रेष्ठ थे, अतः वे श्रावकसंघ के प्रमुख बने। पवित्र अन्तःकरण वाली सती प्रियव्रता ने श्राविका के व्रत ग्रहण किए एवं वह श्राविकाओं में श्रेष्ठ हुई। इसप्रकार भगवान ऋषभदेव के शासन में इस भरतक्षेत्र में मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना हुई।

जिनकल्पी एवं स्थिविरकल्पी साधु - जो साधु एकाकी रहते हैं, मुख्यतया आत्मचिन्तन में लीन रहते हैं, उपदेश आदि प्रवृत्ति नहीं करते; उन्हें जिनकल्पी कहते हैं और जो साधु संघ के साथ रहते हैं, उपदेश देते हैं, दीक्षा देते हैं, उन्हें स्थिविरकल्पी कहते हैं। तीर्थंकर मुनिराज जिनकल्पी होते हैं, अतः मुनि होते ही आजीवन मौन ले लेते हैं। मुनि अवस्था में उपदेश नहीं करते। केवली होने से उनकी दिव्यध्वनि मुख से वाणी रूप में नहीं; बल्कि सर्वांग से निरक्षरी अथवा ॐ के रूप में एकाक्षरी निकलती है।

ज्ञातव्य है कि समवसरण में जो नृत्यशालायें या नाट्यशालायें होती हैं, वे सम्यग्दर्शन की निमित्त नहीं हैं, अपितु दिव्यध्वनि में आनेवाले तत्त्वोपदेश ही सम्यग्दर्शन का निमित्त है। वह देशना भी मूलवस्तु के रूप में जो जीवादि तत्त्वार्थ हैं; उसीरूप होती है। उसमें भी जीवतत्त्व प्रमुख हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकतारूप मुक्ति का मार्ग निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उपलब्ध है।

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि दिन में तीन बार खिरती थी और प्रत्येक बार का समय ६ घड़ी होता था। एक घड़ी २४ मिनट की होती है। इसप्रकार कुल मिलाकर - ७ घंटे १२ मिनट प्रतिदिन उनकी वाणी खिरती थी।

विशेष निमित्त मिलने पर कभी-कभी अर्द्धरात्रि में भी उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी, किन्तु वह तो अपवाद ही था। ऐसी यह दिव्यध्वनि एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक दिन में तीन बार खिरती रही और लाखों श्रोता प्रतिदिन लाभ उठाते रहे।

प्रश्न यह है कि उन ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक किसी भी तीर्थकर का समवसरण कदाचित् आज हमारे युग में होता तो क्या हम भी ७ घंटे १२ मिनट का समय प्रतिदिन निकाल लेते ?

आप भावावेश में तो कदाचित् कह देंगे—क्यों नहीं ? मिले तो ऐसे तीर्थकर ! हम तो अपना पूरा जीवन समर्पित कर देंगे । परन्तु वस्तुतः आप कुछ भी नहीं कर पायेंगे, क्योंकि यदि कुछ करना ही होता तो भले साक्षात् तीर्थकर न सही, उनकी वाणी तो वही है, फिर यहाँ अपना जीवन समर्पित क्यों नहीं करते ?

अरे! ऐसे अवसर भी हम और आप सब अनन्तबार खो चुके हैं जब साक्षात् अरहंत हमारे सामने थे । हम उनके समोसरण में भी अनेक बार जाकर खाली हाथ लौटते हैं, अतः इन बातों में कोई सार नहीं । ऐसा मत करो कि - 'न नौ मन तैल होगा और न राधा नाचेगी ।' आज यहाँ न समवसरण होगा न हम समय निकालेंगे । यदि कल्याण करना हो तो न सही प्रतिदिन सात घंटा और १२ मिनट - प्रतिदिन सुबह-शाम १-१ घंटा जिनवाणी की शरण में रहें तो भी इस कलिकाल में हमें कल्याण का मार्ग मिल सकता है ।

यह तो हमारा परम सौभाग्य है कि इस निकृष्ट काल में भी जिनवाणी की यह उत्कृष्ट बात सुनने को मिल रही है । भाई! इसकी उपेक्षा मत करो, इसे अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुनें तो हमारा कल्याण हो जायेगा ।

कहा भी है -

“तत्प्रति प्रीति चित्तेन येन वार्ता पि हि श्रुतः ।  
निश्चितं सभवेद्भव्यो, भावीनिर्वाण भाजनः ॥

जिन्होंने निज आत्मा की बात भी प्रीतिचित्त से सुनी, वे निश्चित ही भव्य हैं और शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करेंगे ।”

अतः जहाँ से भी दिव्यध्वनि का सार सुनने को मिले, वहाँ से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । जिसप्रकार साक्षात् जिनेन्द्र के दर्शन न मिलने पर हम उनकी मूर्ति के दर्शन से ही उनकी पूर्ति कर लेते हैं, वैसे ही साक्षात् दिव्यध्वनि के अभाव में उसी परम्परा से प्राप्त जिनवाणी से लाभ लेना ही एकमात्र उपाय है ।

भरतजी भगवान की पूजा कर चक्ररत्न की पूजा करने के लिए अपने नगर की ओर प्रस्थान कर गये। बाहुबली आदि और भी भरत के छोटे भाई भरत के पीछे-पीछे वापिस लौट गये। इसप्रकार निधियों के अधिपति महाराजा भरत ने बड़े आनन्द के साथ अपनी अयोध्यापुरी में प्रवेश किया था।

भरतजी भगवान ऋषभदेव की वन्दना कर अयोध्या नगरी लौटे, वहाँ पुत्रजन्म का महोत्सव तथा चक्ररत्न की विधिपूर्वक पूजा की। भरत के द्वारा उस समय किमिच्छिक दान देने से उसके सम्पूर्ण साम्राज्य में कोई दरिद्र नहीं रहा था। भरतजी ने इतना अधिक धन दे दिया कि याचकों ने हमेशा के लिए याचना करना ही छोड़ दिया था।

राजर्षि भरत के वापिस अयोध्या लौट जाने पर और तीर्थकर भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि के बन्द हो जाने पर अर्थात् धर्माभूत की वर्षा कर चुकने के बाद भगवान ऋषभदेव का जब सहज विहार प्रारंभ होने को था तो सर्वप्रथम सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र द्वारा दर्शन करते हुए तृप्ति को प्राप्त न होने से एक हजार नेत्र बनाकर तीर्थकर ऋषभदेव की १००८ नामों से स्तुति प्रारंभ की।

“हे प्रभो! यद्यपि मैं बुद्धिहीन हूँ तथापि आपकी भक्ति से प्रेरित होकर परम ज्योतिस्वरूप आपकी स्तुति करता हूँ। हे जिनेन्द्र! भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करने से भक्त स्वतः भगवान बन जाता है। पवित्र गुणों का निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धिवाला भव्य स्तोता है, जिनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं - ऐसे आप स्तुत्य हैं और मोक्ष का सुख प्राप्त होना उसका फल है।”

सौधर्म इन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए कहता है कि - “हे प्रभो! आपके गुणों के द्वारा प्रेरित हुई भक्ति ही मुझे आनन्दित कर रही है, इसलिए मैं आपकी इस स्तुति के मार्ग में प्रवृत्त हो रहा हूँ।

हे विभो! आभूषण आदि से रहित आपका दिगम्बरत्व आपके राग-द्वेष पर हुई विजय का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि रागी-द्वेषी मनुष्य ही आभूषण पहनते हैं; परन्तु आपने राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए आपको आभूषण आदि के पहनने की आवश्यकता नहीं है।



हे प्रभु! जगत को सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर आभूषण रहित होने पर भी अत्यन्त सुन्दर है, क्योंकि जो स्वयं दैदीप्यमान होता है, वह दूसरे आभूषण की अपेक्षा नहीं रखता।

हे भगवन! यद्यपि आपके मस्तिष्क पर न तो सुन्दर केशपाश हैं और न मुकुट है, तथापि वह अत्यन्त सुन्दर है। हे नाथ! यद्यपि आपके हाथों में हथियार नहीं है; फिर भी आपने मोह शत्रु को जीत लिया है।”

इसप्रकार इन्द्र ने एक हजार आठ विशेषणों से ऋषभ जिनेन्द्र की भक्ति की। अन्त में प्रार्थना की कि “हे भगवन! भव्यजीव रूपी धान्य पापरूप अनावृष्टि से सूख रहे हैं। अतः उन्हें धर्मरूपी अमृत जल से सींचकर उन्हें पल्लवित कीजिए। हे प्रभो! यह धर्मचक्र तैयार है। मोक्षमार्ग में रोड़ा अटकानेवाली मोह की सेना को नष्ट कर चुकने के बाद अब आपका समीचीन धर्म का उपदेश देने का समय आ गया है। अतः विहार कीजिए।” इन्द्र की प्रार्थना तो उपचारमात्र थी। वीतरागी जिनेन्द्र का स्वयं ही विहार का सुअवसर आ चुका था। अतः समवसरण सहित भगवान का विहार प्रारंभ हो गया।

जिनेन्द्र भगवान के ऊपर तीन छत्र, चारों ओर चार चमर एवं पीछे भामण्डल दैदीप्यमान हो रहा था। वे मेरुवत ऊँचे सिंहासन पर विराजित थे, छाया और फल सहित अशोकवृक्ष अपने नाम को सार्थक करता हुआ सबको शोकरहित कर रहा था। जो मानस्तम्भ मिथ्यादृष्टियों के अहंकार और संदेह का गलानेवाले थे। समोसरण ऊँचे कोट और गहरी खाई एवं उनके पास लतावनों से सुशोभित था। किन्नर देव जोर-जोर से यश गा रहे हैं। प्रकाशमान बड़े-बड़े स्तूपों से उसका वैभव प्रगट हो रहा था। ऐसे समोसरण के साथ तीनों लोकों के स्वामी, धर्म के अधिपति आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव ने विहायोगति नामकर्म के निमित्त से विहार करना प्रारंभ किया।

जिससमय दिव्यध्वनि द्वारा धर्मामृत बरसता था, उस समय भव्य श्रोता संतोष धारण कर सुख के सागर में डूब जाते थे। दिव्यध्वनि द्वारा समीचीन मार्ग दर्शानेवाले भगवान का समवसरण काशी, अवन्ती, कुरु,



कौशल, अंग, वंग, मगध, आंध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालवा और विदर्भ आदि देशों में गया। इसप्रकार तीनों लोकों के गुरु भगवान ऋषभदेव के द्वारा भव्य जीवों को तत्त्वज्ञान हुआ।

तीर्थकर पुण्य प्रकृति ही जिसकी संचालक है - ऐसे आदि जिनेन्द्र का समवसरण अनेक उर्वरक स्थानों को अपनी दिव्यध्वनिरूप अमृतवर्षा से सिंचन करता हुआ कैलाश पर्वत पर पहुँचा।

अनन्तचतुष्टय रूप लक्ष्मी से सहित वे जिनेन्द्रदेव भक्ति से नम्रीभूत हुए बारह सभाओं के प्राणियों से घिरे थे और आठ प्रातिहार्यों से शोभित हो रहे थे। उनके चरण कमल इन्द्रों द्वारा पूजित थे। जिनके मानस्तम्भों को देखने से मानी से मानी प्राणी भी नम्रीभूत हो जाते हैं, जो तीनों लोकों के स्वामी हैं, जिन्हें अचिन्त्य बहिरंग विभूति प्राप्त हुई है और जो पापरहित हैं - ऐसे जिनेन्द्रदेव को बारम्बार नमन।

जिन्होंने चार आराधनारूप सेना को साथ लेकर पापरूप शत्रुओं को नष्ट किया है, जिन्होंने स्वर्ण के समान दैदीप्यमान स्वरूप प्राप्त किया है, भ्रमरों के समान देवगण जिनके चरण कमलों की सेवा करते हैं और जो तीन लोक के गुरु हैं - ऐसे भगवान ऋषभदेव हम सबके कल्याण में सद्निमित्त बनें।

जो कुलकरों में पन्द्रहवें कुलकर थे, तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर थे, जिन्होंने मनुष्यों की आजीविका की विधि और मोक्षमार्ग दर्शाया था, जो समस्त पृथ्वी के अधिपति भरत चक्रवर्ती के पिता थे, वे हमको मोक्षलक्ष्मी प्राप्त करने में परम सहाय हों।

जिन्होंने अपने केवलज्ञान दर्पण में तत्त्वों एवं नव पदार्थों के समूह को प्रत्यक्ष जाना/देखा है, प्रतिबिम्बित किया है और जो समीचीन धर्मरूपी तीर्थ के मार्ग की रक्षा करने में मुख्य हेतु हैं - ऐसे इच्छवाकु वंश के प्रमुख श्री भगवान ऋषभदेव! आपकी पावन दिव्यध्वनि रूप दीपक हम संसारी भव्य प्राणियों को मुक्ति रूप परमपद प्राप्त होने में पथप्रदर्शक बने। हे प्रभो! आप नाभिराज के पुत्र होकर भी स्वयंभू हैं, लोकपूज्य हैं और आप हम सबकी समाधि में साधक बनें।



### भगवान ऋषभदेव की दिव्यदेशना में ध्यान का स्वरूप

तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के समवसरण में एक भव्य श्रोता के मन में यह जिज्ञासा जागृत हुई कि हे भगवन ! चार ध्यानो में प्रारंभ के जो दो आर्त और रौद्रध्यान हैं, इन्हें आगम में कुगति का कारण बताया है, इनका स्वरूप क्या है ? और इनसे कैसे बचा जाय ? और धर्मध्यान जो सुगति का कारण है, उसका स्वरूप क्या है और उसे कैसे किया जाय ?

उपर्युक्त प्रश्न के समाधान स्वरूप भगवान की दिव्यध्वनि में सामान्य ध्यान का स्वरूप इसप्रकार आया – “तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में चित्त का एकाग्र होना या निरोध होना ध्यान है। यदि वह विषय-कषायों सहित संयोगों में लीन होता है तो वह खोटा ध्यान आर्त और रौद्रध्यान की श्रेणी में आता है और तत्त्व चिन्तनरूप होता है तो धर्मध्यान की श्रेणी में आता है। सामान्यतः चित्त का स्थिर होना ध्यान है और चित्त की चंचल तरंगों को अनुप्रेक्षा, चिन्तन या भावना कहते हैं।

वस्तुतः धर्मध्यान वही है, जिसकी वृत्ति अपने बुद्धिबल के आधीन होती है और जिसमें तत्त्वविचार होता है। इसके विपरीत विषय-कषायरूप ध्यान अपध्यान कहलाता है। योग, ध्यान, समाधि, मन को वश में करना, अंतःसंलीनता आदि सब धर्मध्यान के ही पर्यायवाचक शब्द हैं।

यद्यपि ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है और वह ध्यान ध्येय को ही विषय करनेवाला है तथापि एकाग्रता के कारण ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्यरूप व्यवहार को भी ध्यान में सम्मिलित कर लिया जाता है।

आत्मा का जो प्रदेश ज्ञानरूप है वही प्रदेश दर्शनसुख और वीर्यरूप भी हैं। इसलिए एक ही जगह रहने

के कारण ध्यान में दर्शन-सुख आदि का भी व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि स्थिररूप से पदार्थ को जानना ध्यान कहलाता है इसलिए ध्यान ज्ञान की एक पर्याय विशेष है।

यदि वस्तुओं को इष्ट-अनिष्ट मान कर चिन्तवन किया जायेगा तो वह असत् आर्तध्यान कहलायेगा। जो मनुष्य तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता वह विपरीत भाव से अतद्रूप वस्तु को भी तद्रूप चिन्तवन करने लगता है तथा पदार्थों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि कर केवल संक्लेश सहित ध्यान धारण करता है। संकल्प-विकल्प के वशीभूत हुआ मूर्ख प्राणी पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट समझने लगता है। उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उस राग-द्वेष से इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती हैं, उसे ही आर्तध्यान कहते हैं और उससे कुगति का कारणभूत कर्मबन्ध होता है।

विषयों में तृष्णा बढ़ानेवाली मन की प्रवृत्ति संकल्प है। उसी संकल्प को दुष्प्रणिधान कहते हैं और दुष्प्रणिधान से अपध्यान होता है। इसलिए चित्त की शुद्धि के लिए तत्त्वार्थ की भावना करनी चाहिए; क्योंकि तत्त्वार्थ की भावना से ज्ञान की शुद्धि होती है और ज्ञान की शुद्धि से ध्यान की शुद्धि होती है।

शुभ और अशुभ का चिन्तवन करने से ही ध्यानों को प्रशस्त और अप्रशस्त कहा जाता है। प्रशस्त के धर्म व शुक्ल एवं अप्रशस्त के आर्त और रौद्र - ऐसे दो-दो भेद हैं।

जो ध्यान शुभ परिणामों से किया जाता है, उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामों से किया जाता है, उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। आर्त व रौद्र ध्यान छोड़ने योग्य हैं; क्योंकि ये दुःखदायक हैं, संसार बढ़ानेवाले हैं तथा धर्म ध्यान चतुर्थ गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टियों को होता है और शुक्ल ध्यान मुनियों को होता है। उपर्युक्त चारों ध्यानों का संक्षिप्त वर्णन इसप्रकार है -

१. आर्तध्यान :- जो ऋत अर्थात् दुःख में हो वह आर्तध्यान है। यह चार प्रकार का है। पहला इष्टवस्तु के न मिलने से या इष्टवस्तु के वियोग हो जाने से, जो दुःख का चिन्तन चलता है वह पहला आर्तध्यान है। दूसरा आर्त ध्यान अनिष्ट वस्तु के मिलने से, तीसरा रोग आदि होने के कारण हुई पीड़ा के चिन्तन से

तथा चौथा निदान से अर्थात् भोगों की आकांक्षा से हुए संक्लेश परिणामों से होता है। यह ध्यान दूसरे पुरुषों की भोगोपभोग सामग्री देखने से भी होता है।

इसप्रकार यह आर्त ध्यान इष्टवस्तु की प्राप्ति के लिए, अनिष्टवस्तु की अप्राप्ति के लिए, भोगोपभोग की इच्छा के लिए और वेदना दूर करने के लिए बार-बार चिन्तन से होता है। यह कषाय आदि प्रमाद से होता है और अत्यन्त अशुभ कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं के आश्रय से भी उत्पन्न होता है।

इस आर्तध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त है और आलम्बन अशुभ है। इस आर्तध्यान में क्षयोपशमिक भाव होता है। तिर्यचगति इसका फल है।

परिग्रह में अति आसक्ति, कुशीलरूप प्रवृत्ति, कृपणता, अत्यन्त लोभी, भय, उद्वेग, अति शोक - ये आर्तध्यान के चिह्न हैं। इसीप्रकार हाथों पर कपोल (गाल) रखकर पश्चात्ताप की मुद्रा, आंसू बहाना आदि भी आर्तध्यान के बाह्यचिह्न हैं। यह शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का भी होता है। ज्ञातव्य है कि शुभ आर्तध्यान का अस्तित्व छटवें गुणस्थान तक होता है।

**दूसरा रौद्रध्यान** - जो पुरुष प्राणियों को रुला कर, दुःखी कर आनन्दित होता है, वह रुद्र अथवा क्रूर निर्दय कहलाता है। ऐसे जीवों को जो ध्यान होता है, वह रौद्रध्यान कहलाता है। यह ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है तथा यह कृष्ण-नील-कापोत - इन तीन अत्यन्त अशुभ लेश्याओं के बल से होता है। एकसाथ अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। आर्तध्यान की भांति इसका भी क्षयोपशमिक भाव होता है। यह रौद्र ध्यान भी चार प्रकार का होता है। १. हिंसानन्द अर्थात् हिंसा में आनन्द मानना। २. मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलने में आनन्द मानना। ३. स्तेयानन्द अर्थात् चोरी में आनन्द मानना और ४. संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रह की रक्षा में दिन-रात लगा रहकर आनन्द मानना।

१. **हिंसानन्द** - प्राणियों को मारने और बांधने की इच्छा रखना, अंगोपांगों को छेदना, संताप देना, कठोर दण्ड देना आदि को हिंसानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। जीवों पर दया न करनेवाला हिंसक हिंसानन्द नाम

के रौद्रध्यान को धारण कर पहले अपना घात करता है। पीछे अन्य जीवों का घात हो न हो - यह उनकी आयु और असाता कर्म पर निर्भर करता है। स्वयंभूरमण समुद्र में राघव मत्स्य के कान में जो तन्दुल नाम का छोटा मत्स्य रहता है वह यद्यपि जीवों की हिंसा बिल्कुल नहीं करता, किन्तु बड़े राघव मत्स्य के खुले मुख में आये हुए जीवों को देखकर उसे भाव आता है कि 'यह मुँह बाये हुए पड़ा है, इतने सारे जीवजंतु मुँह में आ जा रहे हैं - ये इन्हें खाता क्यों नहीं है? यदि मुझे ऐसा मौका मिले तो मैं तो एक भी प्राणी को नहीं छोड़ता, सबको खा जाता।' फलस्वरूप वह तन्दुल मत्स्य मर कर सातवें नरक में जाता है।

क्रूर होना, हथियार रखना, हिंसा की कथा-वार्ता में मजा लेना, स्वभाव से ही हिंसक होना - हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न हैं।

२. मृषानन्द - झूठ बोलकर दूसरों को धोखा देने का चिन्तवन करना मृषानन्द रौद्रध्यान नाम का दूसरा भेद है। कठोर वचन बोलना आदि इसके चिह्न हैं।

३. स्तेयानन्द - दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने, चोरी करने में अपने चित्त को लगाना, उसी का चिन्तवन करना स्तेयानन्द रौद्रध्यान है।

४. परिग्रहानन्द - अति लोभवश अनीति से जरूरत से ज्यादा धन का संग्रह करके एवं भोग सामग्री का संरक्षण आदि करके उसमें आनन्द मानना परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है। इसका फल नरकगति है।

भाँह टेड़ी हो जाना, मुख का विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कांपने लगना, नेत्रों का लाल हो जाना आदि रौद्रध्यान के बाह्यचिह्न हैं। यह रौद्र ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है तथा यह कृष्ण-नील-कापोत - इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से होता है। एकसाथ अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। आर्तध्यान की भाँति इसका भी क्षायोपशमिकभाव होता है।

अनादिकाल की वासना से उत्पन्न होनेवाले ये दोनों - आर्त व रौद्र ध्यान बिना किसी प्रयत्न के ही हो जाते हैं। अतः इनसे सावधानी से बचना होगा।

३. धर्मध्यान – पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से विषयों में विकेन्द्रित ज्ञान की किरणों को वहाँ से समेट कर ज्ञायक स्वभावी आत्मा पर केन्द्रित करना ही धर्मध्यान है। जिसप्रकार तेजस्वी सूर्य की प्रखर विकेन्द्रित किरणें मानव की कंपकंपी (ठंड) को भी कम नहीं कर पाती और वे ही किरणें लेंस (काँच) के द्वारा एक वस्तु पर केन्द्रित कर देने से भोजन पका देती हैं। पानी गर्म कर देती हैं। इसीप्रकार ज्ञायकस्वभाव पर केन्द्रित हुई ज्ञान की किरणें कर्मकलंक को भस्म कर देती हैं। वही आत्मकेन्द्रित ज्ञान निश्चय धर्मध्यान है।

जगत के समस्त पदार्थ जिसरूप से अवस्थित हैं और मात्र उदासीनरूप से ज्ञेयरूप ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे सब व्यवहार धर्मध्यान के विषय बनते हैं।

तात्पर्य यह है कि ध्यान में उदासीनरूप से समस्त पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन किया जा सकता है; क्योंकि तत्त्व का चिन्तन ध्यान करनेवाले जीव के उपयोग की विशुद्धि के लिए होता है। उपयोग की विशुद्धि होने से यह बन्ध के कारणों को नष्ट कर देता है, बन्ध के कारण नष्ट होने से उसके संवर और निर्जरा होने लगती है तथा संवर और निर्जरा होने से इस जीव की निःसंदेह मुक्ति हो जाती है।

ज्ञातव्य है कि आत्मज्ञानपूर्वक राग-द्वेष से रहित होकर किसी भी वस्तु का अर्थात् परज्ञेय का ध्यान करके भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

अध्यात्मतत्त्वों का चिन्तन करनेरूप धर्म ध्यान हमें करने योग्य है। सात तत्त्वों, नौ-पदार्थों एवं छहद्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन-मनन करना – ये सब धर्मध्यान के अन्तर्गत आते हैं, अतः इनका ध्यान भी करने योग्य हैं। नय, प्रमाण, निक्षेप, सप्तभंगी और स्याद्वाद वाणी द्वारा प्रगट सिद्धान्त शास्त्रों की सम्पूर्ण विषयवस्तु भी ध्यान करने योग्य ध्येय हैं।

जगत के समस्त पदार्थ शब्द, अर्थ और ज्ञान – इन तीन भेदों में समाहित हैं। इसलिए शब्द, अर्थ और ज्ञान को अपने ध्यान का ध्येय बनाने पर जगत के समस्त पदार्थ ध्येय हो जाते हैं। इनमें कौन से ध्येय उपादेय

है, इसका निर्णय हमें स्वविवेक से करना है, जो धर्मध्यान के ध्येय हैं, वे सब उपादेय हैं और आर्त-रौद्रध्यान के ध्येय (ध्यान के विषय) हैं, वे सब हेय हैं।

धर्मध्यान की पात्रता - धर्मध्यान का ध्याता वस्तु के यथार्थज्ञान और संसार से वैराग्य सहित हो। इन्द्रिय और मन का विजेता हो, स्थिरचित्त और मुक्ति का इच्छुक हो, उद्यमी हो, शान्त परिणामी, धैर्यवान हो।

उक्तं च - ज्ञान वैराग्य सम्पन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः।  
मुमुक्षुरूढमी शान्तो, ध्याता वीरः प्रशस्यते ॥३॥

इसके अतिरिक्त ध्याता मैत्री-प्रमोद-कारुण्य और माध्यस्थ भावना सहित हो। विश्व के सूक्ष्म-स्थूल, त्रस-स्थावर आदि समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव, दुखियों के प्रति करुणा का भाव, गुणजनों के प्रति प्रमोद भाव और विपरीत बुद्धिवालों के प्रति माध्यस्थ भाववाला हो।

उक्तं च - सत्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।  
माध्यस्थ भावं विपरीत बुद्धि सदा ममात्मा विद धातु देव ॥

हिन्दी पद्यानुवाद - प्रेमभाव हो सब जीवों में, गुणी जनों में हर्ष प्रभो।  
करुणा स्रोत बहे दुःखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥

धर्मध्यान की सिद्धि के लिए धर्मी जीव इन चारों भावनाओं को भी सहज ही भाते हैं।

धर्मध्यान के योग्य स्थान - जहाँ क्षोभ मन उपजै, तहाँ ध्यान नहीं होय।  
ऐसे थान विरुद्ध हैं, ध्यानी त्यागों सोय ॥

जहाँ मन में क्षोभ उत्पन्न करने के कारण विद्यमान हों, ऐसे स्थान धर्मध्याता पुरुष को तत्काल छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सद् निमित्त की अपेक्षा वे स्थान ध्यान योग्य नहीं हैं।

धर्मध्यान के लिए उपयुक्त स्थानों का उल्लेख करते हुए कहा है कि -

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।  
कल्याण कालिते पुण्ये ध्यान सिद्धि प्रजायते ॥

सिद्धक्षेत्र, जो तीर्थकरों के आश्रयस्थान रहे हों, तीर्थकरों के कल्याणकों के स्थान हो - ऐसे परम पवित्र एकान्त स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है ।

धर्मध्यान के मुख्य चार भेद - १. आज्ञाविचय, २. अपायविचय, ३. विपाकविचय ४. संस्थान विचय ।

१. आज्ञाविचय - पाँच अस्तिकाय तथा छह जीवनिकाय आदि वस्तुस्वरूप के चिंतवन में जहाँ अपनी मति की गति न हो, उसे सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर चिन्तवन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है ।

आगम में आज्ञाविचय का जो स्वरूप कहा है, उसका सारांश यह है कि तीव्र कर्मोदय से जिनकी मति मंद है, वे स्वयं तो अमूर्त व सूक्ष्म पदार्थों का निर्णय कर नहीं सकते और तत्त्वज्ञानी उपदेशक सर्वत्र सदाकाल सुलभ नहीं होते तथा अमूर्त आत्मा और धर्म, अधर्म द्रव्यों की सिद्धि के लिए ऐसे दृष्टान्त व हेतु लोक में उपलब्ध नहीं होते जिनसे उन सूक्ष्म तत्त्वों को समझा जा सके ।

ऐसी स्थिति में मन्दबुद्धि मुमुक्षु जीवों को एकमात्र जिनाज्ञा को प्रमाण मानना ही शरणभूत है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग व सर्वज्ञ होने से अन्यथावादी नहीं होते । कहा भी है - 'नान्यथाः वादिनोजिनः' अतः सर्वज्ञकथित आगमोक्त सूक्ष्मतत्त्व का चिन्तवन करना आज्ञा-विचय धर्मध्यान है तथा स्व-समय पर-समय के ज्ञाता तत्त्वज्ञानी वक्ता और लेखकों द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अतिसूक्ष्म पंचास्तिकाय, जीवनिकाय तथा आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का आगम व युक्तियों के आलम्बन से एवं सरल-सुबोध दृष्टान्तों से जनसाधारण को समझाना और मिथ्यावादियों के तर्कजाल का भेदन करके उन्हें जिनमत सुनने-समझाने के प्रति सहिष्णु बनाना - ये सब कार्य भी आज्ञाविचय धर्मध्यान की सीमा में आते हैं; क्योंकि इनमें भी सर्वज्ञ की वाणी का ही चिन्तन-मनन एवं प्रचार-प्रसार होता है ।



२. **अपायविचय** - शुभाशुभ भावों से मुक्त होने का चिन्तन करना अपायविचय है। राग-द्वेष-कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में निंद्य इहलोक व परलोक से छूटने का उपाय सोचना अपायविचय है।

अपाय कहो या उपाय दोनों एकार्थवाचक हैं। उन्मार्ग में भटके जीवों को सन्मार्ग में लाने के उपायों पर विचार करना ही अपायविचय है तथा मिथ्यादर्शन से जिनके ज्ञान नेत्र अन्धकाराच्छन्न हो रहे हैं, जो सर्वज्ञप्रणीत उपदेश से विमुख हो रहे हैं, सम्यक्पथ का ज्ञान न होने से जो उन्मार्ग में भटक रहे हैं, उन्हें सन्मार्ग में लाने के उपायों का चिन्तन करना भी अपायविचय है।

अथवा मिथ्यादर्शन से आकुलित चित्त वाले प्रवादियों के द्वारा प्रचारित कुमार्ग से हटकर जगत के जीव सन्मार्ग में कैसे लगे ? और अनायतन सेवा से कैसे विरक्त हों ? धर्म के नाम पर पनप रही पापकारी प्रवृत्तियों से कैसे निवृत्त हों, सुपथगामी कैसे बनें ? इसप्रकार के उपायों का चिन्तन करना भी अपायविचय धर्मध्यान है।

३. **विपाकविचय** - स्वतः या परकृत आपतित संकटकाल में उत्पन्न हुई आकुलता से बचने के लिए उस संकट को अपने ही कर्मोदय का फल मानकर साम्यभाव रखना विपाकविचय है।

४. **संस्थानविचय** - लोक के स्वरूप का विचार करना। यह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार तरह से किया जा सकता है, जिनका स्वरूप इसप्रकार है -

(१) **पिण्डस्थ ध्यान** - इसका जिनागम में भी उल्लेख है कि - 'निज आत्मा का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान है।<sup>१</sup> केवली तुल्य आत्मस्वरूप का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।<sup>२</sup> धर्मध्यान के इस प्रथम भेद में धर्मीजीव अनेकप्रकार की धारणाओं द्वारा अपने उपयोग को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है।

'अपनी नाभि में, हाथ में, मस्तक में या हृदय में कमल की कल्पना करके उसमें स्थित सूर्य तेजवत् स्फुरायमान अर्हन्त के रूप का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।<sup>३</sup>

१. परमात्मप्रकाश टीका १/६/६, भावपाहुड़ टीका ८६/२३६

२. ज्ञानार्णव ३६/२८, ३२, वसुनन्दि श्रावकाचार ४५९

३. ज्ञानसार १९-२१

ध्येय पदार्थ चूँकि ध्याता के शरीररूप पिण्ड में स्थितरूप से ही ध्यान किया जाता है, इसलिए कुछ आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं।<sup>१</sup>

पिण्डस्थ ध्यान की पाँच धारणाएँ<sup>२</sup> - १. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. श्वसना, ४. ब्राह्मणी और ५. तत्त्वरूपवती। (इनकी विशेष जानकारी के लिए देखें तत्त्वानुशासन एवं ज्ञानार्णव ३७/२८-३१ विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया जा सका है।)

(२) पदस्थ ध्यान लक्षण - “मंत्र वाक्यों में स्थिर होने को पदस्थ ध्यान कहते हैं।<sup>३</sup> एक अक्षर से लगा कर अनेकप्रकार के पंचपरमेष्ठी वाचक पवित्र मंत्र पदों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान है।<sup>४</sup>

पदस्थ ध्यान के योग्य मंत्र - एकाक्षरी मंत्र : ‘अ’, ‘ॐ’, ह, ह्रीं आदि, दो अक्षरी मंत्र: अर्ह, सिद्धं आदि। चार अक्षरी मंत्र : ‘अरहंत’। पाँच अक्षरी मंत्र - अ, सि, आ, उ, सा, (ॐ) हां, ह्रीं, हूं, हौं, हः, णमो सिद्धाणं, नमः सिद्धेभ्यः। छः अक्षरी मंत्र - ‘अरहंत-सिद्धं’, ‘अर्हदभ्यो नमः’, ‘ॐ नमो अर्हते’, सात अक्षरी मंत्र - णमो अरहंताणं, नमः सर्वसिद्धेभ्यः।

सबसे बड़ा ३५ अक्षरों का महामंत्र णमोकार मंत्र है। इन पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्रों का अवलम्बन लेकर अपने उपयोग को एकाग्र करने का, स्थिर करने का अभ्यास करना पदस्थ धर्मध्यान है।

(३) रूपस्थ - सर्व चिद्रूप का चिन्तवन रूपस्थ ध्यान है।<sup>५</sup>

(४) रूपातीत - वर्ण-रस-गंध और स्पर्श से रहित केवलज्ञान दर्शनस्वरूप जो सिद्धपरमेष्ठी का या शुद्धता का ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है।<sup>६</sup> निरंजन का ध्यान रूपातीत ध्यान है।<sup>७</sup>

१. तत्त्वानुशासन १३४ २. वही, १८३ धारणाएँ ३. द्रव्यसंग्रह टीका, ४८/२०५, परमात्मप्रकाश टीका १/६/६, भावपाहुड़ टीका ८६/२३६  
४. वसुनन्दि श्रावकाचार ४६४ ५. द्रव्यसंग्रह टीका ५०-५५ की पातनिका ६. द्रव्यसंग्रह टीका, ४८/२०५, परमात्मप्रकाश टीका १/६/  
६, भावपाहुड़ टीका ८६/२३६ ७. द्रव्यसंग्रह टीका ५१ की पातनिका का २१६/१, ज्ञानार्णव ४०/१५-२६

उपर्युक्त चार भेदों के अतिरिक्त धर्मध्यान के ६ भेद और भी कहे गये हैं, जो इसप्रकार हैं -

१. उपायविचय - आत्मा का कल्याण करनेवाले जिनोपदिष्ट उपायों का चिन्तन करना ।

२. जीवविचय - जीवद्रव्य व जीवतत्त्व के स्वरूप एवं गुणस्थान आदि का चिन्तन करना ।

३. अजीवविचय - अजीवद्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन करना अजीवविचय है ।

४. विरागविचय - बारह भावना आदि के माध्यम से शरीर की अपवित्रता और भोगों की असारता का चिन्तन करना विरागविचय है ।

५. भवविचय - चारों गतियों में भ्रमण करनेवाले जीवों को मरने के बाद जो पर्याय प्राप्त होती है, उसे भव कहते हैं । यह भव दुःखरूप है तथा यह मनुष्यभव भव का अभाव करने को मिला है । भव (जन्म-मरण) बढ़ाने के लिए नहीं मिला - ऐसा चिन्तन करना भवविचय धर्मध्यान है ।

६. कारणविचय (हेतुविचय) - तर्क व युक्ति का अनुसरण करते हुए स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर तत्त्व का चिन्तन करना हेतुविचय है ।

इसप्रकार धर्मध्यान के दस भेद हो जाते हैं । इनके सिवाय बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से भी धर्मध्यान के दो भेदों का उल्लेख आगम में है । शास्त्र के अर्थ खोजना, शीलव्रत पालना, गुणानुराग रखना, प्रमाद रहित होना तथा जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सकें उसे बाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जिसे केवल अपना आत्मा और सर्वज्ञदेव ही जान सके, वह आभ्यन्तर निश्चय धर्मध्यान है ।

इसप्रकार धर्मध्यान के आश्रय से अशुभभाव से बचे रहनेरूप व्यवहार धर्मध्यान होता है तथा शुद्धात्मा के आश्रय से निश्चय धर्मध्यान होता है । निश्चय धर्मध्यान की पूर्व भूमिका में इन शुभभावरूप दस प्रकार के व्यवहार धर्मध्यानों का आश्रय अवश्य होता है ।

ये सभी धर्मध्यान सामूहिक स्वाध्याय के रूप में, तत्त्वगोष्ठी के रूप में, वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के भेदों के रूप में, बारह भावना के चिन्तवन के रूप में, सामायिक के रूप में, उठते-बैठते, चलते-फिरते तत्त्वविचार करने आदि अनेक रूपों में हो सकते हैं।

चौथा ध्यान - शुक्लध्यान चार प्रकार का कहा गया है - १. पृथक्त्ववितर्कवीचार, २. एकत्ववितर्कवीचार, ३. सूक्ष्मक्रियापाति, ४. समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति।

जिस ध्यान में वितर्क अर्थात् शास्त्र के पदों का पृथक्-पृथक् रूप से वीचार अर्थात् संक्रमण होता रहे, उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान है।

शास्त्र को वितर्क कहते हैं और अर्थव्यंजन तथा योगों का संक्रमण (परिवर्तन) वीचार माना गया है। इन्द्रियों को वश करनेवाला मुनि, एक अर्थ से दूसरे अर्थ को, एक शब्द से दूसरे शब्द को और एक योग से दूसरे योग को प्राप्त होता हुआ इस पहले पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम के शुक्लध्यान का चिन्तवन करता है; क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों योगों को धारण करनेवाले और चौदह पूर्वों के जाननेवाले मुनिराज ही इस पहले शुक्लध्यान का चिन्तवन करते हैं, इसलिए ही यह पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार कहा जाता है। श्रुतस्कन्धरूपी समुद्र के शब्द और अर्थों का जितना विस्तार है, वह सब इस प्रथम शुक्लध्यान का ध्येय अर्थात् ध्यान करनेयोग्य विषय है और मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम होना इसका फल है।

यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना चाहिए कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कन्धरूपी महासमुद्र से कोई एक पदार्थ लेकर उसका ध्यान करता हुआ किसी दूसरे पदार्थ को प्राप्त हो जाता है अर्थात् पहले ग्रहण किये हुए पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ का ध्यान करने लगता है। एक शब्द से दूसरे शब्द को प्राप्त हो जाता है और इसीप्रकार एक योग से दूसरे योग को प्राप्त हो जाता है, इसीलिए इस ध्यान को सवीचार और सवितर्क कहते हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के जाननेवाले मुनिराज ही प्रथम शुक्लध्यान को कर सकते हैं। यह

ध्यान प्रशान्तमोह क्षीणमोह और उपशम तथा क्षपक श्रेणियों के शेष आठवें, नौवें तथा दसवें गुणस्थान में भी हीनाधिक रूप से रहता है।

२. एकत्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान भी पहले शुक्लध्यान के समान ही जानना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया हो, जो पूर्वो का जाननेवाला हो, जिसका आत्मतेज हो ऐसे महामुनि को ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है। जिसकी कषाय नष्ट हो चुकी है और जो घातिया कर्मों को नष्ट कर रहा है, ऐसा मुनि सवितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित और अवीचार अर्थात् अर्थव्यंजन तथा योगों के संक्रमण से रहित दूसरे एकत्ववितर्क नाम के बलिष्ठ शुक्लध्यान का चिन्तन करता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाला तथा समस्त पदार्थों को जाननेवाला अविनाशीक ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान का उत्पन्न होना ही इस शुक्लध्यान का फल है।

पहला शुक्लध्यान तीनों योगों को धारण करनेवाले के होता है, परन्तु दूसरा शुक्लध्यान एक योग को धारण करनेवाले के होता है, भले ही वह एक तीन योगों में से कोई भी हो।

३. सूक्ष्मक्रियापाति परम शुक्लध्यान केवली भगवान के ही होता है। वे केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेव जब योगों का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं, तब वे उसके पहले स्वभाव से ही समुद्घात की विधि प्रकट करते हैं। उससमय वे केवली भगवान अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट कर देते हैं और इसीप्रकार अशुभ कर्मों के अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति के भी अनन्त भाग नष्ट कर देते हैं। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त में योगरूपी आस्रव का निरोध करते हुए काययोग के आश्रय से वचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं और फिर काययोग को भी सूक्ष्म कर उसके आश्रय से होनेवाले सूक्ष्म क्रियापाति नामक तीसरे शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं।

४. तदनन्तर जिनके समस्त योगों का बिलकुल ही निरोध हो गया है ऐसे वे योगिराज हरप्रकार के आस्रवों से रहित होकर समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम के चौथे शुक्लध्यान को प्राप्त होते हैं।

योग-प्राणायाम और ध्यान का निमित्त-नैमित्तिक संबंध - तात्त्विक दृष्टि से तो भेदविज्ञान होने पर वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के सहारे से प्रतिकूल परिस्थितियों में होनेवाली राग-द्वेष परिणति को कृश करने के रूप में तथा परिणामों को शान्त रखने के रूप में धर्मध्यान ज्ञानियों को समय-समय पर चलते-फिरते भी होता ही रहता है; परन्तु उसकी विशेष सिद्धि के लिए प्राणायाम की भी आचार्यों ने अनुमोदना की है।

प्राणायाम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि -

मुनिर्णीत सिद्धान्तैः प्राणायाम प्रशस्यते ।

मुनिभिर्ध्यानं सिद्धयर्थं स्थैर्यार्थंचान्तरात्मनः ॥१॥<sup>१</sup>

जिन्होंने भलेप्रकार से सत्यार्थ सिद्धान्त का निर्णय किया है, ऐसे ज्ञानियों ने धर्मध्यान की सिद्धि के लिए तथा मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम की प्रशंसा की है।

प्राणायाम का स्वरूप - श्वांस अर्थात् बाहर की वायु का लेना और प्रश्वास अर्थात् अन्दर की वायु को निकालकर रोकना प्राणायाम है।

“मन-वचन-कायरूप योगों के निग्रह के लिए श्वासोच्छ्वास के नियंत्रण करने की प्रक्रिया ही प्राणायाम है।”<sup>२</sup>

प्राणायाम के ३ भेद हैं - १. कुंभक (बाह्यवृत्ति) २. पूरक (अभ्यन्तर वृत्ति), ३. रेचक (स्तंभवृत्ति)।

१. कुंभक - श्वांस को धीरे-धीरे अन्दर खेंचकर पूरक पवन को नाभि के मध्य स्थिर करके रोकना।

२. पूरक - तालु के छिद्र से अर्थात् तालु व ओठों को कौए की चोंच की तरह बनाकर बाहर की पवन को खेंचना अथवा नाक से खेंचना और शरीर में पूरण करना पूरक है।

१. ज्ञानार्णव सर्ग २९, श्लोक १

२. ज्ञानार्णव

३. रेचक - अपने कोष्ठ के पवन को धीरे-धीरे बाहर निकालना रेचक है। हृदय कमल की कर्णिका में पवन के साथ चित्त को स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उठते और विषयों की आशा भी नष्ट हो जाती है तथा अंतरंग में विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है। इस पवन के साधन से मन को वश में करना ही प्राणायाम का फल है।<sup>१</sup>

वर्तमान में शरीरविज्ञान और मनोवैज्ञानिक पद्धति के अनुसार सामान्य ध्यान के तीन आयाम हैं - शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। शरीरविज्ञान के अनुसंधान के अनुसार ध्यान का प्रथम प्रभाव शरीरतंत्र पर पड़ता है; इससे रक्तसंचार, हृदयस्पन्दन, ग्रन्थियों का रसस्राव और मनोभावना भी प्रभावित होती है। अन्य शारीरिक क्रियाओं के समान ध्यान से भी मस्तिष्क की तरंगों में परिवर्तन आता है।

इसप्रकार सामान्य ध्यान तन को विश्रान्त और मन को स्थिर करने की प्रक्रिया है। ध्यान से इन्द्रियाँ भी स्वतः नियंत्रित हो जाती हैं। इस ध्यान के अभ्यास से नाडीतंत्र और मेरुदण्ड में भी जागरण होता है।

भारतीय योगाभ्यासियों की भी लगभग यही मान्यता है कि योगसाधना शरीरतंत्र के शोधन की प्रक्रिया है और मनोवृत्तियों के नियंत्रण और रूपान्तरण के लिए भी योग साधना व ध्यान उपयोगी है। इसप्रकार योग, प्राणायाम और ध्यान शरीर एवं मन के नियंत्रण में लाभकारी हैं।

इसमें भी सन्देह नहीं है कि यह योगसाधना और तत्संबंधी ध्यान की प्रक्रिया शारीरिक स्वास्थ्य लाभ एवं मानसिक तनावों से छुटकारा पाने के लिए प्राकृतिक नियमों की निकटवर्ती होने से अन्य उपचारों की तुलना में सर्वोत्तम है। स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से तो इसकी उपयोगिता असंदिग्ध ही है; परन्तु इस योग और प्राणायाम के द्वारा शरीर के अंग-अंग का ध्यान करने से परमार्थरूप से या मुक्तिमार्ग के रूप में आत्मलाभ नहीं होता।

भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार ही परवर्ती आचार्य अकलंकदेव, आचार्य शुभचंद्र आदि अनेक मनीषियों द्वारा प्राणायाम को मोक्षमार्ग में बाधक ही माना जायेगा।

जैनदर्शन के अनुसार तो धर्मध्यान की बात ही कुछ और है, वह तो आत्मज्ञान के बिना होता ही नहीं

है। धर्मध्यान करने के लिए तो आत्मानुभूति होना अनिवार्य है। निश्चयतः धर्मध्यान आत्मा की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में साधक अपने ज्ञानोपयोग को इन्द्रियों के विषयों व मन के विकल्पों से, पर-पदार्थों से एवं अपनी मलिन पर्यायों पर से हटा कर अखण्ड, अभेद, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा पर केन्द्रित करता है, अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा पर स्थिर करता है। बस, इसे ही निश्चय से धर्मध्यान कहा जाता है।

वस्तुतः धर्मध्यान ज्ञानोपयोग की वह अवस्था है, जहाँ समस्त विकल्प शमित होकर एकमात्र आत्मानुभूति ही रह जाती है, विचार-श्रृंखला रुक जाती है, चंचल चित्तवृत्तियाँ निश्चल हो जाती हैं। अखण्ड आत्मानुभूति में ज्ञाता-ज्ञेय का एवं ध्याता-ध्येय का भी विकल्प नहीं रहता।

इसप्रकार निश्चय धर्मध्यान की साधना के लिए व्यवहार धर्मध्यान में चिंतित तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा ज्ञानोपयोग को आत्मकेन्द्रित किया जाता है, जबकि योग साधना के ध्यान शिविरों में आसन और प्राणायाम के माध्यम से साधकों को ध्यान करने के जो निर्देश दिये जाते हैं, उनमें ध्यान को अर्थात् ज्ञानोपयोग को नख से सिरपर्यन्त शरीर के एक-एक अंग पर, श्वासोच्छ्वास पर ले जाकर वहाँ रोकने और सांस को आते-जाते देखने-जानने और अमुक अंग शिथिल हो रहा है, शून्य हो रहा है - ऐसा अनुभव करने को कहा जाता है। अपने मन को श्वासोच्छ्वास पर ले जायें और साक्षीभाव से आते-जाते श्वासोच्छ्वास का अनुभव करें - ऐसे निर्देश दिये जाते हैं।

सबको स्वस्थ रहने का लाभ तो रहता ही है। स्वस्थ रहने की क्रिया स्वास्थ्य के लिए करें तो इसमें कोई बाधा नहीं; पर इसे धर्मक्रिया मानकर नहीं करना चाहिए। बीच-बीच में जो अपने इष्टदेव को स्मरण करने के निर्देश भी दिए जाते हैं। अतः उससमय वीतरागी सर्वज्ञदेव का ही स्मरण करें।

प्रश्न - आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का उल्लेख जिनागम में भी तो आया है न ? क्या स्वरूप है इनका और ध्यान में इनकी क्या उपयोगिता है ?

उत्तर - पूर्वाचार्यों ने जो प्राणायाम के तीन भेद बताये हैं, उसका भी उन्होंने उल्लेख किया है। प्राणायाम के बारे में आगम का कथन इसप्रकार है -



त्रिधा लक्षण भेदेन, संस्मृतः पूर्व सूरिभिः

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनत्तरम् ॥३॥

लक्षण के भेद से प्राणायाम तीनप्रकार का माना गया है - कुम्भक, पूरक एवं रेचक। इन तीनों का स्वरूप पहले आ ही चुका है।

वस्तुतः प्राणायाम श्वासोच्छ्वास के अन्तर्गमन-बहिर्गमन एवं अन्तःस्थापन के नियंत्रण की प्रक्रिया है। कहते हैं कि - उपर्युक्त प्राणायामों में रेचक उदर की व्याधि और कफ नष्ट होने में निमित्त होता है, पूरक शरीर पुष्ट होने में निमित्त होता है और बहुत-सी व्याधियों का नाश होने में भी निमित्त होता है तथा कुम्भक हृदयकमल विकसित होने में निमित्त होता है।

प्राणायाम के प्रकरण में पहले तो प्राणायाम को अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अनुशंसित किया, परंतु बाद में प्रत्याहार की अनुशंसा करते हुए प्राणायाम को ध्यान में बाधक बतलाया है।

प्रत्याहार का स्वरूप इन्द्रिय और मन के विषयों से अपने उपयोग को खींचकर, इच्छानुसार जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लगाने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। ऐसा प्रत्याहार करनेवाला ज्ञानी साधक पाँचों इन्द्रियों एवं मन के विषयों से अपने ज्ञानोपयोग को (मन को) पृथक् करके आकुलता से रहित होता हुआ आत्मस्थ होता है।

‘सम्यक् समाधि सिद्धयर्थं प्रत्याहं प्रशस्यते।

प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥

समाधि को भलीभांति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार ही प्रशंसनीय है; क्योंकि प्राणायाम से क्षोभ को प्राप्त हुआ मन शीघ्र स्वस्थ नहीं हो पाता।’

प्राणायाम की सफलता शरीर को हल्का-भारी करने में तो उपयोगी है; परन्तु मुक्ति के अभिलाषियों को अभीष्ट सिद्धि में तो प्राणायाम साधक नहीं है।



## भरतेश द्वारा दिग्विजय को प्रस्थान

कृतयुग के आरंभ में आदि तीर्थंकर के प्रथम पुत्र महाराजा भरत बहुत आनंद के साथ राज्य का शासन कर रहे थे। उनके राज्य में प्रजा को किसी भी प्रकार का दुःख नहीं था, चिंता नहीं थी, प्रजा अत्यंत सुखी थी। प्रजा रात-दिन महाराजा भरत की शुभकामना करती थी कि हमारे दयालु राजा भरत चिरकालतक सुखपूर्वक राज्य करें। भरतेश के मन में भी कोई प्रमाद नहीं, राज्यभार की उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं। किसी बात की अभिलाषा नहीं। प्रजाहित में आलस्य नहीं। जिसप्रकार देवेन्द्र स्वर्ग का शासन करते हैं, भरतेश भी उसीप्रकार प्रेमपूर्वक पृथ्वी का पालन कर रहे थे।

एक दिन मंत्री बुद्धिसागर ने कहा - “स्वामिन्! शस्त्रालय में बालसूर्य के समान चक्ररत्न का उदय हुआ है। अतः अब आप दिग्विजय के लिए प्रस्थान करें।

राजन् ! आप दुष्टों को मर्दन करने में तो समर्थ हैं ही। त्यागी, तपस्वी एवं सदाचारी पुरुषों का संरक्षण तथा धर्मात्माओं के धर्म की रक्षा भी आपके द्वारा ही होती है। ऐसी अवस्था में इस भूमि की प्रदक्षिणा देकर सर्व राजाओं को अपने अधीन कर छहों खण्डों पर विजय प्राप्त करें।

जहाँ जो उत्तम पदार्थ हैं, वे सब आपको भेंट करने के लिए लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन सबकी इच्छा की पूर्ति करते हुए आप देश-देश की शोभा देखें। दूर-दूर देश के जो राजा हैं उनके घर में उत्पन्न कन्या रत्नों से ब्याह कर उनके जीवन को धन्य करें। अब देरी क्यों करते हैं ? राजन्! छह खण्ड की प्रजा आपके दर्शन के लिए तरस रही है। उनको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करें।”

बुद्धिसागर मंत्री के समयोचित निवेदन पर राजा को बड़ा हर्ष हुआ। मंत्री के कर्तव्यपालन के प्रति प्रसन्न होकर भरतेश ने बुद्धिसागर को अनेक वस्त्र व आभूषण भेंट में दिये और यह भी आज्ञा दी कि दिग्विजय प्रयाण की तैयारी करो। सब लोगों को इसकी सूचना दो। बुद्धिसागर ने प्रार्थना की कि “स्वामिन्! नौ दिन तक जिनेन्द्र भगवन्त की पूजा वगैरह बड़े उत्साह के साथ कराकर दशमी के रोज यहाँ से प्रस्थान का प्रबन्ध करूँगा।”

बुद्धिसागर मंत्री की आज्ञा से अयोध्यानगरी के जिनमन्दिरों की एवं नगर की सजावट होने लगी। सब जगह अब दिग्विजय प्रयाण की चर्चा चल रही थी। मन्दिरों की ध्वजा पताकाएँ आकाश प्रदेश को चुंबन कर रही थीं। इसकारण उस नगर का साकेतपुर नाम सार्थक बन गया।

अयोध्यानगरी के बड़े-बड़े राजमार्ग अत्यन्त स्वच्छ किए गये एवं सुगंधित गुलाबजल छिड़काव होने से सर्वत्र सुगंध ही सुगंध फैल गई थी। अयोध्यानगरी में अगणित जिनमन्दिर थे, उनमें कहीं पूजा चल रही थी। कहीं मुनिराजों को आहारदान दिया जा रहा था। इसप्रकार वह पुण्यनगर बन गया था।

नित्य ही अनेक धर्मप्रभावना के कार्य व नित्य ही रथयात्रा महोत्सव, महाभिषेक, पूजा आदि कार्य बुद्धिसागर मंत्री की प्रेरणा से हो रहे थे।

भरतेश बीच के सिंहासन पर विराजे हुए थे। इधर-उधर पुरोहित, मंत्री, सेनापति, सामन्त वगैरह बैठे हुए थे। सामने अगणित प्रजा बैठी हुई थी। इनके बीच में अनेक विद्वान कवि, गायक वगैरह भी उपस्थित थे। सब अपनी-अपनी कला प्रदर्शित कर रहे थे।

दिग्विजय को प्रस्थान करने का अब कुछ ही समय अवशेष था। इतने में एक सुंदर व दीर्घकाय भद्रपुरुष ने दरबार में पदार्पण किया। सबसे पहले चक्रवर्ती के सामने कुछ भेंट समर्पण कर उसने साष्टांग प्रणाम किया। भरतेश ने भी उसे योग्य स्थान में बैठने के लिए अनुमति दी।

यह अभ्यागत और कोई नहीं, भरतेश के लघुभ्राता युवराज बाहुबली के हितैषी मंत्री प्रणयचंद्र थे। जैसा उनका नाम था वैसे ही उनमें गुण थे, वे अतिविवेकी थे, दूरदर्शी थे।

भरतेश कुछ समय इधर-उधर की बातचीत कर उनसे पूछने लगे कि “प्रणयचंद्र ! मेरा भाई बाहुबली कैसा है ? और किसप्रकार आनंद से समय व्यतीत करता है ? उसकी दिनचर्या क्या है ? एवं हमारे दिग्विजय प्रयाण के समाचार सुनने के बाद वह क्या बोला ?

भरतेश के प्रश्न को सुनते ही प्रणयचंद्र उठकर खड़े हुए और बहुत विनय के साथ हाथ जोड़कर कहने लगे कि राजन्! “आपके सहोदर कुशल हैं। उन्हें कोई चिंता नहीं और कोई बाधा भी नहीं। सदा वे सुख से ही अपना काल व्यतीत कर रहे हैं; क्योंकि वे भी तो भगवान ऋषभदेव के ही पुत्र हैं न?

स्वामिन् ! वे राज्यशासन को संभालने के साथ श्रावकधर्म का पालन करते हुए कभी काव्य का श्रवण करते हैं, कभी नाटक का अवलोकन करते हैं तथा कभी नृत्य का आनंद लेते हैं तो कभी संगीत के रस में मग्न होकर सुख से समय बिताते हैं।

कभी-कभी वे श्रृंगारवन में क्रीड़ा करने के लिए जाते हैं। कभी-कभी महल में अपनी प्रिय रानियों के साथ बैठकर सरस वार्तालाप करते हैं, कभी कोकिल, भ्रमर, तोता आदि के विनोद को देखकर आनंदित होते हैं। परंतु उसमें एकदम मग्न न होकर योग का भी यदा-कदा अभ्यास करते हैं। राजन्! वे भी तो आपके ही सहोदर हैं न ? यह उनकी दिनचर्या है। अस्तु आपके दिग्विजय प्रयाण की वार्ता उन्होंने सुनी है। उसे सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई है।”

दिग्विजय के संबंध में बोलते हुए उन्होंने हमसे कहा है कि “बड़े भाई ने जो दिग्विजय का विचार किया है वह स्तुत्य है। उनका सामना करनेवाले इस पृथ्वी में कौन है ?”

साथ में स्वाभिमान के साथ उन्होंने यह भी कहा कि - “इस पृथ्वी पर प्रातःस्मरणीय देवाधिदेवों में

मेरे पिताजी भगवान ऋषभदेव तथा राजाओं में मेरे भ्राता भरतजी की बराबरी करनेवाले कौन हैं ? हम लोग तो उन दोनों को स्मरण करते हुए जीते हैं।”

प्रणयचंद्र मंत्री ने आगे कहा – स्वामिन्! आपके सहोदर इस अवसर पर स्वयं आशीर्वाद लेने के लिए आनेवाले थे; परंतु वे अनिवार्य कारण से नहीं आ सके। कारण कि वे एक शास्त्र को सुनने में दत्तचित्त हैं। बहुत संभव है कि कल परसों तक वह ग्रंथ पूर्ण हो जायेगा। हे स्वामिन्! और एक गूढ़ार्थ आपसे निवेदन करने का है। उसे भी आप सुनने की कृपा करें।

“गूढ़ार्थ” शब्द को सुनते ही बुद्धिमान लोग वहाँ से उठकर चले गये। वहाँ एकांत हो गया। प्रजा, परिवार, सामन्त, मांडलिक, मित्र ‘विद्वान’ नृत्यकार आदि सबके सब क्षणमात्र में जब वहाँ से चले गये तब प्रणयचन्द्र बहुत धीरे-धीरे कुछ कहने लगा। बुद्धिसागर मंत्री पास में ही बैठा था।

“स्वामिन्! विशेष कोई बात नहीं, आपकी मातुश्री जगन्माता यशस्वती महादेवी को पोदनपुर ले जाने की इच्छा आपके सहोदर ने प्रदर्शित की है। बहुत देरी नहीं है, कल या परसों तक शास्त्र की समाप्ति हो जायेगी। उसके बाद वे स्वयं ही यहाँ पधार कर मातुश्री को पोदनपुर ले जायेंगे – ऐसा उन्होंने कहा है।

राजन्! जब तक आप दिग्विजय कर वापिस लौटेंगे तबतक के लिए माता यशस्वती देवी को अपने नगर में ले जाने का उन्होंने विचार किया है।”

प्रणयचन्द्र के इसप्रकार के वचन को सुनकर चक्रवर्ती ने कहा कि “पुत्र के घर में माता का जाना और माता को पुत्र द्वारा ले जाना कोई नई बात है क्या ? ऐसी अवस्था में इस संबंध में मुझसे पूछने की क्या जरूरत है ? मैं भी मातुश्री के लिए पुत्र हूँ। वह भी पुत्र है, इसलिए उसे भी माताजी को ले जाने का अधिकार है। मैं माता की आज्ञा का अनुवर्ती हूँ। पूज्य माताजी ही मुझे हमेशा सन्मार्ग का उपदेश देती रहती हैं। मैं माताजी को कुछ भी कह नहीं सकता। भाई की इच्छा हो तो वह उन्हें ले जावे।”

इसे सुनकर प्रणयचन्द्र ने फिर कहा कि “स्वामिन् ! आपने जैसा विचार प्रकट किया उसीप्रकार आपके सहोदर ने भी कहा था कि इसमें पूछने की क्या जरूरत है ? परन्तु उनसे मैंने कहा कि यद्यपि इस काम के लिए पूछने की जरूरत नहीं है; परन्तु उनसे मैंने निवेदन किया कि बिना सूचित किये माँ को लाना भी ठीक नहीं है। सूचना तो जरूर देनी ही चाहिए। इसलिए आपको सूचित करने के लिए मैं आया हूँ।

भरतेश प्रणयचन्द्र की बात सुनकर मन ही मन में कुछ हंसे व कहने लगे कि “प्रणयचन्द्र ! तुम बहुत बुद्धिमान हो। तुम्हारी कर्तव्य परायणता पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम बाहुबली के पास में रहो” – ऐसा कहकर उसको उत्तम वस्त्र आभूषण दिये। प्रणयचन्द्र भी भरतेश को प्रणाम कर वहाँ से वापिस चला गया।

प्रणयचंद्र के चले जाने के बाद भरतजी बाहुबली की वृत्ति पर मन ही मन हंसे। फिर प्रकटरूप से बुद्धिसागर से कहने लगे – “बुद्धिसागर! मेरे भाई के स्वाभिमान को तो तुमने देख ही लिया है न? मन में गांठ रखकर यहाँ आना नहीं चाहता है। इसलिए बहाना बनाकर प्रणयचन्द्र को भेजा है, बहाना भी शास्त्र सुनने का है? क्या यही अच्छा उपाय सोचा है? ‘मैं कामदेव हूँ’ इस बात का उसे बहुत अभिमान है। वह यह समझता है कि उसकी बराबरी करनेवाले कोई नहीं हैं।”

भरतजी ने पुनः कहा – “प्रणयचन्द्र ने असली बात को छिपाकर रंग चढ़ाते हुए बातचीत की है। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि बाहुबली मेरे प्रति भाई के नाते माथा नहीं झुकायेगा, परन्तु मैं क्या करूँ ? उसकी मर्जी, उसे जो जंचे वही करे।

बाहुबली युवराज है न! इसलिए भी उसे इतना अभिमान है। अन्य छोटे भाई भी कम नहीं। जिसप्रकार सूर्य को देखने पर नीलकमल अपने मुख को छिपा लेता है उसीप्रकार मेरे साथ उनका व्यवहार है। यद्यपि पूज्य पिताजी व माताजी के प्रति मेरे भाइयों को अत्यधिक भक्ति है; परन्तु मुझे देखकर नाक-मुँह सिकोड़ लेते हैं। क्या तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्रों का यह व्यवहार उचित है। मैं हमेशा इन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार

करता हूँ। उनके चित्त को दुखाने के लिए मैंने कभी भी प्रयत्न नहीं किया। परंतु ये सब मुझसे भेद रखते हैं। न मालूम मैंने इनका क्या बिगाड़ा है ? ये इसप्रकार मन में मेरे प्रति विरोध क्यों रखते हैं ?”

भरतजी ने आगे कहा - “बुद्धिसागर! आप इस बात को अपने तक ही सीमित रखें। मैंने तुमसे ही मेरे भाइयों के व्यवहार के विषय में कहा है और किसी से भी आजतक नहीं कहा है। भाइयों का मेरे प्रति जो उपेक्षापूर्ण व्यवहार है, इस बात को मैंने माँ से भी नहीं कहा। मातायें दुःखी न हों इसकारण मैं उन लोगों की प्रशंसा ही करता आ रहा हूँ।”

बुद्धिसागर बोले - “स्वामिन् आप जरा सहन करें, वे आपसे छोटे हैं। आपके साथ उन्होंने ऐसा व्यवहार किया तो आपका क्या बिगड़ा है ? वे नासमझ हैं। आपके साथ प्रेम से रहने के लिए इन्हें समझदारी की जरूरत है। तीन लोक में जितने भी बुद्धिमान हैं, विवेकी हैं। वे सब आपके चातुर्य को देखकर प्रसन्न होते हैं। यदि आपके भाई आपके साथ नाक-भौं सिकोड़कर रहें तो भी आपका क्या बिगड़ता है ? स्वामिन्! असली बात तो और ही है। वस्तुतः आपके भाई उद्धत नहीं हैं। मैं उनको अच्छी तरह जानता हूँ। वे आपके पास आने से डरते हैं। क्या आपकी गंभीरता कोई सामान्य है ?

राजन् ! इस जवानी में अगणित संपत्ति को पाकर न्यायनीति की मर्यादा को रक्षण करने के लिए आप ही समर्थ हो। आपके भाइयों में ऐसा विवेक कहाँ से आ सकता है ? अभी तक उन्होंने सामान्य व्यवहार भी नहीं सीखा है। इसलिए वे आपके पास में आने के लिए संकोच करते हैं। राजन्! आपके जितने भी सहोदर हैं वे अभी छोटे हैं। उनकी उमर भी कुछ अधिक नहीं है। ऐसी अवस्था में वे अभी बचपन को नहीं भूले हैं। इसीलिए वे बाहुबली से नहीं डरते, अपितु आपसे डरते हैं। वे बाहुबली के साथ कैसे भी अविवेक से बर्ताव करें, उससे बाहुबली तो प्रसन्न ही होता है। परंतु आप उनके पागलपने को कभी पंसद नहीं करेंगे, यह वे अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए आपके सामने नहीं आते हैं। वे अपने ही बर्ताव से स्वयं लज्जित हैं,

इसलिए उस लज्जा के मारे आपके पास नहीं आते हैं। अभिमान जैसी कोई बात नहीं है। कल वे अपने आप आकर आपकी सेवा करेंगे, आप चिंता क्यों करते हैं?”

मंत्री के चातुर्यपूर्ण वचन सुनकर चक्रवर्ती मन ही मन हंसे “ठीक है ! ठीक है ! मंत्री ! तुम बिलकुल ठीक कह रहे हो!” इसप्रकार कहते हुए बांधवों में प्रेम संरक्षण करने की मंत्री की सलाह से उसके प्रति मन ही मन में बहुत प्रसन्न हुए।

इतने में मध्यरात्रि का समय हो गया था। उस समय ‘जिनशरण’ शब्द का उच्चारण करते हुए भरतेश वहाँ से उठे और विश्राम करने चले गये।

भरतेश ने श्रृंगार कर योग्य शुभ मुहूर्त में दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। सबसे पहले भरतेश मातुश्री के दर्शन के लिए यशस्वती के महल की ओर चले। स्तुति पाठक भरतेश की उच्च स्वर से स्तुति कर रहे थे।

दूर से आते हुए पुत्र को माता यशस्वती हर्ष भरी अश्रुपूरित आँखों से देखने लगी। जिसप्रकार पूर्ण चन्द्र को देख समुद्र उमड़ता है उसीप्रकार पुत्र को देखकर माता यशस्वती अत्यधिक हर्षित हुई।

बहुत-सी स्त्रियों के बीच में देवी के समान सुशोभित माता के पास जाकर भरतेश ने प्रणाम किया। माता ने आशीर्वाद दिया - “बेटा! तुम पृथ्वी को लीला मात्र से जीतने में समर्थ हो, जाओ! जिनभक्ति कर छहखण्ड पर विजय प्राप्त करके लौटो। इसप्रकार माता ने पुत्र को आशीर्वाद दिया। साथ में माता ने यह भी पूछा कि बेटा! क्या आज तुम्हारा प्रस्थान है?”

भरत बोले - “माताजी ! बाहुबली कल या परसों तक यहाँ पर आनेवाला है एवं आपको मेरे दिग्विजय से लौटने तक के लिए पोदनपुर ले जायेगा। देखिये तो सही मेरे भाई की सज्जनता ? वह विवेकी है। वह सोचता होगा - ‘जबतक मैं यहाँ पर नहीं रहूँ तबतक अकेली माँ को कष्ट होगा’ इस विचार से वह आपको ले जा रहा है। समझदारी में वह मेरा छोटा भाई नहीं, बल्कि बड़ा भाई है। माता! मेरी अनुपस्थिति में आपका यहाँ पर रहना उचित भी नहीं है। इसलिए आप बाहुबली के महल में जाकर आनन्द से रहे। मैं जब दिग्विजय



कर वापिस लौटूँ, तब आप यहाँ पधारें। अच्छा अब मैं दिग्विजय के लिए जा रहा हूँ। आप मेरा मार्गदर्शन करें जिससे मुझे दिग्विजय में सफलता मिले।”

भरतेश की बात सुनकर यशस्वती देवी कहने लगी कि “हे बेटा ! तुम्हें मेरे मार्गदर्शन की क्या जरूरत है? सारे जगत को तुम आदेश देते हो, वह तुम्हारे आदेश के अनुसार चलते हैं। जाओ दिग्विजय कर आनन्द से वापिस आओ। बेटा! जो पुत्र दुर्मार्गगामी होते हैं उसे माता के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान जिस पुत्र का आचरण है माता उसे क्या शिक्षा दे? तुम ही बोलो। बेटा! मैं समझ गई कि मैंने तुमको जन्म दिया है, इसलिए तुमने मुझसे यह बात कही। यह तुम्हारी शालीनता है। बेटा! क्या कहूँ! तुम्हारी वृत्ति से तुम्हारे पिता भी संतुष्ट थे। मेरा चित्त भी अत्यधिक प्रसन्न है। इसलिए प्रिय भरत! तुम आनंद से पृथ्वी को वश कर आओ। तुममें अतुल सामर्थ्य मौजूद है।”

माता के मिष्टवचनों को सुनकर भरतेश बहुत ही प्रसन्न हुए। आनंद के वेग में ही पूछने लगे कि “क्या माता! आपको विश्वास है कि मुझमें उसप्रकार की बुद्धि व सामर्थ्य मौजूद है?”

यशस्वती ने तत्क्षण कहा कि “हाँ, हाँ विश्वास है। तुम जाओ!”

“तब तो कोई हर्ज नहीं” ऐसा कहकर भरतेश ने माता का चरण स्पर्श कर बहुत भक्ति से प्रणाम किया। उसीसमय माता ने पुत्र को मोती का तिलक किया। साथ में पुत्र को आलिंगन लेकर आशीर्वाद दिया कि “बेटा ! मन में कोई आकुलता नहीं रखना। तुम्हारे हाथी घोड़ों के पैर में भी कोई कांटा नहीं चुभे। षट्खंड में राज्य पालन करनेवाले राजागण तुम्हारे चरण में मस्तक रखेंगे। कोई संदेह की बात नहीं है। जाओ! जल्दी दिग्विजयी होकर आओ।” इसप्रकार बहुत प्रेम के साथ पुत्र की विदाई की।

माता की आज्ञा पाकर भरतेश वहाँ से चले। इतने में मातुश्री यशस्वती के दर्शन के लिए भरत की रानियाँ आईं। अनेक तरह के श्रृंगारों को धारण कर रानियों ने झुण्ड के झुण्ड में आकर अपने पति और सासू माता

के चरण को नमस्कार किया। यशस्वती देवी ने भी आशीर्वाद दिया कि “देवियो ! तुम हमारे पुत्र के साथ सकुशल लौटना। दिग्विजय प्रयाण में तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा – ऐसी हमारी मंगल कामना है।”

तब उन बहुओं ने सासू माँ से कहा “माता! हमें इस समय योग्य सदुपदेश दीजिये” – यह सुनकर यशस्वती देवी कहने लगी कि “विवेकी भरत की स्त्रियों को मैं क्या उपदेश दे सकती हूँ। आप लोगों के पति की बुद्धिमत्ता लोक में सर्वत्र विश्रुत है। अपने पति की आज्ञानुसार चलना यही कुलस्त्रियों का धर्म है।”

इतने में सभी शीलवतियों ने सासू माँ से प्रार्थना की – “आज हम सब पति के साथ दिग्विजय विहार में जा रही हैं। ऐसी अवस्था में हमें नित्य प्रति आपके चरणों का दर्शन नहीं मिल सकता। इसलिए पुनः जबतक आकर आपके पूज्यपादों का दर्शन हमें हो तबतक कुछ न कुछ व्रत लेने की आज्ञा दीजियेगा।” माता की आज्ञानुसार सभी सतियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रत लिये। किसी ने भोजन के रसों में किसी एक रस त्याग का नियम लिया। किसी ने पुष्पों में अमुक पुष्प का मुझे त्याग रहे – इसप्रकार का व्रत लिया। किसी ने तांबूल का त्याग किया। किसी ने वस्त्रों का नियम किया। एक स्त्री ने मल्लिका पुष्प का त्याग किया। एक ने जाई पुष्प का त्याग किया। एक सती ने दूध का त्याग किया, एक ने केले का त्याग किया। एक ने फैणी का त्याग किया। दूसरी ने गोरोचन और तीसरी ने कस्तूरी का त्याग किया। एक स्त्री ने रेशमी वस्त्रों का त्याग किया। एक ने मोती के आभूषणों का त्याग किया। इसप्रकार अनेक स्त्रियों ने तरह-तरह से अनेक नियम लिये। यह सब मर्यादित नियमव्रत है, यम नहीं; क्योंकि सासू माँ के पुनर्दर्शनपर्यंत इनका कालनियम है। बहुओं की भक्ति को देखकर माता यशस्वती को बहुत हर्ष हुआ और कहने लगी कि “बहुओ! आप लोग परदेश को गमन कर रही हैं, इसलिए प्रयाण के समय व्रतों में बंधने की क्या आवश्यकता है ? आप लोग जैसे ही जावे।”

बहुओं ने कहा – “माता! यद्यपि षट्खण्ड हमारे ही हैं, वह परदेश नहीं है, फिर भी इन व्रतों की हमें

आवश्यकता है” – ऐसा आग्रहपूर्वक कहकर सब स्त्रियों ने सासू माँ के चरणों में भक्तिपूर्वक मस्तक रखा। सासू ने भी ‘तथास्तु’ कहकर आशीर्वाद दिया।

भरतेश की माता महल से जब बाहर निकली उस समय उन्हें दो कौवे देखने में आये। आकाश प्रदेश में सामने एक गरुड़ बराबर भाग रहा था। नायक ने समय की अनुकूलता (शुभ शकुन) देखकर भरतेश को इशारे से बतलाया।

भरतेश भी अन्दर-अन्दर से ही हंसते हुए एवं बहुत उत्साह के साथ परमात्मा का स्मरण करते हुए नगर के मध्यस्थित जिनमन्दिर में आये।

मंत्री बुद्धिसागर ने प्रार्थना की कि “स्वामिन्! पूजा का कार्य बहुत विधिपूर्वक सम्पन्न किया गया। मुनियों को आहारदान नवधा भक्तिपूर्वक दिया गया। श्री ऋषभदेव मुनिराज की पूजा बहुत वैभव के साथ की गई है। प्रतिप्रदा से लेकर दशमी तक अद्वितीय उत्साह के साथ आपने जो पूजा कराई है, वह पूजा अब इस लोक में आपकी पूजा करायेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। स्वामिन्! धर्मपूर्वक राज्यपालन करने की पद्धति को आपके सिवाय और कौन जान सकता है?”

तत्पश्चात् भरत ने जिससमय दिग्विजय की तैयारी की, उसीसमय शरदऋतु भी आ गई, जो कि भरत की विजयश्री की प्रतीक थी। शरदऋतु के आते ही नदियों के किनारे हंसवत् स्वच्छ हो जाते हैं। हंस श्वेत होते हैं और शरदऋतु की चाँदनी की शोभा भी श्वेत होती है, नदियों के निर्मल जल से प्रवाहित किनारे और शरदऋतु की श्वेत चाँदनी की शोभा देखकर भरतजी हर्षित हुए।

भरतेश्वर दिग्विजय हेतु योग्य सारथी के रथ पर आरूढ़ हुए। प्रस्थान के समय होनेवाले जय-जय आदि शुभ शब्दों के द्वारा उनका अभिनन्दन किया गया। महाराजा भरत ने छहरखण्ड पर विजय प्राप्त करने के लिए सेना और सेनापति राजा जयकुमार के साथ प्रस्थान किया। सबसे पहले पैदल चलनेवाले सैनिकों का समूह था, उसके बाद घुड़सवार सैनिक थे, फिर क्रम से रथ एवं हाथी के सवार सैनिक चल रहे थे।

बड़े-बड़े मकानों के झरोखों में खड़ी नगर की नारियों द्वारा छोड़ी गई पुष्पांजलि महाराजा भरत पर पड़ रही थी। हे राजन! आपकी जय हो, विजय हो आदि मंगल आशीर्वाद और शुभकामनायें प्रगट करते हुए नर-नारियाँ भरत के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम प्रदर्शित कर रहीं थीं। चक्रवर्ती की सेना नगर से बाहर निकल कर चारों ओर फैल गई।

भरतजी ने सबसे पहले पूर्वदिशा में प्रयाण किया। सूर्यमण्डल के समान दैदीप्यमान और चारों ओर से देवों के द्वारा घिरा चक्ररत्न आकाश में भरतेश के आगे-आगे चल रहा था। जिसप्रकार मुनियों का समूह गुरु की इच्छानुसार चलता है, उसीप्रकार निधियों के स्वामी भरतजी की सेना चक्ररत्न के अनुसार चक्ररत्न के पीछे-पीछे चल रही थी। दण्डरत्न को आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊँचे-नीचे दुर्गम वनस्थलों को लीलामात्र में समतल-सुगम करता जाता था। मार्ग में प्रजापति भरत ने दिशाओं को अलंकृत करनेवाली शरदऋतु की शोभा देखी।

यात्रा करते धीर-वीर भरत सेना सहित गंगानदी के समीप पहुँचे। जो चौदह हजार सहायक नदियों से सहित हैं, जो हिमवान पर्वत के द्वारा समुद्र के लिए भेजी गई है। शरदऋतु के द्वारा जिसकी शोभा बढ़ गई है। ऐसी गंगा नदी को देखकर राजा भरत ने अनुपम आनन्द का अनुभव किया। वह गंगा ठीक जिनेन्द्र की कीर्ति के समान थी। जिसप्रकार जिनेन्द्र की कीर्ति ने समस्त दिशाओं को व्याप्त किया है, उसीप्रकार गंगा नदी ने पूर्व दिशा को व्याप्त किया है, जिनेन्द्र की कीर्ति ने रज अर्थात् पापों का नाश किया, उसीप्रकार गंगा ने भी रज अर्थात् धूलि को नाश किया था।

इसप्रकार उस गंगा नदी को देखकर नवनिधियों के स्वामी भरत परम प्रीति को प्राप्त हुए।

सारथी ने भरतजी को गंगानदी पर दृष्टि डाले हुए देखकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए कहा - “हे महाराज! यह गंगा नदी भगवान ऋषभदेव की वाणी के समान प्रतीत होती है। जिसप्रकार ऋषभदेव की वाणी समस्त संसार को आनन्दित करती है उसीप्रकार यह गंगा नदी भी समस्त लोक को आनन्दित करती है।

महाराज भरत विजयश्री को प्राप्त करते हुए मार्ग में जहाँ-तहाँ सेना के शिविरों में विश्राम करते जाते थे। वे शिविर अनेक जगह अधीनस्थ राजाओं के राज महलों में भी होते थे तथा कहीं-कहीं तम्बुओं में सेना शिविरों की सुन्दर व्यवस्था होती थी, जिनकी शोभा भी दर्शनीय थी।

जिसप्रकार श्रेष्ठ महिमा को धारण करनेवाले समवसरण में विराजमान जिनेन्द्रदेव की देव आराधना करते हैं, उसीप्रकार श्रेष्ठ वैभव को धारण करनेवाले उन शिविरों के मण्डपों में बैठे हुए महाराज भरत को पूर्वदिशा के राजाओं ने अपनी कुल परम्परा के अनुसार धन भेंट में देकर तथा आभूषण आदि अन्य सुख-सामग्री के साथ सुकन्यायें प्रदान कर उनकी सेवा की। इसीप्रकार उनकी सेना के द्वारा रोके हुए अन्य कितने ही राजाओं ने अहंकार छोड़कर दूर से ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्ती के लिए प्रणाम किया एवं उनकी आधीनता स्वीकार की।

इसीप्रकार भरतजी ने ६० हजार वर्षों तक सभी दिशाओं के राजाओं को जीतते हुए उन्हें अपने आधीन किया और पुनः उन्हें ही उनकी राज्यसत्ता प्रदान कर दी एवं उनसे प्राप्त सम्मान को स्वीकार कर जब चक्रवर्ती महाराज भरत कैलाश पर्वत पर जाकर पुनः आदि प्रभु की अर्चना की। भगवान ऋषभदेव के सिवाय किसी को भी नमन नहीं करने का निर्णय ले लिया था। महाराजा भरत के दूत द्वारा सन्देश सुनकर ९७ भाई तो संसार से विरक्त हो गये और उन्होंने विचार किया - सचमुच यह संसार असार है इसमें सच्चा सुख तो है नहीं, संसार में प्राणी जिसे सुख माने बैठे हैं, वह भी सचमुच तो सुखाभास ही है। उन्हें विचार आया कि - “यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकर भगवान इस सांसारिक सुख के साधनभूत राजवैभव का त्याग कर मोक्षमार्ग में अग्रसर क्यों होते? अतः हम भी इस क्षणिक सुख को तिलाञ्जलि देकर आज ही कैलाश पर्वत पर जाकर प्रभु के चरणों की शरण में जिनदीक्षा ग्रहण करेंगे” - ऐसा निश्चय कर ९७ भाई तो दीक्षित हो गये और उसी भव में केवलज्ञान प्रगट कर मुक्त भी हो गये।



### भरत-बाहुबली का अन्तर्द्वन्द एवं बाहुबली का वैराग्य

दिग्विजय करते हुए जब चक्रवर्ती भरत की सेना पोदनपुर के समीप पहुँची तो चक्ररत्न एकदम रुक गया। चक्ररत्न का नियम है कि जिन राज्यों के राजा चक्रवर्ती की आधीनता स्वीकार नहीं करते, अपना अस्तित्व अलग रखना चाहते हैं, उन्हें जीतने के लिए वह चक्ररत्न रुक जाता है।

पोदनपुर के समीप चक्ररत्न रुकने से सबको आश्चर्य हुआ। भरतेश ने मंत्री एवं सेनापति से पूछा - “चक्र क्यों रुक गया है?” उत्तर मिला - “आपके लघुभ्राताओं के द्वारा आत्मसमर्पण किए बिना चक्ररत्न आगे नहीं बढ़ सकता।” भरतेश ने यह जानकर अपनी समस्त सेना को वहीं पड़ाव डलवा कर रुकवा दिया।

पड़ाव में उसी रात्रि को जब सभी अपने-अपने विश्रामस्थल में जाकर विश्राम कर रहे थे कि इसी बीच एक घटना घटी - सर्वत्र निस्तब्धता थी, वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिल रहा था। सुनसान श्मशान जैसा सन्नाटा था। सब सैनिक गहरी नींद में सो रहे थे। तब पड़ाव के किसी कोने में दो विद्याधर सैनिक बातें कर रहे थे। पहला सैनिक बोला - “जिसतरह एक-एक बूंद से बड़ा सरोवर बनता है, एक-एक घास के तिनके से रस्सी बन जाती है; इसीप्रकार एक-एक सैनिक की शक्ति से महाराजा भरत चक्रवर्ती बन गये हैं। यदि सेना का बल नहीं होता तो भरतजी भी एक सामान्य मनुष्य ही तो हैं।”

इस पर दूसरा सैनिक बोला - “बिलकुल ठीक है, हाथी, घोड़ा आदि सेना और हथियारों से दुनिया को डराया और दिग्विजय कर ली। अन्यथा वह साधारण मनुष्य ही तो हैं।”

इसप्रकार सेना में हो रही दो सैनिक विद्याधरों की बातों को भरतजी ने सुन लिया।

प्रत्येक प्राणी की अन्तिम इन्द्रिय बहुत तेज होती है, इस सिद्धान्त के अनुसार एक तो साधारण मनुष्य की कर्णेन्द्रिय स्वाभाविक तेज होती है; फिर चक्रवर्ती की तो बात ही जुदी है। भरतजी की चक्षुइन्द्रिय इतनी तेज थी कि वे अयोध्या के राजमहल से पूर्व दिशा में उगते सूर्य विमान के अन्दर विराजमान जिनप्रतिमा के दर्शन कर लेते थे तो उनकी कर्णेन्द्रिय का तो कहना ही क्या ? कर्णेन्द्रिय भी ऐसी ही प्रबल थी। अतः उन्होंने उन सैनिकों की बातें सुन लीं।

उन्होंने विचार किया कि इन सैनिकों को मुझे अपनी शक्ति का परिचय तो देना ही होगा – नित्यकर्म से निर्वृत्त होकर भरतजी राजदरबार में विराजमान हुए। मंत्रियों ने ऐसा अनुभव किया कि आज महाराज संभवतः बाहुबली के कारण कुछ उदास हैं। अतः उन्होंने कहा – “महाराज ! आप हमें तो निश्चिन्त रहने का आश्वासन देते हैं और आप स्वयं उदास हैं, इसका क्या कारण है ?”

तब चक्रवर्ती भरत ने कहा – “मेरी उदासी का कारण बाहुबली का समर्पण न करना नहीं है, आज मेरी कनिष्ठ उंगली अकड़ गई है, टेढ़ी हो गई है। बहुत प्रयत्न करने पर भी सीधी नहीं हो रही। मुझे इस बात की चिन्ता है। यदि कोई सीधी कर सकें तो प्रयास करके देखें।”

सभी मंत्रियों ने प्रयास किए, पहलवानों को बुलाया, सैनिकों ने अपनी ताकत आजमायी; परन्तु कोई भी उंगली सीधी नहीं कर सका। अन्त में चक्रवर्ती भरत ने कहा – “एक मजबूत लोहे की सांकल लाओ और सभी हाथी उसमें जोत दो, उन्हें हांकों, संभव है हाथियों के द्वारा खींचने से उंगली सीधी हो जावे।”

सांकल का जैसे ही चक्रवर्ती के हाथ से स्पर्श हुआ कि वह लोह शृंखला स्वर्ण शृंखला में बदल गई। यह देख सभी को आश्चर्य हुआ। फिर चक्रवर्ती की समस्त सेना ने अपनी-अपनी ताकत आजमायी। हाथी घोड़ों का उपयोग भी किया गया, पर सफलता नहीं मिली। जब सैनिक सांकल खींच रहे थे तब चक्री ने उंगली को थोड़ा खींच दिया तो सब सैनिक साष्टांग नमस्कार की स्थिति में आ गये और उंगली को थोड़ा ढीला कर दिया तो सब चित्त होकर श्वासन में लेट गये। तब सबकी समझ में आ गया कि असलियत क्या है ?

सबने चक्री से प्रार्थना की कि “प्रभो! इस बल प्रदर्शन का प्रयोजन क्या है ?” उत्तर में चक्री ने वह सब रहस्य उद्घाटित कर दिया कि “उन दो सैनिक विद्याधरों ने मुझको एक सामान्य मनुष्य कहा था और सेना के बल पर चक्रवर्ती बने बैठे हैं – ऐसा अभिमान जताया था। अतः उनके नेत्र खोलने हेतु मैंने अपनी शक्ति प्रदर्शित की है।”

आधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव पाते ही १७ सहोदरों ने तो आधीनता स्वीकार नहीं करते हुए दीक्षा ही ले ली, यह जानकर भरतेश को बहुत दुःख हुआ, अतः वे यह नहीं चाहते थे कि बाहुबली भी एकदम दीक्षा ले लें। भरतजी को चक्रवर्ती होने का नियोग था, अतः छहखण्ड पर विजय प्राप्त करने हेतु युद्ध करना उनकी मजबूरी थी। चक्ररत्न के रुकने से उन्हें ऐसा करना पड़ रहा था; भरतजी का प्रस्ताव तो उन सब भाइयों को निमित्त मात्र था। उनके तो दीक्षित होने का काल ही आ गया था। अतः जिसका जो होना था उन्हें वैसे निमित्त मिल गये। अस्तु...

भरतजी को भाइयों के स्वाभिमान पर एवं धर्मवीरता पर गौरव भी हुआ। भरतजी ने सोचा – “बाहुबली भी कम स्वाभिमान नहीं है। वह तो कामदेव भी है; परन्तु उसका भी दीक्षित हो जाना तो हमें बिल्कुल अभीष्ट नहीं है और वह स्वाभिमान वश झुकनेवाला भी नहीं है। वैसे वह अत्यन्त विनयशील है, बड़े भाई के नाते उसे नमस्कार करने में कतई आपत्ति नहीं होगी – ऐसा मुझे विश्वास है; परन्तु उसके द्वारा आधीनता स्वीकृत करना भी सहज कार्य नहीं है। अतः पत्र द्वारा संदेश भेजने से काम नहीं बनेगा, दूत भेजना पड़ेगा।

यह विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि “दक्षिणांक इस काम के लिए सर्वोत्तम दूत है, उसे भेजा जाय।” भरतजी ने दक्षिणांक दूत को बाहुबली के पास भेजा।

बाहुबली के मंत्री व मित्रों को अपने आने का कारण कहकर एवं उनके अनुकूल बनकर भरत का संदेशवाहक दक्षिणदूत संधि का संदेश लेकर जब बाहुबली के दरबार में पहुँचा तो बाहुबली ने दक्षिणांक को देखकर प्रश्न किया कि “दक्षिण! तुम किस कार्य से आये हो ? बोलो!”



उत्तर में हाथ जोड़कर दक्षिणांक ने बड़ी नम्रता के साथ निवेदन किया - “स्वामिन्! सम्राट को जब समस्त पृथ्वी साध्य हो चुकी तो मार्ग में उन्होंने पिताश्री (ऋषभदेव) के दर्शन किये। तदनन्तर भाग्य से माताजी के भी दर्शन हुए, फिर उनको अपने छोटे भाई (आपश्री) को देखने की इच्छा हुई। हमसे उन्होंने गुप्तरूप से पूछा था कि “मेरे भाई बाहुबली को देखने का क्या उपाय है? तब हम लोगों ने कहा कि “राजन्! जैसे आपके मन में छोटे भाई को देखने की इच्छा हुई है, उसीप्रकार आपके छोटे भाई के मन में भी आपको देखने की इच्छा हुई होगी।” तब सम्राट ने हमसे कहा - “तुम ठीक कहते हो; परंतु अभी उसको सुख से रहने दो। पिताजी ने भी उसे बहुत प्रेम से पाला-पोसा है। मेरी छोटी माँ का वह इकलौता बेटा है। इसलिए उसे अभी कष्ट नहीं देना चाहिए। जब हम अयोध्या में पहुँचेंगे तब छोटी माँ को बुलवायेंगे तब बाहुबली भी आयेगा। तभी उससे मिल लेंगे।”

हम लोगों ने उनसे पुनः प्रार्थना की कि “स्वामिन्! जब अयोध्या में आयेंगे तब तो आप लोग महल में बातचीत करेंगे। इसकारण हमें निकट से मिलने का मौका नहीं मिलेगा। यदि आप अभी सबके सामने मिलेंगे तो हम लोग भी आप दोनों भाइयों को देखकर धन्य हो सकते हैं। इसलिए पोदनपुर के पास से जाते समय हमारी हार्दिक भावनाओं को ध्यान में रखकर भरतेश्वर ने आपको बुलाने की अनुमति दे दी।”

दक्षिणांक दूत ने आगे कहा - “पोदनपुर के बाहर ही आपके बड़े भाई हैं। वहाँ तक पधार कर हम लोगों की आँखों को तृप्त करें।” इसप्रकार कहते हुए दक्षिणांक ने साष्टांग नमस्कार किया।

बाहुबली ने साष्टांग नमस्कार करते दक्षिणांक को उठाते हुए कहा - “दक्षिण! उठो! उठो! हम भाई भरत और तुम्हारी भावनाओं की कद्र करते हैं, आप लोग निश्चित होकर अपने नगर की ओर जावें। मैं कल ही अयोध्या आकर भाई भरतजी से मिलूँगा।”

दक्षिणांक ने कहा - “स्वामिन्! उससे तो मात्र आप दोनों को ही संतोष होगा, हम सब लोग आपके स्नेह मिलन के दर्शन लाभ से वंचित रह जायेंगे। अतः सबकी इच्छापूर्ति के लिए सम्राट ने सेना को यहाँ ठहराया है। इसलिए हम लोगों की प्रार्थना स्वीकार होनी चाहिए। इसी में हम सबका गौरव है। बहुत आशा

से सभी आप दोनों के एकसाथ दर्शन करने की भावना से खड़े हैं और आतुरता से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब उनको मालूम होगा कि आप नहीं आ रहे हैं तो वे खेद-खिन्न होंगे। इसलिए हे कामदेव! आप अवश्य पधारें।”

बाहुबली ने कहा - “अभी मुझे यहाँ पर कई आवश्यक कार्य हैं, इसलिए अभी आना नहीं हो सकेगा। तुम अयोध्या पहुँचो, मैं अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर वहीं आऊँगा।”

दक्षिणांक बोला - “नहीं! स्वामिन्! ऐसा नहीं कीजिये। आप दोनों को एकसाथ जिस सेना ने नहीं देखा है, उसके मन को संतुष्ट कीजिये। भरतेश्वर सदृश बड़े भाई से मिलने से बढ़कर और महत्त्वपूर्ण कार्य क्या हो सकता है ? इसलिए हाथ जोड़कर मेरी विनती है कि आप अभी मिलने से इन्कार न करें।”

बाहुबली ने कहा - “दक्षिण! तुम तो किसी न किसी उपाय से अपने कार्य को साधना चाहते हो, परन्तु मैं इसतरह चक्रवर्ती भरत से नहीं मिलूँगा। चक्रवर्ती भरत को मुझसे युद्ध में सामना करना होगा।”

दक्षिणांक बोला - “आप दोनों भगवान ऋषभदेव के पुत्र हैं। आप स्वयं कामदेव और आपके भाई चक्रवर्ती हैं। आप लोग जगत के मार्गदर्शक हैं। यदि आप लोग ही परस्पर में युद्ध करेंगे तो प्रजा में भी यही संदेश जायेगा। ‘यथा राजा तथा प्रजा’ की उक्ति के अनुसार भाई-भाई आपस में लड़ेंगे, झगड़ेंगे और आप लोगों का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। अतः आप दोनों भाई परस्पर में ही समझौते का मार्ग अपनायें। आप अपने बड़े भाई के पास न जाकर क्रोध करेंगे तो साधारण जन तो हाथापाई पर उतर आयेंगे। हथियार उठाकर हत्यायें करने लगेंगे। प्रभो! आप लोग तो प्रजा के पालक और मार्गदर्शक हैं।

स्वामिन्! विचार कीजिए! गुरु को शिष्य, पिता को पुत्र, पति को पत्नी, बड़े भाई को छोटे भाई यदि उचित आदर देते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं तो इसमें अनुचित क्या है ? फिर आपके अग्रज सामान्य राजाओं की भांति नहीं है। वे चक्रवर्ती राजा हैं। दिग्विजय करना उनकी बाध्यता है, उसके बिना चक्ररत्न शस्त्रालय में प्रवेश ही नहीं करेगा। आप स्वयं सब तरह से प्रबुद्ध हैं, आप स्वयं सोचिए - ‘ऐसी स्थिति में बड़े भाई

को नमन करने से इन्कार करना क्या उचित होगा ?' आप दोनों लोक में अग्रगण्य हैं। आपके प्रेमपूर्वक व्यवहार में ही जगत का सद्भाग्य है और हम लोगों को भी इसी में प्रसन्नता होगी।' - यह प्रार्थना करते हुए दक्षिणांक ने बाहुबली के चरणों में पुनः साष्टांग नमस्कार किया।

बाहुबली बोले - "मैं जानता हूँ कि तुम बोलने में चतुर हो, परन्तु मुझे बातों में मत बहलाओ।"

दक्षिण - "राजन्! क्या कोई बड़े भाई से मिलने के लिए इसप्रकार इन्कार कर सकता है?"

बाहुबली ने कहा - "वह अभी हमारे लिए बड़े भाई नहीं हैं। अभी वे दिग्विजय के लिए निकले हैं। वे मुझे आत्मसमर्पण करने के लिए बुलाना चाहते हैं, जो संभव नहीं है। सेना के साथ नगर के बाहर पड़ाव डालकर एक दूत के द्वारा बुलानेवाला भाई नहीं हो सकता है।"

दक्षिणांक ने कहा - "स्वामिन्! आप ऐसा क्यों बोल रहे हैं ? सभी राजाओं ने प्रार्थना कर सम्राट को यहाँ ठहराया है। चक्रवर्ती स्वयं ठहरने के लिए तैयार नहीं थे। सचमुच में हमने उन्हें ठहराया है। आप जैसे सर्वश्रेष्ठ कामदेव के दर्शन सभी परिवारजनों को कराने की भावना हमने प्रगट की है; परन्तु आपको हम पर दया नहीं आती। क्या करें?"

दक्षिणांक ने पूर्ण विनय एवं चतुराई से बाहुबली को भरत से मिलने के लिए भरसक प्रयत्न किए; किन्तु फिर भी जब वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ तो अन्त में दक्षिणांक दुःख के साथ वहाँ से वापस भरतेश के पास चला गया। वह मन में सोच रहा था। "कर्मगति विचित्र है, मोक्षगामी पुरुष भी स्वाभिमान के नाम पर मान कषाय के चक्र में पड़ गये हैं। वस्तुतः जो होना है, उसे कौन टाल सकता है। होनहार के अनुसार ही भाव होने लगते हैं। वैसा ही प्रयत्न और तदनुकूल निमित्त भी मिल ही जाते हैं।" अस्तु!

दक्षिणांक अपनी नौकरी की पराधीनता के बारे में सोचता है - "ऐसी परसेवा के लिए धिक्कार है, यदि किसी काम में सफलता मिली तो स्वामी के पुण्य से सफलता मिली है और यदि कोई काम न बन

सका तो उस काम को सफल करने में कोई कितना भी सक्रिय रहा हो, श्रम किया हो; फिर भी उसको दोष ही दिया जाता है।”

पुरजन परस्पर में बातें कर रहे थे “भरत बड़ा भाई है। पूरे भरत खंड का वह एकमात्र अधिपति राजा है। उनके साथ बाहुबली का यह व्यवहार क्या बाहुबली को शोभा देता है? अस्तु.....”

वापिस आये दूत से बाहुबली के द्वारा युद्ध में सामना करने के समाचार सुनकर भरतजी सोचते हैं – “वह अपने पुष्प बाणों से विषयाभिलाषी बहिरात्माओं को कष्ट पहुँचा सकता है, परन्तु मुझ सरीखे सहजात्म रसिक का वह कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। क्या वह यह भी नहीं समझता कि कामदेव और चक्रवर्ती की शारीरिक शक्ति में क्या अन्तर होता है? यदि मुझे क्रोध आ गया तो मैं उसे गेंद की भांति उसे उठाकर समुद्र में फैंक दूँगा; परन्तु मैं ऐसा करूँगा नहीं। हाँ, यदि नहीं माना तो पोटली बांधकर पालकी में रखवा कर छोटी माँ के पास भेज दूँगा।”

भरतेश ने आगे सोचा – “आने दो! उसे एक बार वस्तुस्थिति का ज्ञान करायेंगे।” सहानुभूति दिखाते हुए दूत का यथायोग्य सत्कार किया और कहा – “तुम्हें खिन्न नहीं होना चाहिए। तुमने तो चतुराई के साथ बहुत अच्छा काम किया। पर, होगा तो वही जो होना है, उसे तो इन्द्र और जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते। भाई का सम्मान रखते हुए तुमने अपना कर्तव्य पूरा किया। इसके लिए तुम्हें जितना भी धन्यवाद दें, कम ही हैं। अस्तु, वह मेरा भाई है, कोई शत्रु नहीं; बस, उसने स्वाभिमान के कारण अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है; परन्तु कोई चिन्ता नहीं, समय पर सब ठीक हो जायेगा। आप देखते जावें मैं किसी उपाय से उसके दिल को जीत ही लूँगा।”

आदिपुराण के कथानक के अनुसार दोनों ही सेनाओं में जो शूरवीर थे, वे परस्पर युद्ध करने की इच्छा से अपनी-अपनी सेना की व्यूह रचना करने लगे। इतने में ही दोनों ओर के मुख्य मंत्रियों ने परस्पर विचार किया कि – “यह दोनों ओर से होनेवाला युद्ध शान्ति का सूचक नहीं है; क्योंकि ये दोनों भाई तो चरम

शरीरी हैं, इसकारण इनकी तो कुछ शारीरिक क्षति होगी नहीं और इनकी कषायों के निमित्त से दोनों ओर की सेना व्यर्थ में मारी जायेगी। इसप्रकार निश्चय कर मंत्रियों ने भरत-बाहुबली दोनों राजाओं से निवेदन करते हुए विनम्रता से कहा - “बिना कारण मनुष्यों का संहार करनेवाले इस युद्ध से कोई लाभ नहीं है; बल्कि अपयश ही होगा; बल के उत्कर्ष की परीक्षा अन्यप्रकार से भी हो सकती है। इसलिए आप दोनों भाइयों के परस्पर तीन युद्ध हों। इन युद्धों में जिसकी पराजय हो उसे किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रगट किए बिना सहज ही अपनी पराजय स्वीकार कर लेना चाहिए। और जिसकी विजय हो वह भी अहंकार के बिना सहज रहकर पराजित भाई को ससम्मान हृदय से लगाये।”

इसप्रकार जब समस्त राजाओं ने और मंत्रियों ने बड़े आग्रह के साथ उक्त प्रस्ताव रखा तो बड़ी कठिनता से तैयार हुए उन दोनों भाइयों ने मंत्रियों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। जो इसप्रकार था -

“दोनों भाइयों के बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध अर्थात् मल्लयुद्ध - ये तीन युद्ध हों; इनमें जो विजय प्राप्त करेगा, वही विजयश्री का स्वामी होगा।” इसप्रकार सबको आनन्द देनेवाली घोषणा कर मंत्री लोगों ने सेना के प्रमुख पुरुषों को एक जगह एकत्रित किया।

जो महाराजा भरत के पक्षवाले राजा थे, उन्हें एक ओर बैठाया और जो बाहुबली के पक्ष के थे, उन्हें दूसरी ओर बैठाया। उन सब राजाओं के बीच में बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निषध और नीलपर्वत ही पास-पास आ गये हों। उन दोनों में बाहुबली नीलमणी के समान सुन्दर छवि के धारक थे और भरत तपाये स्वर्ण के समान कान्ति के धारक सुमेरु पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे।

अत्यन्त धीर तथा पलकों के संचार रहित शान्त दृष्टि को धारण करते हुए राजा बाहुबली ने दृष्टियुद्ध में बहुत शीघ्र भरतेश पर विजय प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् मदोन्मत्त दिग्गजों के समान स्वाभिमान से उद्धत हुए वे दोनों भाई जलयुद्ध करने के लिए सरोवर के जल में प्रविष्ट हुए और अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं से एक-दूसरे पर पानी उछालने लगे। चक्रवर्ती भरत के वक्षस्थल पर बाहुबल के द्वारा जल की उज्वल छटायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सुमेरु पर्वत के मध्य भाग में जल का प्रवाह पड़ रहा हो। परस्पर एक-दूसरे

पर पानी उछालते हुए जब भरतेश्वर जलयुद्ध में भी विजय प्राप्त नहीं कर पाये तो बाहुबली की सेना ने पुनः विजयश्री की घोषणा कर दी।

इसके बाद सिंह के समान पराक्रम को धारण करनेवाले धीर-वीर वे दोनों बाहुयुद्ध की प्रतिज्ञा कर रंगभूमि में उतरे। दोनों भाइयों ने ताल ठोककर, दाव-पेंच लगाकर, पैतरा बदलते हुए मल्लयुद्ध किया। इस युद्ध में भी भरतेश ही हारे।

उसीसमय बाहुबली की सेना ने विजय की हर्षध्वनि से आकाश को गुंजा दिया। इसके विपरीत भरत की सेना एवं पक्ष के लोगों ने लज्जा से सिर झुका लिया। दोनों पक्षों की जनता के समक्ष चक्रवर्ती भरत की पराजय ने सबको आश्चर्य चकित कर दिया; क्योंकि एक ओर चक्ररत्न के साथ चक्रवर्ती की शक्ति और सेना तथा दूसरी ओर सामान्य राजा बाहुबली। परन्तु यह कोई नई बात नहीं थी।” आचार्य जिनसेन का कहना है कि “कलिकाल के प्रभाव से ऐसा होना तो निश्चित ही था।”

आचार्य जिनसेन के कथन के अनुसार ही आदिपुराण में आगे लिखा है कि यद्यपि भरतजी यह सब जानते थे, तथापि क्षणिक क्रोधावेश में आकर क्रोध से जलने लगे, उनका मुख मण्डल लाल हो गया, आँठ थर-थर कांपने लगे। क्रोध से अंधे हुए भरत ने बाहुबली को पराजित करने के लिए समस्त शत्रुओं के समूह के उखाड़ फेंकने वाले चक्ररत्न का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरत के समीप आया, भरत ने बाहुबली पर चक्र चलाया, परन्तु उनके अवध्य होने से वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजहीन होकर भरत के पास जा ठहरा।

तात्पर्य यह है कि देवोपनीत शस्त्र कुटुम्ब के लोगों पर सफल नहीं होते, बाहुबली भरतेश के पैत्रिक भाई थे। दोनों की मातायें पृथक्-पृथक् होने पर भी पिता एक ऋषभदेव ही थे, इसकारण भरत का चक्ररत्न बाहुबली पर नहीं चला और बाहुबली की परिक्रमा देकर भरत के हाथ में आ गया।

उस समय बड़े-बड़े राजाओं ने भरत के क्रोधावेश और दुस्साहस को धिक्कारा। इससे भरतजी और अधिक संतापित हुए। अनेक राजाओं ने बाहुबली के समीप आकर उनकी विजय की प्रशंसा की। बाहुबली

ने भी उससमय तो अपने आपको गौरवान्वित अनुभव किया; परंतु जब उन्होंने गंभीरता से विचार किया तो वे सोचने लगे - “सचमुच भरत भैया क्रोध के पात्र नहीं हैं, वे तो दया के पात्र हैं, वस्तुतः वे जलयुद्ध, नेत्रयुद्ध और मल्लयुद्ध हारने से पहले मंत्रियों के प्रस्ताव को स्वीकार करके ही हार गये थे। उन्हें मंत्रियों की बातों में आना ही नहीं था, उनका प्रस्ताव स्वीकार करना ही नहीं था।”

इसप्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं, फिर भी चारित्र मोह के तीव्र उदय से एवं चक्रवर्तित्व के नियोग से भरतजी ने इन भोगों के लिए क्रोधावेश में बाहुबली पर चक्ररत्न चला दिया। यह एक दुःखद घटना है। बड़े भाई की मजबूरी पर खेद व्यक्त करते हुए आचार्यदेव उन भोगों का तिरस्कार करते हैं, जिसके कारण भरत ने भाई पर चक्र चला दिया।

क्रोधावेश में आकर भरतजी द्वारा चलाये गये चक्र की बाहुबली पर भी क्षणिक प्रतिक्रिया हुई। यद्यपि वे भी तद्भव मोक्षगामी समकिती थे, परन्तु उन्हें भी भरतजी के चक्र चलाने जैसे क्रोधावेश पर क्रोध आ गया। परन्तु तत्त्वज्ञान के बल ने उन्हें तत्काल शांत कर दिया। अतः वे संसार से विरक्त होते हुए एवं उन्होंने अपने अग्रज के सम्मान को ध्यान में रखते हुए क्षमायाचना की।

बाहुबली ने कहा - “भाई! आपने यह जानते हुए भी कि ‘मेरा शरीर वज्रवत है, अकाल मरण से मुक्त है और परिवार पर इस चक्र का कोई अन्यथा प्रभाव नहीं हो सकता। फिर भी यह निष्फल दुस्साहस कैसे किया? क्या आप क्रोध के आवेश में अपनी और मेरी हैसियत ही भूल गये। अस्तु आपको राज्यसत्ता बहुत प्रिय है, सम्भालो अपना सम्पूर्ण राज्य! जिस राज्यसत्ता के पीछे भाई-भाई का रिश्ता भूल जाये, धिक्कार है उस राज्यसत्ता को।”

बाहुबली मन ही मन पश्चाताप के स्वर में सोचते हैं कि “सचमुच यह अच्छा नहीं हुआ। मैं भी तो इसी राज्यसत्ता के लोभ में आ गया, मिथ्या अभिमान में आ गया; जो भाई की मुँहजोरी की। मैंने भी तो सामना करने का दुस्साहस किया, जो मुझे नहीं करना चाहिए था। चक्रवर्ती के नाते भरत की तो छहखण्ड



पर विजय पाने की बाध्यता थी; पर मैंने यह भूल क्यों की? मैंने उनकी मजबूरी को क्यों नहीं समझा? मैंने उन्हें यह मौका ही क्यों दिया ? सबसे पहले तो मैंने यही भूल की, जो मंत्रियों के कहने से तीन युद्ध किये और उन्हें तीनों बार नीचा दिखाया, उन्हें अपमानित कर उत्तेजित किया; जिससे वे क्षणभर के लिए उत्तेजित हो गये और चक्र चला दिया। ऐसी स्थिति में यदि उनके स्थान पर मैं होता तो मैं भी तो यही करता। समय पर मुझे सदबुद्धि आ गई और मैंने उनका सम्मान रखते हुए उन्हें नीचे नहीं गिराया, अन्यथा और भी अधिक दुःखद बात होती।

मुझे अपने इस अपराध का प्रायश्चित्त लेना होगा और पोदनपुर का राज्य भी चक्रवर्ती होने के नाते उन्हीं का है, अतः उन्हें सौंपकर अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगा। भाई भरत भी साधारण पुरुष नहीं हैं। वे भी चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सत्ता का लोभ त्याग कर आत्मसाधना कर इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।”

कवि रत्नाकर के भरतेश वैभव के अनुसार भरतजी अपने लघुभ्राता बाहुबली से भ्रातृ स्नेहवश जान-बूझकर स्वयं हारे थे। वे बाहुबली द्वारा हराये नहीं गये थे। वे जानते थे कि बाहुबली स्वाभिमानी हैं, वह सहजभाव से आधीनता स्वीकार नहीं करेगा और उसका अन्य भाइयों की भाँति दीक्षित हो जाना भी अभी ठीक नहीं है। अतः उसे जिता देने में ही मेरी जीत है। आखिर छोटा भाई ही तो है। उसका स्वाभिमान तो सुरक्षित रहना ही चाहिए।

यद्यपि कवि रत्नाकर का यह मौलिक चिन्तन परम्परा से कुछ हटकर है; आचार्य जिनसेन ने ऐसा नहीं लिखा, उनके अनुसार तो भरतजी ने बाहुबली को प्रतिद्वन्दी ही माना, जिसका उल्लेख आगे है; परन्तु आगम भी कवि रत्नाकर का समर्थन करता है। आगम में स्पष्ट लिखा है कि चक्रवर्ती का शारीरिक बल कामदेव से बहुत अधिक होता है। इसकारण चक्रवर्ती कामदेव से हार भी नहीं सकते।

भरतजी ने छोटे भाई के स्वाभिमान की सुरक्षा एवं मनोबल बनाये रखने के लिए जान-बूझकर स्वयं को हारा हुआ प्रदर्शित किया। उन्होंने सोचा “यदि वह हार गया तो यह भी अन्य भाइयों की तरह दीक्षित



हो जायेगा।” यह बात भरतजी को पसंद नहीं थी; इसकारण वे नहीं चाहते थे कि बाहुबली भी दीक्षित हो। अतः उन्होंने तीनों शारीरिक युद्धों में स्वयं की पराजय स्वीकार कर ली, फिर भी होनहार के अनुसार बाहुबली तो वैरागी हो ही गये।

भरत-बाहुबली के तीनों शारीरिक युद्धों के संदर्भ में कवि रत्नाकर ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किया है। उनका प्रश्न यह है कि भरतजी बाहुबली से पराजित कैसे हो सकते हैं? आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि ‘एक चक्रवर्ती में इतना शारीरिक बल होता है कि छह खण्ड के सम्पूर्ण राजाओं का शारीरिक बल मिल कर भी चक्रवर्ती के बल की बराबरी नहीं कर सकता। बाहुबली भी उन्हीं छहखण्ड के राजाओं में एक थे, फिर भला वे चक्रवर्ती भरत को पराजित कैसे कर सकते थे? फिर भी उन्हें आगम में पराजित क्यों दिखाया गया है? इसका कारण क्या?

यह एक ज्वलन्त प्रश्न है, जटिल समस्या है? इसके समाधान में कवि रत्नाकर स्वयं लिखते हैं कि – “यद्यपि भरतजी की पराजय जग जाहिर है; परन्तु उसके पीछे रहस्य क्या है? यह एक विचारणीय विषय है।

कवि रत्नाकर के मतानुसार यथार्थ बात यह थी कि – “भरतजी की पराजय का कारण उनके शारीरिक बल की कमी नहीं; बल्कि बाहुबली के प्रति अनन्य स्नेह था। भरतजी के हृदय में अग्रज होने के नाते बाहुबली के प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। अतः भरतजी ने पहले तो दक्षिणांक जैसे चतुर दूत को भेजकर अपने पास बुलाना चाहा। दक्षिणांक ने भी उन्हें भरतजी से मिलाने हेतु अथक् प्रयास किए; किन्तु कविरत्नाकर के अनुसार बाहुबली ने पहले तो कार्य की व्यस्तता बताकर भरतजी से मिलने की असमर्थता प्रगट की। दक्षिणांक के बहुत आग्रह करने पर अपने स्वाभिमान का भाव व्यक्त करते हुए यह भी कहा तुम जाओ और स्वामी से कहो कि वे अयोध्या पहुँचें, मैं वहीं आकर मिल लूँगा; जबकि आदिपुराण के मतानुसार उन्होंने भरतजी के साथ संघर्ष हेतु युद्ध की तैयारी करली। बात जो भी हो; परन्तु जब दक्षिणांक दूत निराश होकर लौट आया तो भरतजी समझ गये कि बाहुबली ने इस भ्रातृ स्नेह मिलन को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है। स्वाभिमानी है न! अस्तु: अब देखते हैं आगे-आगे होता है क्या?”

भरतजी नहीं चाहते थे कि बाहुबली युद्ध में पराजित हो; क्योंकि इसी युद्ध के निमित्त से विरक्त होकर ९७ भाई दीक्षित हो वनवासी बन गये थे। अतः उन्होंने सोचा - “सैनिक युद्ध के बजाय शारीरिक युद्धों में मैं बुद्धिपूर्वक स्वयं को पराजित दिखाकर ही उसके स्वाभिमान की रक्षा कर सकता हूँ। इससे उसका स्वाभिमान भी सुरक्षित बना रहेगा और मनोबल भी बढ़ा रहेगा। यदि उसने किसी भी तरह स्वयं को पराजित अनुभव किया तो अन्य भाइयों की भाँति ही वह भी दीक्षित हो जायेगा। बाहुबली का दीक्षित हो जाना भरतजी को अभीष्ट नहीं था। इसकारण उन्होंने तीनों शारीरिक युद्धों में स्वयं को जानबूझकर पराजित घोषित किया था। अन्यथा भरत को पराजित करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं थी।

प्रश्न - यदि भरतजी ने स्नेहवश ही बाहुबली को जिताया तो फिर उन पर चक्र क्यों चलाया ?

उत्तर - भरतजी के पराजित घोषित होने पर भी, जब चक्ररत्न उन्हीं के पास खड़ा रहा तो भरतजी ने आदेश देते हुए कहा - जा ! जा !! अब तेरा स्वामी बाहुबली है, फिर भी चक्र नहीं चला तो उन्होंने धकेलते हुए कहा - चला क्यों नहीं जाता। आदेश पाकर चक्र चला तो गया; किन्तु फिर प्रदक्षिणा देकर वापस आ गया; क्योंकि चक्री भरत थे बाहुबली नहीं।

तात्पर्य यह है कि भरतजी ने चक्र क्रोधावेश में नहीं चलाया था; क्योंकि उन्हें यह ज्ञात था कि चक्र परिवार का घात नहीं करता।

ज्ञातव्य है कि भरत ने यह रहस्य स्वयं तक सीमित रखा, इसी कारण जगत ने तो यही जाना कि - भरत ही पराजित हुए हैं और बाहुबली जीते हैं। इस कारण लोक में तो भरतजी का अपमान होना स्वाभाविक ही था सो हो गया। हुंदावसर्पणीकाल का दोष भरत की हार नहीं; बल्कि हार होने की अफवाहमात्र थी।

यद्यपि इस सम्बन्ध में मेरा विचार भी कवि रत्नाकर से मिलता-जुलता है, फिर भी मैंने दोनों पक्ष प्रस्तुत कर पाठकों को अपना मत बनाने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया है।

अन्त में भरतजी का बाहुबली के प्रति किया गया यह त्याग जगत भले न जाने, पर बाहुबली की सूक्ष्म दृष्टि से और पैनी पकड़ से यह बात छिपी नहीं रही। इसकारण से उन्हें बहुत पश्चाताप हुआ। वस्तुतः बाहुबली जीतकर भी हार गये; क्योंकि वे जानते थे कि भरत चक्रवर्ती हैं और पोदनपुर के आधीन किए बिना उनका चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश कर ही नहीं सकता। अतः भरतजी को तो युद्ध करना अनिवार्य था; पर मैंने दुराग्रह क्यों किया ?

बाहुबली की विचारधारा चल रही थी कि “भैया भी कैसे राजनीतिज्ञ हैं ? राजनीति तो यह कहती है कि उन्हें अपना चक्ररत्न जैसा प्रबल अजेय हथियार का आलम्बन छोड़ना ही नहीं चाहिए था। उन्होंने निहत्थे होकर युद्ध लड़ा ही क्यों ? पुण्योदय से प्राप्त चक्ररत्न ने ही जब उन्हें छहखण्ड की विजय दिलाई थी तो मुझको जीतने के लिए शारीरिक बलप्रयोग को क्यों स्वीकार किया ? बस, नरसंहार से डर कर ही तो उन्होंने ऐसा किया। दयालु हैं न ! अस्तु जो कुछ होना था सो हुआ। अब उनका साम्राज्य उन्हें लौटाकर मैं जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगा। वे सुख-शान्ति से रहें और अपने पुण्योदय से प्राप्त चक्रवर्तित्व का आनन्द निराबाध और निःशल्य होकर भोगे।”

यहाँ ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त तीनों युद्ध और उनमें बाहुबली की विजय की चर्चा आचार्य जिनसेन के आदिपुराण के आधार पर लिखी गई है। भरतेश वैभव के कर्ता कवि रत्नाकर का कथन है कि एक साधारण बाहुबली से चक्रवर्ती हार ही नहीं सकते, क्योंकि उनके बाहुबली से गई गुना अधिक बल था, जिसकी चर्चा पीछे कर आये हैं।

*बाहुबली का वैराग्य* - ऐसा विचार कर बाहुबली ने भाई भरत से कहा - “हे आयुष्मान ! यह राज्य लक्ष्मी वस्तुतः आपकी ही है; क्योंकि आप चक्रवर्ती राजा हैं। मुझे सचमुच युद्ध कर आपका अपमान करने का कोई हक नहीं था। मुझसे मिथ्या अहंकार के वशीभूत हो जो भी हुआ, अच्छा नहीं हुआ। इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। अब यह राजसत्ता का सुख मेरे योग्य नहीं है। मैं इसकी असारता को भलीभांति समझ चुका हूँ। मेरा मन अब इससे विरक्त हो गया है। अतः अब मैं भगवान ऋषभदेव के चरणों में जिनदीक्षा लूँगा।”

युद्ध आदि में हारकर तो सभी राजाओं को बाध्य होकर राज्यसत्ता छोड़नी पड़ती है, परन्तु निर्मोही बाहुबली तीनों प्रकार के युद्धों में विजय प्राप्त करने के बावजूद भी राज्यसत्ता को तिलांजलि दे दी। जब भरतेश्वर ने क्रोध के वशीभूत होकर बाहुबली पर चक्ररत्न चलाया और वह चक्ररत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर वापिस लौट गया तो बाहुबली को संसार की असारता का बोध हो गया और उन्होंने भोगों को भुजंग समान जहरीला जानकर राज्यसत्ता से ही मुँह मोड़ लिया।

जीतकर भी राज्यसत्ता से मुँह मोड़ने में जैसी निस्पृहता की भावाभिव्यक्ति होती है, वैसी विजित होने पर नहीं होती। उस स्थिति में तो मजबूरी प्रतीत होती है बाहुबली का त्याग मजबूरी का नहीं, अपितु वैराग्य का प्रतीक था। उनका त्याग असीम आत्मबल का प्रतीक था, स्वाभिमान और धीरोदात्तता का प्रतिफल था।

ऐसा त्यागी, तपस्वी, निस्पृही और दृढ़संकल्पी व्यक्तित्व तो श्रेयस्कर है ही, हमारे लिए उनका अनुकरणीय आदर्श यह है कि इस लौकिक जीत-हार में हर्ष-विषाद करना सर्वथा निरर्थक है।

इसप्रकार बाहुबली ने अपनी भूल का अहसास कर अपने मन में भरत के प्रति सहानुभूति अनुभव की।

बाहुबली संसार से उदास होकर सोचते हैं - “यह लक्ष्मी स्वयं एकप्रकार का बन्धन है और कर्मबन्ध का कारण है। अतः आत्मार्थी पुरुषों के लिए यह उपादेय नहीं है। यद्यपि मेरे पुण्योदय से यह फलवती है, परन्तु पुण्य क्षीण होते ही कहाँ विलीन हो जाती है, पता ही नहीं चलता। इसीकारण इसका एक नाम चंचला भी है - कहा भी है किसी कवि ने -

*राज समाज महा अघ कारण, बैर बढ़ावन हारा।*

*वैश्या सम लक्ष्मी अति चंचल, याको कौन पत्यारा ॥*

अतः यह कंटकाकीर्ण राज्यलक्ष्मी हमारे लिए विष के कांटों के समान सर्वथा त्याज्य है।” भरतजी को लक्ष्य कर कहते हैं - “मैं क्रोधावेश में आकर विनय से च्युत हो गया था, मैंने आपकी विनय नहीं करके सामना किया, अतः मैं अपराधी हूँ और इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।”

जिसप्रकार मेघ से निकलती हुई गर्जना संतप्त मनुष्यों को आनंदित कर देती है, उसीप्रकार बाहुबली के मुख से निकलते हुए वचनों ने चक्रवर्ती भरत के संतप्त मन के आनन्दित तो कर दिया, परन्तु भरत को बाहुबली का राजपाट छोड़कर वनवासी होना प्रिय नहीं लगा। अतः उन्होंने खेद प्रगट करते हुए कहा - “मैंने तुमसे संघर्ष करके अच्छा नहीं किया। तुम सुख से राज्य करो, पिताश्री द्वारा दिए राज्य में मैंने हस्तक्षेप किया, इसका मुझे दुःख है; पर मैं भी क्या करूँ ? मैं भी कर्माधीन होकर क्रोधावेश में आ गया था। जबतक मैं तुमको अपने अधीन नहीं करता, तबतक चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता। चक्रवर्ती के नाते छहखण्ड जीतना मेरी मजबूरी थी; अन्यथा मैं तुम जैसे महान व्यक्तित्व के धनी भाई से विद्रोह की भाषा में बात ही क्यों करता ? क्या मैं तुम्हारे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से परिचित नहीं हूँ ? यदि मेरी जगह पर तुम होते तो संभवतः तुम्हें भी यही करना पड़ता। अब तुम सब विकल्प छोड़कर पोदनपुर का राज्य संभालो और गृहस्थावस्था में ही रहकर गौरव से धर्म की साधना और अपने आत्मा की आराधना करो।”

बाहुबली ने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि अब वे राज्यसत्ता से ममत्व तोड़कर एवं जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आत्मसाधना द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने का अर्न्तमुखी पुरुषार्थ करेंगे।

बस, उनका यही सोच वैराग्य में बदल गया और वे अपने पुत्र महाबली को राज्यसत्ता सौंप कर स्वयं दीक्षित होकर वनवासी बन गये। पोदनपुर भरत के अधीन हो गया और चक्ररत्न ने छहखण्ड पर अखण्डरूप से विजय प्राप्त कर दिग्विजय का मंगल महोत्सव मनाया।



### चक्रवर्ती भरत का राज्याभिषेक एवं वैभव

जब भरतजी दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगर में प्रवेश करने लगते हैं, तब उनके चक्राभिषेक होता है। चक्रवर्ती चक्ररत्न को आगे करके राजभवन में वैभव सहित प्रवेश करते हैं, उन पर चमर दुलाये जाते हैं। उस समय वे निधियों और रत्नों की यथायोग्य पूजा कर चक्ररत्न प्राप्त होने का महामहोत्सव करते हैं। मनचाहा दान देते हैं और आगंतुक राजा-महाराजाओं का उचित सम्मान करते हैं। तत्पश्चात् उन आगन्तुक मेहमानों द्वारा चक्रवर्ती का औपचारिक राज्याभिषेक होता है।

राज्याभिषेक महामहोत्सव के बाद चक्रवर्ती भरत उपस्थित समस्त राजा और प्रजा को सन्देश देते हैं, राजनीति की शिक्षा देते हैं, कहते हैं कि - “तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करो। यदि अन्याय में प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी राजवृत्ति का लोप हो जायेगा। देखो, न्याय दो प्रकार का है - पहला - दुष्टों का निग्रह करना और दूसरा - शिष्ट पुरुषों का संरक्षण करना, उनके भरण-पोषण की उचित व्यवस्था करना। यह क्षत्रियों का सनातन धर्म है। राजाओं को इन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

ये दिव्य अस्त्रों के अधिष्ठाता देवगण भी यथायोग्य आदरणीय हैं; क्योंकि ये भी विजयश्री में सहायक होते हैं। इस राजवृत्ति का अच्छीतरह से पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोड़कर प्रजा के साथ न्यायमार्ग से कोमल बर्ताव करो। जो राजा इस धर्म का पालन करता है, वह धर्म विजयी होता है; क्योंकि जिसने अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है - ऐसा क्षत्रिय ही पृथ्वी को जीत सकता है। इसप्रकार के बर्ताव से लोक में यश की प्राप्ति होती है और वह अनुक्रम से तीनों लोकों का स्वामी हो जाता है।”

इसप्रकार प्रजा का पालन और अधीनस्थ राजाओं का मार्गदर्शन करते हुए भेदविज्ञान के बल से चक्रवर्ती भरतजी राज्यसत्ता के बीच परघर में रहकर भी परघर में कम और निजघर में-आत्मा में अधिक रहते थे।

वे अपने अधीनस्थ राजाओं को और पुत्रों का सन्मार्ग दर्शन करते हुए वे आगे कहते हैं कि - “हे पुत्र! प्रजा का पालन न्याय से करना। न्याय नीति के व्यवहार से प्रजा प्रसन्न रहकर कामधेनु के समान मनोवांछित फल प्रदान करती है। प्रजा से न्यायपूर्वक उचित ‘कर’ (टैक्स) द्वारा धनार्जन करना, ताकि किसी का शोषण न हो। राजा प्रजा का शोषक नहीं पोषक होता है। राजा को अपने कुल की मर्यादा पालन करने के लिए बहुत प्रयास करना चाहिए, जिसे अपनी कुल की मर्यादा का ध्यान नहीं है वह अपने दुराचारों से कुल को कलंकित कर सकता है। इसके सिवाय राजा को अपनी रक्षा करने में भी सदा सावधान रहना चाहिए; क्योंकि अपने सुरक्षित रहने पर ही अन्य सबकुछ सुरक्षित रह सकता है। जिसने अपने आपकी रक्षा नहीं की, वह अपने ही क्रोधी, लोभी और अपमानित सेवकों से विनष्ट किया जा सकता है। अतः राजा को पक्षपात रहित होकर अजातशत्रु बनने का भी प्रयास करना चाहिए। जो पक्षपाती होता है, वह निश्चित ही अपने अन्दर ही चारों ओर शत्रु पैदा कर लेता है और अपनों से ही अपमानित होने लगता है।

जो राजा काम, क्रोध, मोह, मद और मात्सर्य - इन छह अन्तरंग शत्रुओं को जीत लेता है, वह इस लोक तथा परलोक - दोनों ही लोकों में समृद्ध होता है; इसलिए हे पुत्र! तुम अपने उपर्युक्त क्षात्र धर्म का पालन करते हुए राज्य में स्थिर रहकर अपना यश, धर्म और विजय प्राप्त करो।”

भरतजी १२ चक्रवर्तियों में प्रथम चक्री और सोलहवें मनु भी थे। भरतजी की माँ से प्रसूत ९९ सहोदर और थे। चक्रवर्ती के वैभव की तो बात ही क्या करें? उनके ऐरावत हाथी के समान एक दो नहीं चौरासी लाख हाथी थे, इतने ही रत्नजड़ित रथ थे, अठारह कोटि घोड़े थे, चौरासी कोटि पैदल सेना थी। भरतजी का शरीर वज्र के समान सुदृढ़ वज्रवृषभनाराच संहनन संयुक्त था। छह खण्ड के सभी राजाओं का बल मिला कर जितना बल होता है, उससे भी अधिक बल अकेले भरतजी के था। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके अधीन थे। इतने ही देश थे। बत्तीस हजार देवियों तुल्य नारियाँ, इतनी ही म्लेच्छ स्त्रियाँ राजाओं द्वारा प्रदान की गई थीं। इनके अतिरिक्त एक से बड़कर एक ३२ हजार रानियाँ और थीं। इसतरह कुल ९६ हजार रानियाँ थीं। बहत्तर हजार नगर थे। ९९ हजार बन्दरगाह ४८ हजार पत्तन (ग्राम), सोलह हजार खेत (कस्बे) १४ हजार



पहाड़ी नगर (संवाह) थे। एक लाख कोटि हल, तीन कोटि गौ शालायें, २८ हजार सघन वन थे। १८ हजार म्लेच्छ राजा थे, ९ निधियाँ थीं - ये निधियाँ चक्रवर्ती को सभी प्रकार की पंचेन्द्रिय भोगोपभोग संबंधी सामग्री उपलब्ध कराती थीं। चेतन एवं अचेतन १४ रत्न थे।

महाराज भरत के सुभद्रा नाम की स्त्री रत्न पट्टरानी थी, जो रति के समान सर्वांग सुन्दर थी और चक्रवर्ती को निर्बाध भोग के लिए सदैव उपलब्ध रहती थी। यहाँ ज्ञातव्य है कि चक्रवर्ती के इस जाति का विशेष पुण्योदय होता है कि उनके भोग में कभी बाधा नहीं पड़ती। भले वे उसका उपभोग करें या न करें। १. स्त्री रत्न सहित नौ निधियाँ, २. रानियाँ, ३. नगर, ४. शय्या, ५. आसन, ६. सेना, ७. नाट्यशाला, ८. भोजन, ९. सवारी आदि उनकी क्रीड़ा के साधन थे। उक्त भोगों का उपभोग करते हुए भरत ने चिरकाल तक एकछत्र राज्य किया।

चक्रवर्ती भरत के १६ हजार गणवद्ध देव थे, जो तलवार धारण कर नव निधियों की, चक्ररत्न की और भरत की सुरक्षा करने में सदा तत्पर रहते थे। सब ऋतुओं के अनुकूल सुखद वैजयन्त नामक महल का, बहुमूल्य मणियों जड़ित सभास्थल था, सब दिशाओं का सौन्दर्य देखने हेतु गिरिकूट महल था। कुबेर का भाण्डार गृह था। एक-एक का वर्णन कहाँ तक करें, उन्हें सभी प्रकार की सुख-सामग्री सदैव उपलब्ध थी।

भरतजी की रसोईशाला में प्रतिदिन नये-नये नाना षट्स व्यंजन बनानेवाले ३६५ दिन के लिए रसोइयों के ३६५ समूह थे। प्रत्येक समूह एक दिन के भोजन बनाने की तैयारी पूरे वर्ष (३६५ दिन) तक करता था। भोजन नित्य नये स्वादों में इतना गरिष्ठ बनता था कि साधारण व्यक्ति एक ग्रास भी नहीं पचा सकता था। इसप्रकार चक्रवर्ती भरत का समय पूर्व पुण्यकर्म के उदय से सब तरह के आनन्द देनेवाले भोगों में लाखों-पूर्वों की आयु क्षणभर के समान व्यतीत हो रही थी।

भरतजी ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए अपने लघु भ्राता वैरागी बाहुबली के पुत्र राजा महाबली और रत्नबल राजकुमार का योग्य वय में बहुत वैभव और उत्साह के साथ विवाह करके उनके पितृ वियोग के दुःख को भुला दिया था। भरतजी अपने गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए अपने जमाई राजकुमारों



को एवं अपनी पुत्रियों को भी कभी-कभी बुलाकर उन्हें विपुल सम्पत्ति प्रदान कर उनकी सम्मान पूर्वक विदाई करते थे। इसप्रकार उनका समय बहुत संतोष के साथ सुखद वातावरण में बीत रहा था।

कैलाश पर्वत पर जिनमन्दिरों का निर्माण, उत्साहपूर्वक उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करने के बाद सम्राट भरत अपने हजारों पुत्रों एवं रानियों के साथ सानन्द समय व्यतीत किया था। प्रजा जनों का पालन भी पुत्रवत् किया था। भरतजी के हजारों पुत्रों में सौ पुत्र अनेक शास्त्रों में प्रवीण थे। कई तो संगीत शास्त्र में इतने निपुण थे कि वे जो विभिन्न स्वर गाते थे, उसका प्रभाव, उस कला के प्रेमी पशु-पक्षियों तक भी बहुत गहरा पड़ता था, उसकी ध्वनि से हलचल मच जाती थी। तोता, कोयल, मोर, सर्प तो प्रभावित होते ही, पत्थर के समान कठोर हृदय भी पिघलते थे। जनसाधारण के हृदय प्रभावित होना तो साधारण-सी बात थी।

एक दिन की बात है, भरतजी आनंद से महल में विराजे थे। एक दूत ने आकर समाचार दिया कि मुनि कच्छ और महाकच्छ को केवलज्ञान हुआ है। कच्छ और महाकच्छ भरतजी के मामा थे, इसलिए उनको यह समाचार सुनते ही बड़ा हर्ष हुआ। पट्टरानी सुभद्रादेवी हर्ष के मारे नाचने लगी, माता यशस्वी के आनंद की सीमा ही नहीं थी, महल में आनंद ही आनंद छा रहा था।

इतने में ही अनंतवीर्य मुनिराज को भी केवलज्ञान होने का समाचार मिला। अनंतवीर्य भरत के छोटे भाई थे। इसकारण भरतजी का हर्ष द्विगुणित हो गया था। समाचार जो लाया था उसे रत्न-वस्त्रादिक खूब इनाम में दिए गए। इसी का नाम तो है धर्मानुराग। भरतजी के हृदय में वह धर्मानुराग कूट-कूट कर भरा हुआ था।

बाहुबली का तप - पोदनपुर से आये हुए सज्जनों से भरतजी ने यह पूछा कि “हमारे बाहुबली योगीन्द्र कैसे हैं ?” तब वे कहने लगे कि “स्वामिन्! वे कैलाश पर्वत को छोड़कर गजविपिन नामक घोर अरण्य में तपश्चर्या कर रहे हैं। जब से उन्होंने दीक्षा ली है तब से वे आहार के लिए नहीं निकले हैं, वृक्ष सूख जायें - ऐसी ज्वाला उगलती धूप में खड़े होकर आत्मनिरीक्षण कर रहे हैं। एक बार मिची हुई आंखें पुनः खुली

नहीं हैं, एकबार बंद हुए ओंठ पुनः खुले नहीं हैं, दीर्घकाय कायोत्सर्ग से दृढ़ होकर खड़े हैं, सब लोक उनकी कठिन तपस्या को आश्चर्य के साथ देख रहा है। उनके चारों ओर सांपों ने बांबी बना ली हैं; लतायें सारे शरीर से लिपट गई हैं, अनेक सर्प-बिच्छू जैसे जहरीले जीव-जन्तु उनके शरीर के आस-पास इधर-उधर घूमते हैं, परंतु वे चित्त को स्थिर नहीं कर पा रहे हैं। वे अकंप पत्थर की मूर्ति के समान खड़े हैं।”

यह सुनकर भरतजी को भी आश्चर्य हुआ। दीक्षा लेकर एक वर्ष होने पर भी मेरु के समान खड़े हैं। भगवान ही जाने उनके तपोबल को। इतनी उग्रता क्यों? इन सब बातों को भगवान ऋषभदेव से ही पूछेंगे, इस विचार से भरतजी एकदम उठे व विमानारूढ़ होकर आकाशमार्ग से कैलाश पर्वत पर पहुँचे। समवसरण में पहुँचकर परम पिता परमात्मा के चरणों में भक्ति से नमस्कार किया। तदनन्तर कच्छ केवली, महाकच्छ केवली व अनंतवीर्य केवली की वंदना की। बाद में भगवान ऋषभदेव की भक्ति से पूजाकर उन तीनों केवलियों की भी भक्तिपूर्वक पूजा की, स्तुति की और अपने योग्य स्थान में बैठकर भगवान ऋषभदेव से जिज्ञासा प्रगट की कि “बाहुबली योगी को अत्यंत घोर तपश्चर्या करने पर भी केवलज्ञान की प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है?”

तीर्थकर ऋषभदेव की दिव्यध्वनि में समाधान हुआ - “हे भव्य! घोर तपश्चर्या करने मात्र से कुछ नहीं होता? अंतरंग में एक अन्तर्मुहूर्त तक परिणाम स्थिर होना चाहिए। इस चंचल चित्त को आत्मा में स्थिर करने की आवश्यकता है। संज्वलन संबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ की तीव्रता उपयोग के स्थिर होने में बाधक है, अतः उनको कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो रही है? बाहर के सर्व पदार्थों को छोड़ना सरल है, परंतु अंतरंग में स्थिरता लाना कठिन होता है।

आत्मा में मन की स्थिरता होने पर ही आत्मसुख का लाभ होता है, आत्मसुख की प्राप्ति मुनियों को भी कठिनता से होती है। हे भरत! प्रसन्नता यह है कि इतने बड़े राज्य का सत्ता भार होते हुए भी तुम्हारे लिए आत्मसुख का सौभाग्य सहज मिला है। भरत! सुनो, धान के छिलके निकालकर जिसप्रकार चावल पकाया जाता है, उसीप्रकार अन्य मुनिजन पंचेन्द्रियसंबंधी विषयों को त्यागकर जो आत्मनिरीक्षण करते हैं, तुम उन

पंचेन्द्रिय विषय के बीच में रहते हुए भी आत्मा को निर्मल बना रहे हो, इसलिए तुम उन ऋषियों से भी श्रेष्ठ हो। चावल के भूसे को अलग करके सफेद चावल को जिसप्रकार पकाया जाता है, उसीप्रकार शरीर के वस्त्र को छोड़कर आत्मध्यान अन्यजन करते हैं; परंतु तुम तो शरीर का वस्त्रादि से शृंगार करके भी आत्मा का ध्यान कर लेते हो।

दूसरों ने बाह्य पदार्थों को छोड़कर आत्मध्यान करके आत्मसुख को प्राप्त किया और एक तुम हो कि बाह्य पदार्थों के बीच में रहते हुए भी आत्मसुख का अनुभव कर रहे हो, इसलिए तुम धन्य हो।”

तब भरतजी ने विनयपूर्वक कहा कि “हे स्वामिन्! यदि आपके प्रसाद से मेरे लिए कैवल्य की सिद्धि हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। यह सब तो आपकी ही महिमा है। हे कृपानिधान! आप तो कृपया यह बतलावें कि बाहुबली योगी के अंतरंग में क्या कमी है, जिससे केवलज्ञान नहीं हो पा रहा है?”

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में भरतेशवैभव के लेखक कविरत्नाकर ने तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से यह कहलवाया कि “बाहुबली के हृदय में यह शल्य है कि ‘मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ।’ जब बाहुबली तुमसे अलग होकर इधर आया तब उसने तुम्हारे दो मित्रों को यह कहते सुना कि – ‘बाहुबली तुम भरत से नाराज होकर कहीं भी चले जाओ, पर महाराजा भरत के राज्य के अन्न-पान को छोड़कर और कहाँ तपश्चर्या करोगे?’ इस कारण से उसके मन में क्षोभ भी उत्पन्न हुआ है। यहाँ आकर उसने दीक्षा तो ले ली, परन्तु वह तप के भार को ढो रहा है। आत्मनिरीक्षण के लिए जंगल में चला गया; परन्तु वहाँ उसके मन में यह शल्य बैठी है कि यह क्षेत्र भी भरत चक्रवर्ती का ही है। इसलिए उसने निश्चय किया कि वह अन्न-पान भी यहाँ का ग्रहण नहीं करेगा। समस्त कर्मों को जलाकर सीधा मोक्ष को जायेगा।”

इतना ही नहीं, कवि रत्नाकर ने भगवान ऋषभदेव के द्वारा बाहुबली की आलोचना में यह भी कहलवाया कि – “भूखा रहकर शरीर सुखाने और पर्वत के समान खड़ा होने से क्या होता है? उसके मन में शल्य होने से आत्मनिरीक्षण नहीं हो रहा है। हे भरत! उसे व्यवहार धर्म तो सिद्ध है, व्यवहारधर्म का तो वह निर्दोष

पालन कर रहा है, पर निश्चय धर्म का आलम्बन उसे नहीं हो पा रहा है। इसकारण एक वर्ष से कषायाग्नि में जल रहा है। आज तुम जाकर जब वंदना करोगे तब उसके अन्दर का शल्य दूर होते ही उसको ध्यान की सिद्धि होगी और आज ही उसके घातियाकर्म नष्ट होकर कैवल्य की प्राप्ति हो जायेगी। इसलिए अब तुम जाओ।”

यह जानकर भरतजी उस गजविपिन तपोवन की ओर रवाना हो गये।

वह जंगल भारी भयंकर है, आग के समान संतप्त धूप है, वहाँ बाहुबली आँखें बन्द कर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। चारों ओर सांपों ने बांबियाँ बना ली हैं। शरीर पर बेलें चढ़ गई हैं। आसपास सांप-बिच्छू चल फिर रहे हैं। यह देख भरतजी को आश्चर्य हुआ। सज्जनोत्तम भरतजी ने उन्हें दूर से ही नमोस्तु...नमोस्तु.....कहते हुए निकट जाकर उनके चरणों में मस्तक रख दिया और कहा - “हे मुनिपुंगव! आपके मन में क्या है ? यह मैं भगवान ऋषभदेव के समोसरण से जानकर आया हूँ। अरे प्रभु ! जिस पृथ्वी को आप मेरी समझ रहे हैं, उसे मेरे से पूर्व कितने ही चक्रवर्ती राजा भोग चुके हैं और भविष्य में भी दूसरे चक्रवर्ती भोगेंगे। ऐसी वैश्या सदृश इस भू नारी को आप मेरी समझ रहे हैं ? मैं तो अपने वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण मजबूरी से इस राज्य में जल से भिन्न कमल की भांति रह रहा हूँ। हे योगीराज! जिस समय मैं षट्खण्ड जीत कर विजयाब्द पर्वत की वृषभादि शिला पर अपना नाम लिखने गया तो मैंने देखा कि वह नामों से भरी है, वहाँ मेरा नाम लिखने की भी जगह ही नहीं थी। इसकारण एक नाम मिटाकर मुझे अपना नाम लिखना पड़ा। ऐसी स्थिति में भी आप इस छहखण्ड के वैभव को मेरा समझते हो। हे मुनिपुंगव ! आप जानते हैं कि जब यह शरीर ही अपना नहीं तो यह भूमि मेरी कैसे हो सकती है ? अतः आपके अन्दर जो शल्य है, उसे तत्काल इसीसमय त्याग दीजिए।” यह सुनते ही बाहुबली की शल्य निकल गई और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।”

उपर्युक्त विचार कविवर रत्नाकर के हैं। यद्यपि कवि रत्नाकर के अनेक क्रान्तिकारी विचारों से मैं पूर्ण सहमत हूँ; पर बाहुबली के हृदय में उक्त शल्य थी - इस बात से मैं उनसे सहमत नहीं हो पा रहा हूँ।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि बाहुबली जैसे मुनिपुंगव, समकिती, तद्भव मोक्षगामी और अल्पकाल में ही कैवल्य की प्राप्ति करनेवाले श्रुत मर्मज्ञ एवं संसार, शरीर, भोगों से विरक्त भेदविज्ञानी के मन में ऐसी स्थूल शल्य कैसे रह सकती है? जिसकी अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान संबंधी तीन चौकड़ी कषायें एवं तत्संबंधी नो कषायें कृश हो गई हों, २८ मूलगुण निर्दोष पल रहे हों, जो छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले हों, जिसने साक्षात् तीर्थंकर केवली से दीक्षा ली हो और दुर्गम वन में एक वर्ष का योग धारण किया हो, उसके हृदय में ऐसी क्रोधाग्नि की ज्वाला कैसे जल सकती है कि 'मैं भरत की भूमि पर अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा?' ये तो अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व की भूमिका जैसी स्थिति है। ऐसे तीव्र कषायवान को तीर्थंकर ऋषभदेव मुनिदीक्षा का पात्र कैसे मान सकते थे। अतः योगिराज बाहुबली के बारे में यह कहना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः आगम की बात यह है कि "जब उन्हें केवलज्ञान होने की होनहार ही नहीं थी और काललब्धि भी नहीं आई थी, तब केवलज्ञान कैसे हो सकता था? उनके उस समय केवलज्ञान होने का स्वकाल ही नहीं था और तत्समय की उपादानगत योग्यता भी नहीं थी, इसकारण केवलज्ञान नहीं हुआ।"

क्या यह कारण पर्याप्त नहीं है? जबकि प्रत्येक कार्य स्वचतुष्टय एवं पाँच समवाय पूर्वक ही होता है, यदि यह सिद्धान्त सही है तो बाहुबली जैसे त्यागी, तपस्वी, आत्मज्ञानी और श्रुतज्ञ - तद्भवमोक्षगामी व्यक्ति को कषायवाला और शल्यवाला बताकर कवि रत्नाकर क्या सिद्ध करना चाहते थे, कुछ समझ में नहीं आया?

अरे! बाहुबली ने तो घर छोड़ने के पहले ही भरतजी से क्षमा-याचना कर अपनी भूल स्वीकार कर ली थी और भरतजी ने भी बाहुबली से घर पर ही रहने का आग्रह कर अपना हृदय उनके सामने खोलकर रख दिया था। बाहुबली घर से नाराज होकर नहीं, बल्कि विरक्त होकर दीक्षा लेने गये थे। वे पक्के भावलिंगी संत थे और भव का अंत करने के लिए ही गृहत्याग किया था। अन्तरंग पुरुषार्थ की कमी एवं स्वकाल तथा

होनहार न होने के कारण लगातार अन्तर्मुहूर्त तक चित्त आत्मा में स्थिर नहीं हो सका, इसकारण केवलज्ञान नहीं हुआ।

वे वज्रवृषभनाराचसंहनन के धनी थे। अतः भूख-प्यास गर्मी-सर्दी और उपसर्ग-परीषह - सब उनके शारीरिक बल के सामने नगण्य थे, इसकारण वे एक वर्ष तक अचल जमे रहे, कषायवश उन्होंने अन्न-जल का त्याग किया हो - यह संभव ही नहीं। अतः शल्य की बात कहकर तो उनकी महानता आत्मसाधना की महिमा को कम करना है, जो उचित नहीं है। मुक्तिसाधना का तो यही राजमार्ग है।

आज गाँव-गाँव में बाहुबली की भव्य प्रतिमायें विराजमान हैं, परन्तु उनके पीछे मात्र दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) की अतिशयकारी प्रतिमा का अनुकरणमात्र ही दृष्टिगोचर होता है। जबकि हमें उनके वास्तविक वैराग्यवर्द्धक व्यक्तित्व का अनुकरण करना चाहिए। मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान परमात्मा का स्मरण करके उन जैसा आदर्श स्वयं के जीवन में ढालने की दिशा में अग्रसर होना चाहिए।

देखो, राजा बाहुबली जब युद्ध में जमें तो जमें ही रहे और विजयश्री प्राप्त कर भी पीछे हटे तो हटे ही रहे फिर राजसत्ता की ओर मुड़कर देखा भी नहीं। जब अपने आत्मा में जमे तो वहाँ भी जमे ही रहे। भले एक वर्ष लग गया, शरीर पर बेलें चढ़ गईं, सांप-बिच्छुओं ने पैरों के आसपास बिल बना लिये तो भी हिले-डुले नहीं, विचलित नहीं हुए। आज उनकी मूर्तियाँ भी हमें यही संदेश देती हैं।

वे दिगम्बर मुनि होकर जब अन्तर्मुख हुए तो फिर बाहर आये ही नहीं कदाचित् आत्मा में से उपयोग हटा भी तो फिर उसी में लगाने के अनन्त पुरुषार्थ में लग गये। दीक्षा के बाद भोजन के लिए जाना तो बहुत दूर, भोजन करने का विकल्प भी उन्हें नहीं आया। एक वर्ष की साधना में वे स्वरूप में ऐसे स्थिर हुए कि स्थिर ही रहे।

यह राज्य, भोगोपभोग के सुख साधन सभी प्राणियों को छोड़ देते हैं; यह मूर्ख प्राणी अपने हित के लिए भी उन्हें नहीं छोड़ पाता। अहा! विषयों में आसक्त हुए पुरुष इन विषयजनित सुखों की क्षणभंगुरता एवं

कुगति के कारण हेतुता के विषय में नहीं सोचते। यद्यपि वे विषय प्रारंभ में मनोहर मालूम होते हैं, किन्तु फल काल में कड़वे (दुःखद) जान पड़ते हैं।

अहा! विषयों में आसक्त पुरुष विषयजनित सुखों का निंद्यपना, विषयों की क्षणभंगुरता, उनकी नीरसता और उनके उपकार के बारे में कभी नहीं सोचते। जिन विषयों के वश में पड़ा हुआ प्राणी अनेक दुःख की परम्परा को प्राप्त होते हैं, उन विष के समान भयंकर विषयों को कौन बुद्धिमान पुरुष प्राप्त करना चाहेगा। अरे! विष के खाने से तो एक बार ही मरण होता है, परन्तु इन विषयों के सेवन से तो अनन्त भवों में दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः ये विकल्प तो विष से भी बुरे हैं। कहा भी है -

भोग भुजंग सम जानिके, मत की जौ जी यारी.....

भुजंग डसत इक बार नशत है, ये अनन्त दुःखकारी ॥ मत की जौ जी यारी ॥

ऐसे विषयों को कौन समझदार प्राणी प्राप्त करना चाहेगा ? ये विषय प्राणियों में जैसा उद्वेग (भयंकर दुःख) उत्पन्न करते हैं, वैसा उद्वेग (दुःख आकुलता) शस्त्रों के प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र की चोट और विषधर काले नाग भी नहीं कर सकते। भोगों की इच्छावाले लोभी पुरुष धन पाने की इच्छा से बड़े-बड़े समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, गहरी और तीव्र वेग से बहती नदी और ऊँचे हिंसक प्राणियों वाले पर्वतों पर चढ़कर अपने प्राणों की परवाह किए बिना प्रवृत्ति करते हैं।

विषयों की चाहवाले प्राणी की मूर्खता का कहाँ तक बखान करें, वे प्राणी जलचर हिंसक मगरमच्छ से संयुक्त समुद्रों को पार करते हुए दूर-देशों में जाते हैं। भोगों से लुभाये हुए पुरुष चारों ओर से आपदाओं के घिर कर मृत्यु की परवाह किये बिना युद्ध आदि के लिए तत्पर रहते हैं। मरने की कीमत पर भी भोग और यश पाने का प्रयत्न करते हैं।



### चक्रवर्ती भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना एवं प्रजा को धर्मोपदेश

भरत चक्रवर्ती जब अनेक राजाओं के साथ भरतक्षेत्र को जीतकर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय से वापस लौटे तब उन्हें विचार आया कि “मेरी इस विजय में उपलब्ध सम्पदा का दूसरों के हित में किसप्रकार उपयोग हो सकता है?”

वे सोचते हैं कि “मैं भी जिनेन्द्रदेव का बड़े ऐश्वर्य के साथ महामह नाम का यज्ञ (पूजा) कर सत्पात्रों में धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को संतुष्ट करूँ। सदा निःस्पृह रहनेवाले मुनि तो हमसे धन लेते ही नहीं हैं, परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा आदर-सत्कार करने योग्य हैं। जो मूलगुणों एवं अणुव्रतों को धारण करनेवाले हैं, सामान्य श्रावकों में धीर-वीर हैं और गृहस्थों में मुख्य हैं, ऐसे श्रेष्ठ आचरण करनेवाले सत्पात्र ही हमारे द्वारा धन और वाहन द्वारा सत्कार करने योग्य हैं।”

इसप्रकार निश्चय करके सत्कार योग्य सत्पात्र व्यक्तियों की परीक्षा करने हेतु राजराजेश्वर भरतजी ने समस्त प्रजा एवं राजाओं को बुलाया। साथ ही सब प्रजा को यह सूचित कर दिया कि आप लोग अपने-अपने सदाचारी इष्टमित्रों एवं नौकर-चाकर आदि के साथ हमारे पूजा-महोत्सव में अमुक-अमुक समय में पधारें।

इधर चक्रवर्ती ने उन सबकी परीक्षा करने के लिए अपने घर के आंगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल आदि सचित्त पदार्थ खूब बिछवा दिये, उन लोगों में जो अव्रती थे वे तो बिना किसी सोच-विचार के राजमहल में चले गये। भरतजी ने उन्हें एक ओर बिठा दिया तथा जो अंकुरों पर चलकर नहीं आये, उन्हें



पुनः आगे आने का आग्रह किया; फिर भी जब वे नहीं आये तो उनसे न आने का कारण पूछा। उत्तर में उन्होंने कहा - “हमने सूक्ष्म त्रस-स्थायर जीवों की रक्षा करने के कारण उस सचित्त भूमि के मार्ग से महल में प्रवेश नहीं किया।” यह कहकर जब वे वापस लौटने लगे तब भरतजी ने उनके लौटकर जाने का कारण जानकर प्रसन्नता प्रगट की और कहा - “आप अभिनन्दनीय हैं, पूजन महोत्सव के मंगलमय अवसर पर सचित्त भूमि पर चलकर नहीं आये, एतदर्थ आपका जितना सम्मान करें, थोड़ा है।”

आगंतुकों ने कहा - “हे देव! हरे अंकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव तो होते ही हैं, त्रस जीव भी रहते हैं - ऐसे सर्वज्ञ के वचन हमने सुने हैं। अनेक त्रस जीव तो चलते-फिरते दृष्टिगोचर भी होते हैं, वे सब हम-तुम जैसे ही जीव हैं, मरणभय से भयभीत हैं; अतः इन्हें पैरों से रूंदना-कुचलना योग्य नहीं है।”

यह सुनकर भरतजी ने उनकी प्रशंसा की और उन्हें दान-मान आदि देकर सम्मानित किया। यह देख-सुनकर अव्रतियों ने भी जीवों की रक्षा करने का संकल्प किया और भरत के द्वारा किए गए व्रतियों के सम्मान की अनुमोदना की।

चक्रवर्ती से सम्मानित व्यक्तियों ने अपने व्रतों को और अधिक दृढ़ता से पालन किया। भरतजी ने उन्हें उपदेश दिया कि सब आगंतुक महानुभावों को अर्हन्त भगवान की पूजा अवश्य करना चाहिए। यह पूजा चार प्रकार की है - १. सदार्चना या नित्यमह, २ चतुर्मुख, ३. कल्पद्रुम और ४. अष्टाह्निका (इन्द्रध्वज)।

**सदार्चन** - प्रतिदिन अपने घर से अष्टद्रव्य ले जाकर जिनालय में इन चारों पूजाओं में से किसी एक पूजन के माध्यम से जिनेन्द्रदेव की पूजा करना सदार्चन या नित्यमह पूजा कहलाती है। शक्ति के अनुसार नित्य दान देते हुए मुनिराजों की पूजा भी नित्यमह पूजा है।

**चतुर्मुख या सर्वतोभद्र पूजा** - यह मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा उत्सव के साथ की जाती है।

**कल्पद्रुम पूजा** - यह पूजा चक्रवर्तियों द्वारा किमिच्छक (मुँहमागा) दान देकर की जाती है।

अष्टाह्निका पूजा - जो पूजा इन्द्रों द्वारा की जाती है वह इन्द्रध्वज या अष्टाह्निका पूजा है।

विशुद्ध आचरण द्वारा खेती आदि करना 'वार्ता' कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति - ये चार प्रकार की दत्ति होती हैं। अनुग्रह करने योग्य प्राणियों का दयापूर्वक दान देना दयादत्ति है। मुनियों को आहार देना पात्रदत्ति है। साधर्मी गृहस्थ को, श्रद्धा से उसकी आर्थिक सहायता करना, वाहन आदि देना समदत्ति है। आत्मकल्याण हेतु गृहत्याग करने के पूर्व अपने वंश को आगे सुचारु चलते रहने के लिए पुत्र को अपना उत्तरदायित्व व उत्तराधिकार सौंप देना अन्वयदत्ति या सकलदत्ति है।

वर्णभेद आचरण के आधार पर - यद्यपि जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविका और आचरण के भेद से होनेवाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, अपनी और राज्य शासन की रक्षा हेतु शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक व्यापार द्वारा धन कमाने से वैश्य और तीनों वर्णों की सेवावृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाये।

हिंसादि दोषों के पूर्णत्याग को महाव्रत तथा एकदेश त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं। स्थूल व सूक्ष्म सभी प्रकार के हिंसादि पाँचों पापों का पूर्ण त्याग करना महाव्रत है और स्थूल हिंसादि पाँचों पापों से निवृत्त होना अणुव्रत है। इन व्रतों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही दीक्षा है। इनका आचरण करनेवाला ही कर्मणः ब्राह्मण है।

अपने सत्कर्मों से ब्राह्मणत्व को प्राप्त जो जैन धर्मानुयायी ब्रह्म स्वरूप निज शुद्धात्मा को जानते हैं, वे जैन भी कर्मणः ब्राह्मणवत ही हैं। कहा भी है - "यः ब्रह्मां जानाति सः ब्राह्मणः" इस उक्ति के अनुसार जो आत्मा के स्वरूप को समझते हैं, वे ब्राह्मण हैं तथा जो अहिंसक आचरण करते हैं, चार अनुयोग रूप वेदों के रहस्य को जानते हैं। वे वर्ण से वैश्य होकर भी कर्मणः ब्राह्मण ही हैं।

जो मलिन आचार-विचार के धारक हैं, पाप कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, दुर्व्यसनों का सेवन करते हैं, वे ब्राह्मण कुल या जाति में जन्म लेकर भी जन्म से ब्राह्मण कहला कर भी कर्मणः ब्राह्मण नहीं शूद्र हैं।

वस्तुतः जाति विशेष में जन्म से कोई छोटा-बड़ा नहीं है। यहाँ राजा ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के द्वारा जो चार वर्ण व्यवस्था कायम की गई, वह कर्म के आधार पर ही की गई थी। अतः जो जाति से अपने को बड़ा या छोटा मानते हैं, वे भ्रम में हैं, वस्तुतः सदाचार और दुराचार के आधार पर ही ऊँच-नीच का व्यवहार उचित है। इसी दृष्टि से जो ब्रती हैं, आत्मा को जानते हैं, आत्मा का उपदेश देते हैं, वे वणिक (वैश्य) होकर भी ब्राह्मण है और जो सात व्यसन का सेवन करते हैं, हिंसक कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, वे स्वयं निर्णय करें कि वे क्या हैं ? और उन्हें क्या बनना है ?

किसी को शंका हो सकती है, पूछ सकता है कि - जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्प व सेवा आदि छह कर्मों से आजीविका करते हैं, उन गृहस्थों के भी हिंसा का दोष लगता है। वे क्या करें ?

उत्तर - जैनदर्शन में हिंसा को चार भागों में वर्गीकृत किया है - १. संकल्पी हिंसा, २. विरोधी हिंसा, ३. आरंभी हिंसा और ४. उद्योगी हिंसा। सामान्य अव्रती श्रावक मात्र संकल्पी हिंसा का ही संकल्पपूर्वक त्याग कर सकता है। शेष तीन हिंसाओं से बचने की भावना होते हुए भी पूरी तरह उनसे बच नहीं पाता, परन्तु उनसे भी अधिक से अधिक बचने का प्रयास करता है। अतः वह ऐसे आरंभ एवं उद्योग नहीं करता, जिनमें फल अल्प हो और जीवघात अधिक हो। जो काम क्रूरता के बिना संभव ही न हों, उन्हें भी नहीं करता।

इनसे बचने के शास्त्रों में ३ उपाय बताये हैं - १. पक्ष, २. चर्या, ३. साधन। इन तीनों में प्रथम उपाय समस्त प्राणियों से मैत्री, गुणी जनों के प्रति प्रमोद, दुखियों के प्रति कारुण्य और विरोधी जनों के प्रति माध्यस्थभाव रखकर हिंसादि पापों का त्याग करना 'पक्ष' कहलाता है। दूसरा उपाय - किसी देवता के लिए, किसी मंत्रसिद्धि के लिए अथवा किसी औषधि या भोजन के बनवाने के लिए मैं किसी की हिंसा नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना 'चर्या' कहलाती है। तीसरा उपाय - साधन को समझाते हुए कहा है कि आयु के अन्त समय में शरीर की समस्त प्रकार की चेष्टाओं का परित्याग कर ध्यान की शुद्धि से आत्मा को शुद्ध करना, 'साधन' कहलाता है।

इसप्रकार इन उपायों द्वारा चारों प्रकार की हिंसा से बचने के बावजूद यदि आरंभ और उद्योग में किंचित् जीवघात हो भी जाता है तो उसे आगम में अशक्यानुष्ठान कहकर क्षम्य अपराध माना है। सम्पूर्ण अहिंसक तो गृहस्थ हो ही नहीं सकता; अन्यथा मुनिव्रत लेने की आवश्यकता भी क्या रहेगी ?

प्रश्न - यह अशक्यानुष्ठान क्या है ? कृपया इसे भी किसी उदाहरण से स्पष्ट करें ?

उत्तर - जिस पाप क्रिया को रोक पाना संभव न हो, उस असमर्थता को अशक्यानुष्ठान कहते हैं। जैसे भोजन के चौके में कुत्ता, बिल्ली, चूहा और मक्खी एक जैसे मांसाहारी और गंदगी पसन्द प्राणी, एक जैसी अशुद्धि फैलाते हैं, फिर भी कुत्ते को जाली का आधा फाटक लगाकर रोका जा सकता है अतः उसके चौके में प्रवेश मात्र से चौके की अशुद्धि मानी जाती है और उस भोजन सामग्री को हटाकर पुनः बनाई जाती है। बिल्ली को फाटक से नहीं रोक सकते, वह खिड़की आदि के रास्ते से भी आ जाती है। अतः उसके चौके में प्रवेश से नहीं, बल्कि उसके द्वारा वस्तु को झूठा करने से अशुद्धि मानी जाती है, वह दूध को जूठा करेगी तो दूध फैंकेगे, सब सामग्री नहीं और चूहा मोरी आदि किसी भी रास्ते से, कहीं से भी आ सकता है अतः यदि वह आटे को जूठा करेगा तो आटे के उस हिस्से को नोंचकर फैंकेगे, पूरा आटा नहीं। मक्खी के आटे पर बैठने पर-जूठा करने पर आटा नोचते भी नहीं, मात्र मक्खी को उड़ा देंगे। घी के पीपे में मक्खी मर भी जाये तो घी से भरा पूरा पीपा नहीं, मात्र मक्खी ही निकाल कर फैंकी जाती है, बस इसी मजबूरी का नाम अशक्यानुष्ठान है। इसमें जिसप्रकार की अशुद्धि का त्याग गृहस्थ से नहीं हो सकता है, वह अशक्यानुष्ठान है।

एक दिन सभा के बीच में सिंहासन पर विराजमान भरतजी ने एकत्रित हुए राजाओं को क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने कहा - “हे महानुभावो! आप लोगों को महाराजा ऋषभदेव ने दुःखी प्रजा की रक्षा करने को नियुक्त किया है। इस दृष्टि से आप लोगों के पाँच प्रमुख कार्य हैं। १. कुल का पालन-पोषण एवं कुलाम्नाय की रक्षा करना, २. सुबुद्धि (ज्ञान) में वृद्धि करना, ३. स्वयं को सुरक्षित रखना, ४. सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार एवं रक्षा करना और ५. परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करना अर्थात् एकता बनाकर

रखना। क्षत्रियों की कुलाम्नाय में राजा ऋषभदेव ने सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण स्थापित किया था। उससमय कर्मभूमि प्रारंभ हो जाने से प्रजा दो प्रकार की पायी जाती थी। एक तो वह जिसकी रक्षा करनी थी और दूसरी वह जो रक्षा करने में तत्पर थी। जो प्रजा की रक्षा करने में तत्पर थे, उसी की वंश परम्परा को क्षत्रिय कहा गया। यद्यपि यह वंश बीज-वृक्ष के समान अनादिकाल की सन्तति से अनादि का है, तथापि क्षेत्र, काल की अपेक्षा पुनः पुनः स्थापन होता रहा है। न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही क्षत्रियों का योग्य आचरण है।

धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और सत्पात्रों को दान देना ही क्षत्रियों का न्याय है तथा वीतराग धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करना संसार में सबसे श्रेष्ठ न्याय माना गया है। देखो, ऐसे क्षत्रियपद की प्राप्ति रत्नत्रय के प्रताप से ही होती है; इसीलिए बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये हैं। ये लोग स्वयं धर्ममार्ग में स्थित रहते हैं तथा अन्य लोगों को भी स्थित रखते हैं।

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अपने गृहस्थ काल में क्षत्रियधर्म का कर्तव्यबोध कराते हुए सभी क्षत्रियों को वीतरागी धर्म की महिमा बताते हुए उन्हें अहिंसामयी आर्हतमत का पालन करने का संदेश दिया था। रत्नत्रय की मूर्ति होने से जिसप्रकार अन्य तीर्थंकर भी भगवान ऋषभदेव के धर्मक्षेत्र के वंशज होंगे, उसीप्रकार जो भी व्यक्ति तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा बताये गये वीतराग धर्म का आचरण करेंगे, वे सब उनके अनुयायी भी एकप्रकार से उनके वंशज ही हैं।

सुबुद्धि की परिभाषा बताते हुए राजा ऋषभदेव ने कहा था- “इस लोक तथा परलोक संबंधी पदार्थों के हित-अहित का ज्ञाना सुबुद्धि है। मिथ्याज्ञानरूप अविद्या का नाश होने से ही सुबुद्धि में वृद्धि और उसकी रक्षा होती है। अतत्त्व में ज्ञान का लगाना ही मिथ्याज्ञान या अविद्या है। जो अरहंतदेव का कहा हुआ वस्तुस्वरूप है, वही तत्त्व है। राजविद्या का ज्ञान होने से इस लोक संबंधी पदार्थों में बुद्धि दृढ़ होती है और धर्मशास्त्र का परिज्ञान होने से इसलोक व परलोक - दोनों लोक संबंधी पदार्थों में जो बुद्धि दृढ़ हो जाती है, उसे ही वस्तुतः सुबुद्धि कहते हैं।

क्षत्रियों को स्वयं की सुरक्षा के लिए अनजान साधु वेषधारी व्यक्तियों की बातों में नहीं आना चाहिए। ऐसे वेषधारी अनजान साधु लोगों से सदा दूर ही रहना चाहिए। ऐसे लोगों के सम्पर्क में अपना महत्त्व तो कम होता ही है, कभी धोखा भी हो सकता है, संभव है कोई द्वेष रखनेवाला पाखंडी व्यक्ति विषपुष्प रख दें अर्थात् अनिष्ट कारक वस्तु से शारीरिक क्षति कर दे, वशीकरण मंत्र से वश में कर ले।

राग-द्वेष आदि दोषों से रहित होने के कारण अर्हन्त देव का आप्त भी कहते हैं। जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी हैं, परमेष्ठी हैं, परमात्मा हैं, वे ही आप्त हैं। आप्त के द्वारा कहे हुए क्षात्रधर्म का स्मरण करते हुए क्षत्रियों को अनाप्त या अप्रमाणित पुरुषों के द्वारा कही हुई बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

इस लोक और परलोक संबंधी उपायों से आत्मा की रक्षा करना चाहिए। विष, शस्त्र आदि से होनेवाली हानि से बचनेरूप इस लोक संबंधी रक्षा तो प्रायः सब समझते हैं; परन्तु परलोक संबंधी रक्षा सच्चे धर्म द्वारा ही हो सकती है। जो कि वीतरागभावरूप ही है। यह बहुत कम लोग जानते हैं। अतः वीतराग धर्म में एकचित्त होकर भविष्य काल में आनेवाली परलोक की विपत्तियों का प्रतिकार भी करना चाहिए।

सभी स्वामियों को ज्ञातव्य है कि उन्हें अपने सेवकों से कैसा व्यवहार करना चाहिए। १. कठोर दण्ड देनेवाला या कठोर व्यवहार करनेवाला स्वामी अपने सेवकों को उद्विग्न कर देता है, उसकी यह उद्विग्नता स्वामी के प्रति श्रद्धा और सेवा की भावना को कम कर देती है, सेवक को उदर पोषण के लिए सेवा कार्य करना तो मजबूरी है, पर स्वामी के रुखे या कठोर व्यवहार से वह काम उसे भारभूत लगने लगता है, इसकारण काम बिगड़ने की संभावना तो बढ़ ही जाती है। परस्पर संबंधों में भी कटुता आ जाती है, जो दोनों के लिए अहितकर है। २. स्वामी को चाहिए कि वह अपने अस्वस्थ सेवक को उचित औषधि दिला कर उसके दुःख को दूर कर उसकी श्रद्धा का पात्र बने। ३. सेवक की दरिद्रता को भी स्वामी द्वारा सहानुभूतिपूर्वक दूर करना चाहिए। इससे सेवक की स्वामी के प्रति समर्पण की भावना बलवती होती है। ४. स्वामी को चाहिए कि वह सेवक के काम से प्रसन्न होकर उसे समय-समय पर पुरस्कार भी देवे। जो स्वामी सेवक के अच्छे काम की प्रशंसा करते हैं, उन्हें प्रोत्साहित करते हैं, भृत्य उन पर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी

उनका साथ नहीं छोड़ते। ५. इसी संदर्भ में राजा के सामंजसत्व नामक गुण को समझाते हुए कहा है कि – जो निर्दयी, हिंसक, पापाचारी और दुष्ट पुरुषों का निग्रह और क्षमाशील, संतोषी और सदाचारी शिष्ट पुरुषों का पालन करता है, वही उसका सामंजसत्व गुण है। जो राजा निग्रह करनेयोग्य अपराधी मित्र अथवा पुत्र को भी शत्रु के समान दण्ड देता है। सबका समानरूप से निग्रह करता है, वह भी राजा का सामंजसत्व गुण है। सामंजसत्व का अर्थ है पक्षपातरहित होना।

इसप्रकार भरतेश्वर के द्वारा क्षात्रधर्म को सुनकर एवं स्वीकार कर सब राजा कृतार्थ हो गये। राज्यशासन और सत्ता में मानसिक खेद की ही बहुलता है – ऐसा हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अतः ऐसे राज्यशासन में निराकुल सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है ? जिसका अन्त अच्छा नहीं और जिसमें निरन्तर पाप में प्रवृत्ति रहती है, ऐसे इस राज्य सुख में सचमुच निराकुल सुख का तो लेश भी नहीं है। चौबीसों घण्टे शंकित ही बने रहने के कारण बड़ा भारी मानसिक दुःख बना ही रहता है। इसलिए आत्मार्थी को कम से कम जीवन के अन्त समय में तो इस राज्यशासन का त्याग करना ही श्रेयस्कर है और तपग्रहण करना ही कल्याणकारी है। यदि अभी त्याग करने में समर्थ न हों तो उसे हेय मानते हुए अन्त समय में तो राज्य के आडम्बर का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए। जब भी रोगादिक के निमित्त से अपना मरण काल निकट जाने तो तुरन्त सल्लेखना धारण करने में तत्पर होना चाहिए। जब भी रोगादिक के निमित्त से अपना मरण काल निकट जाने तो तुरन्त सल्लेखना धारण करने में तत्पर रहना चाहिए। पर में ममत्व का त्याग ही परमधर्म है, परमतप है। तप से परलोक में ऐश्वर्य प्राप्त होता है – ऐसा मान कर परीषह जीतने के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। मन की चंचलता नष्ट करने के लिए पंच परमेष्ठियों का स्मरण करते हुए आयु के अन्त में सल्लेखना धारण करना चाहिए। आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्मा की रक्षा नहीं करता, उसकी विष शस्त्र आदि के अपमृत्यु होती है।

अतः क्षत्रिय को आत्मरक्षा के साथ प्रजा का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए।





## सेनापति जयकुमार और धर्मपत्नी सुलोचना

हस्तिनापुर के महाराजा सोमप्रभ के पुत्र एवं दानतीर्थ के प्रवर्तक राजा श्रेयांस के भतीजे जयकुमार चक्रवर्ती भरत के प्रमुख सेनापति थे। वे शूरवीर के साथ धर्मवीर भी थे। वे तीर्थंकर ऋषभदेव के ७२वें गणधर हुए। उनके पूर्व भवों की चर्चा उनकी पत्नी सुलोचना के मुख से महापुराण में प्रस्तुत की गई है। सुलोचना को एक कबूतरी के देखने से अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण हो गया था, जो इसप्रकार है -

एक दिन जयकुमार और उनकी पत्नी सुलोचना अपने कुटुम्बी जनों के साथ महल की छत पर बैठे थे। उन्होंने छत पर एक कबूतर और कबूतरी - पक्षी युगल को देखा। जिसे देखते ही जयकुमार के मुख से अनायास ही निकला "हा! प्रभावती तू कहाँ? साथ ही सुलोचना के मुख से निकला - "मेरा रतिवर कहाँ है?" ऐसे शब्द निकलने के साथ ही दोनों मूर्च्छित हो गये। कुछ देर बाद जब मूर्च्छा टूटी तो सुलोचना ने जयकुमार के आग्रह करने पर परिवार के सामने अपने जातिस्मरण ज्ञान के आधार पर बताया कि - "जयकुमार और मेरा अनेक भवों का स्नेह है और इस स्नेह के कारण हम दोनों लगभग साथ-साथ जन्मते-मरते रहे हैं। हमारे दृष्टिपथ में आये इन कबूतर और कबूतरी के युगल को देखकर हमें हमारे पूर्व भवों का स्मरण हो गया है और इसीकारण हम मूर्च्छित हो गये थे।

इस भव के चार भव पूर्व हम दोनों में यह जयकुमार सुकान्त और मैं रतिवेगा के रूप में थे। उस भव में मेरे माता-पिता ने मेरा विवाह संबंध भवदत्त नामक सेठ पुत्र से करना तय कर दिया था, परन्तु भवदत्त धनार्जन हेतु परदेश चला गया और वह कह गया कि 'यदि मैं बारह वर्ष में न लौट सकूँ तो रतिवेगा अर्थात्



मेरा विवाह अन्य से कर दिया जाय।' संयोग से हुआ भी यही - भवदत्त समय सीमा के कहे अनुसार नहीं लौटा और मेरा विवाह जयकुमार के पूर्वभव के जीव सुकान्त से हो गया।

भवदत्त जब लौटा और हमारे विवाह के बारे में उसे ज्ञात हुआ तो वह क्रोधित तो हुआ ही, उसने हमें अर्थात् सुकान्त और रतिवेगा को मार डालने का निर्णय कर लिया। उसके इस निर्णय को जानकर हम (सुकान्त और रतिवेगा) मृत्युभय से भयभीत होकर वहाँ से अज्ञातवास में चले गये। वहाँ पहले से ही ठहरे शक्तिषेण राजा के सान्निध्य में हम दोनों सुख से रहने लगे। वहाँ देवयोग से एक चारणऋद्धि धारी मुनिराज के दर्शन हुए। राजा ने मुनिराज को आहार दिया। उसे देख हम (सुकान्त और रतिवेगा दम्पति) बहुत हर्षित हुए। धर्मध्यान की साधना करते हुए हम वहाँ रह रहे थे कि एक दिन भवदत्त वहाँ आ पहुँचा और हमें जला कर भस्म कर दिया।

सुकान्त अर्थात् जयकुमार का जीव तीसरे पूर्वभव में पूर्वविदेह में रतिवर नामक कबूतर एवं रतिवेगा (मेरा) जीव रतिषेणा नामक कबूतरी हुआ। वहाँ भी हम दोनों ने (उस भव में) मुनिराज के चरणकमलों का स्पर्श किया एवं उनके आहारदान की हर्षित होकर अनुमोदना की। उस भव में वह भवदेव का जीव बिलाव बना और उसने हम दोनों को मार डाला।

देखो, संसार की विचित्रता! निष्कारण बैरी बनकर उस भवदेव के जीव ने बारम्बार हमारा घात किया। यद्यपि हमारी कोई गलती थी; उसके कहे अनुसार मेरे पिता ने मेरा विवाह सुकान्त के साथ किया था; फिर भी उसने बैर बांध लिया। कोई किसी का अहित करे, तब तो उसके बदले की भावना का कहना ही क्या है? अतः हमें कभी किसी से बैर भाव नहीं रखना चाहिए और कभी किसी का अहित नहीं करना चाहिए।

उस कबूतर की योनि के बाद जयकुमार का जीव दूसरे पूर्वभव में विद्याधर हिरण्यवर्मा एवं मैं (सुलोचना) कबूतरी के भव के बाद प्रभावती हुई। वहाँ भी हम दोनों का विवाह हुआ। संयोग से उस प्रभावती के भव में मैंने एक कबूतर के जोड़े को उड़ते देखा और उसी प्रभावती के भव में मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। तत्पश्चात् मैंने और हिरण्यवर्मा ने एक चारणऋद्धि धारी मुनि के पास अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुना।

कालान्तर में हम दोनों ने उस भव में अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर मुनि एवं आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए। एक बार मुनि हिरण्यवर्मा सात दिन का प्रतिमायोग धारण करके श्मशानभूमि में विराजे थे और मैं (आर्यिका प्रभावती) भी अलग विद्यमान थी।

वहाँ भी वह भवदेव का जीव जन्म-मरण करते विद्युच्चोर के रूप में पहुँचा और उसे किसी के द्वारा यह ज्ञात हो गया कि ये मुनि एवं आर्यिका सुकान्त और रतिवेगा के ही जीव हैं, जिन्होंने भवदेव के भव में मेरी होनेवाली पत्नी के साथ विवाह कर लिया था। बस, फिर क्या था, उस विद्युच्चोर ने हम दोनों (मुनि-आर्यिका) को जलती चिता में फेंक दिया। वहाँ से समतापूर्वक मर कर पहले पूर्वभव में हम दोनों देव हुए।

उधर राजा ने इस अपराध में विद्युच्चोर को फांसी की सजा दी। यह बात हमें देवभव में अवधिज्ञान से ज्ञात हो गई तो हमने राजा को किसी तरह शांत कर उस विद्युच्चोर को बचा लिया, परन्तु बुरे भावों के फलस्वरूप मरकर वह नरक गया।

कुछ काल बाद जब एकबार हम दोनों देवों ने पुनः वहाँ जाकर देखा तो उसी विद्युच्चोर का जीव महामुनि भीम के रूप में विराजमान था। देवों के भव में हम दोनों ने मुनि भीम की भक्तिभाव से वंदना की और मुनिश्री भीम से इस छोटी-सी उम्र में मुनि होने का कारण पूछा।

मुनिश्री भीम ने बताया - “मैं एक दरिद्र कुल में जन्मा था। मेरा नाम माता-पिता ने भीम रखा। एकबार मैंने एक मुनिराज से उपदेश सुना। उसे सुनते ही मुझे जातिस्मरण हो गया, उससे मैंने जाना कि मैं अपने... पूर्व भव में रतिवर्मा सेठ का चरित्रहीन पुत्र भवदेव था; मेरी शादी रतिवेगा से होनेवाली थी; परन्तु समय पर वापिस नहीं आ सका तो मेरे कहे अनुसार ही उसकी शादी सुकान्त से हो गई। जब मैं लौटा और रतिवेगा को सुकान्त के साथ देखा तो मैं उन दोनों का निष्कारण ही बैरी बन गया और मैंने पिछले चार पूर्व भव में उन्हें बारम्बार जान से मारा। फलस्वरूप मेरी दुर्गति हुई। भवदेव के बाद मैं बिलाव हुआ, तत्पश्चात् विद्युच्चोर बना, फिर नरक में गया। नरक से आकर यहाँ भीम हुआ हूँ। इस भव में मेरी भली होनहार से मुझे वैराग्य हो गया और मैं साधु बन गया हूँ।”

इस विचित्र कथा को सुनकर उन देवों को बहुत आश्चर्य हुआ और उन्हें अवधिज्ञान द्वारा समस्त बातें स्पष्टरूप से ज्ञात हो गईं। उन्होंने कहा - “जिनको आपने पहले अनेक बार जान से मारा, वे दोनों हम ही हैं।” ऐसा कहकर उन्होंने मुनिराज भीम की वंदना की और वापिस चले गये। इधर मुनि भीम ने कठिन तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त कर कुछ काल बाद अघातिया कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त कर ली। उसके बाद देव आयु पूर्ण होने पर हम यहाँ जयकुमार और सुलोचना के भव में आये हैं।”

देखो, परिणामों की विचित्रता ! जिसने मुनि-आर्यिका जैसे धर्मात्मा जीवों को जिन्दा जलाया हो और भव-भव में बदले की ज्वाला में जला हो, वह पापात्मा पापों का त्याग कर मुनि होकर धर्मात्मा जयकुमार और सुलोचना से भी पहले परमात्मा बन गया, मुक्त हो गया। इसीलिए किसी ने ठीक ही कहा है कि - “पाप से घृणा करो, पापी से नहीं” पापी कब परमात्मा बन जायेगा, कुछ कह नहीं सकते। जितने भी परमात्मा बने, प्रायः सभी अपनी पूर्व पर्यायों में पापी भी रहे थे। दूर क्यों जायें, भगवान महावीर को ही देख लो। घोर मिथ्यादृष्टि मारीचि ही तो महावीर बने।

चक्रवर्ती श्रीपाल की कथा - एकबार जयकुमार ने सुलोचना से पूछा - “चक्रवर्ती श्रीपाल की कथा मुझे याद नहीं आ रही, यदि तुम्हें स्मरण हो तो कहो - मैं उनकी कथा सुनना चाहता हूँ।”

सुलोचना ने कहा - “हाँ, सौभाग्यशाली चक्रवर्ती श्रीपाल की कथा तो मुझे ऐसी याद है, मानो मैंने उन्हें आज ही देखा हो।” यह कहकर सुलोचना ने कथा सुनाते हुए कहा -

“श्रीपाल और उनके लघुभ्राता वसुपाल नामक दो भाई थे। श्रीपाल ने राज्यों पर विजय प्राप्त की एवं छोटे भाई को अपने आधीन युवराज पद पर आसीन किया। ये दोनों सहोदर सूर्य और चन्द्रमा के समान सुख से रहते थे। एक दिन माली ने आकर वसुपाल की माता से कहा - सुरगिरि पर्वत पर आपके पतिदेव गुणपाल मुनिराज को केवलज्ञान हुआ है। माता ने यह हर्ष का समाचार सुनकर सात पैँड़ चलकर नमस्कार किया। माली को पारितोषिक दिया और नगर में ढिँढ़ोरा पिटवाने के साथ घोषणा करवाई कि “स्वामी गुणपाल मुनिराज को कैवल्य की प्राप्ति हुई है, अतः सब लोग प्रभु के दर्शन-पूजन करने चलें।”

श्रीपाल और वसुपाल ने भी माता के साथ पूज्य पिताश्री गुणपाल केवली की वंदना के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में श्रीपाल और वसुपाल और माता से बिछुड़ कर, मार्ग में भटकते हुए उस वन में पहुँचे, जहाँ कभी एक वटवृक्ष के नीचे जगत्पाल चक्रवर्ती ने संयम धारण किया था। उसी वृक्ष के नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे श्रीपाल देखने लगे। नृत्य देखते हुए श्रीपाल ने कहा – “देखो, यह स्त्री का वेष धारण किए पुरुष और पुरुष के वेष में स्त्री नाच रही है। यदि यह स्त्री स्त्री के वेष में ही नृत्य करती तो स्वाभाविक होने से बहुत अच्छा लगता।”

श्रीपाल की यह बात सुनकर नर्तकी (नटी) मूर्च्छित हो गई। अनेक उपायों से नर्तकी को सचेत कर उस नर्तकी की सहेली उस भावी चक्रवर्ती श्रीपाल से कहने लगी – “सुरम्य देश के श्रीपुर नगर के राजा श्रीधर हैं, उनकी रानी का नाम श्रीमती है, उनके जयवती नाम की पुत्री है। उसके जन्म के समय ही निमित्त ज्ञानियों ने यह कहा था कि यह चक्रवर्ती की पट्टरानी बनेगी और उस चक्रवर्ती की पहचान यही है कि ‘जो नट और नटी के भेद को जानता हो, वही इसका पति चक्रवर्ती होगा।’ हम लोग यहाँ उसी चक्रवर्ती की प्रतीक्षा में परीक्षा हेतु नृत्य कर रहे थे। पुण्योदय से हम लोगों ने आपको पहचान लिया कि वे चक्रवर्ती आप ही हैं; क्योंकि निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार आपने हमें पहचान लिया है।”

परिचय करानेवाली सहेली ने अपने परिचय में कहा कि “मेरा नाम प्रियरति है। यह पुरुष का वेष धारण करनेवाली नर्तकी और कोई नहीं मेरी ही पुत्री मदनवेगा है और स्त्री का वेष धारण करनेवाला वासव नामक नट है।”

इसप्रकार उन नट आदि को विदा करके श्रीपाल आगे चले और लगातार सात दिन तक घटनाक्रम अनुसार विचरण करके अनेक विद्यायें प्राप्त कीं और मार्ग में और भी अनेक स्त्रियों के साथ संबंध होने की अनेक घटनायें हुईं, अन्त में श्रीपाल सुरगिरि पर्वत पर गुणपाल जिनेन्द्रदेव के समवसरण में जा पहुँचे। त्रियोगशुद्धि से श्रीपाल ने बहुत देर तक गुणपाल जिनेन्द्र की स्तुति की। मार्ग में बिछुड़े हुए माता और भाई वसुपाल को वहाँ देखकर उनका यथायोग्य विनय किया। श्रीपाल ने माताश्री को अपने साथ में आई

सुखावती की प्रशंसा करते हुए माता से उसका परिचय कराया। उन्होंने कहा – “मैं इस सुखावती के प्रभाव से आप तक सकुशल आ सका हूँ।” सज्जनों का यह स्वभाव है कि ‘वे कृत उपकार को कभी भूलते नहीं हैं।’ श्रीपाल ने भी सुखावती के उपकार को बहुत बड़ा उपकार मानते हुए सुखावती के प्रति आभार व्यक्त किया।

युवराज वसुपाल के प्रश्न के उत्तर में भगवान गुणपाल ने जो कुछ श्रीपाल के संबंध में कहा था तदनुसार ही श्रीपाल ने विद्याधर राजाओं की श्रेणी में रहकर अनेक लाभ प्राप्त किये थे।

नगर में पहुँचने पर वसुपाल कुमार का वारिषेना आदि कन्याओं के साथ विवाहोत्सव हुआ। उसी समय श्रीपाल भी जयावती आदि चौरासी अभीष्ट कन्याओं से अलंकृत हुए।

सुख से रहते हुए कुछ काल बाद राजा श्रीपाल की जयवती रानी से गुणपाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ और उसी समय आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। तब राजा श्रीपाल ने बड़े हर्ष से जिन पूजा करके चक्ररत्न और पुत्ररत्न का महोत्सव मनाया। तदनन्तर चक्रवर्ती श्रीपाल ने छह खण्डों पर विजय प्राप्त करके चिरकाल तक चक्रवर्ती का वैभव भोगा।

जब चक्रवर्ती श्रीपाल का पुत्र गुणपाल युवा हुआ तो उसका विवाह अपनी पत्नी जयावती के भाई जयवर्मा की पुत्री जयसेना से कर दिया। इसके सिवाय अनेक विद्याधर राजाओं की पुत्रियों से भी विवाह करा दिया। इसप्रकार गुणपाल अपनी अनेक पत्नियों के साथ सुख से समय व्यतीत कर रहा था। जिसका मोक्ष निकट है ऐसे गुणपाल की दृष्टि अकस्मात् चन्द्रग्रहण की ओर पड़ी, चन्द्रग्रहण को देखकर उसे ऐसा लगा कि जब राहु द्वारा ग्रसित इस चन्द्रमा की यह हालत हो रही है तो साधारण प्राणियों को पापोदय से प्राप्त प्रतिकूलता की तो बात ही क्या है? इसप्रकार वैराग्य आते ही उन गुणपाल को जाति स्मरण हो गया।

उन्हें स्मरण हुआ कि ‘मैं इस पुष्करार्थ द्वीप के पश्चिम विदेह में पद्म नामक देश में कान्तपुर नगर के राजा कनकरथ की रानी कनकप्रभा के कनकप्रभ नामक पुत्र हुआ। मेरा विवाह विद्युत्प्रभा से हुआ। एक दिन मेरी पत्नी की साँप द्वारा काटे जाने के कारण मृत्यु हो गई। उसके वियोग से विरक्त होकर मैंने समाधिगुप्त

मुनिराज से संयम धारण कर लिया। मैं दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं को भाता हुआ, आयु के अन्त में अहमिन्द्र हुआ और कहाँ से चयकर यहाँ चक्रवर्ती श्रीपाल का पुत्र गुणपाल हुआ हूँ।’

गुणपाल इसप्रकार विचार कर ही रहे थे कि कुछ लोकान्तिक देव आये और उनकी वैराग्य भावना को पुष्ट किया। इसप्रकार प्रबोध को प्राप्त हुए इस मोहजाल को तोड़कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्रकट करके केवली हो गये।

चक्रवर्ती श्रीपाल ने गुणपाल केवली की पूजा की और गृहस्थ तथा मुनि संबंधी – दोनों प्रकार का धर्म सुना। तदनन्तर बड़ी विनय के साथ अपने पूर्वभव का संबंध पूछा – तब भगवान की वाणी में जो कुछ आया था, उस कथा को सुलोचना ने जयकुमार से इसप्रकार कहा –

“विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी का राजा यशपाल था। उसी नगरी के सेठ पुत्र सर्वसमृद्ध का विवाह सेठ धनंजय की छोटी बहिन धनश्री से हुआ। उन दोनों के एक सर्वदयित नाम का पुत्र व एक सर्वदयिता नाम की पुत्री हुई। सेठ सर्वसमृद्ध की छोटी बहन देवश्री का विवाह सागरसेन से हुआ। जब सर्वदयित युवा हुआ तब उसका विवाह मामा (धनंजय) की पुत्री जयदत्ता और फूफा (सागरसेन) की पुत्री जयसेना से हुआ। उसके (सर्वदयित) के फूफा (सागरसेन) के सागरदत्त व समुद्रदत्त नामक दो पुत्र एवं एक पुत्री सागरदत्ता और थे। उसके (सर्वदयित) फूफा की छोटी बहिन सागरसेना के भी एक पुत्र वैश्रवणदत्त और एक पुत्री वैश्रवणवदत्ता थी। वैश्रवणदत्ता का विवाह अपने मामा (सागरसेन) के पुत्र सागरदत्त से हुआ और वैश्रवणदत्त का विवाह अपने मामा (सागरसेन) की पुत्री सागरदत्ता से हुआ। इसीप्रकार सर्वदयित की बहिन सर्वदयिता का विवाह उसके फूफा (सागरसेन) के पुत्र समुद्रदत्त से हुआ। इसप्रकार सब सुख से रह रहे थे।

एक दिन सर्वदयित के मामा सेठ धनंजय भेंट लेकर राजा यशपाल के दरबार में गये, राजा ने भी उनका सम्मान करके यथायोग्य बहुत-सा सुवर्ण आदि धन दिया। यह देखकर सेठ पुत्रों को भी धन कमाने की इच्छा हुई और वे धन कमाने के लिए चल पड़े। वे नगर के समीप एक गाँव में ठहर गये। रात्रि में समुद्रदत्त

चुपचाप अपने घर पहुँचा और अपनी स्त्री से समागम करके चुपचाप अपने मित्रों के साथ जाकर सो गया। समय अनुसार गर्भ बढ़ने लगा, तब समुद्रदत्त के बड़े भाई सागरदत्त ने अपने छोटे भाई की स्त्री सर्वदयिता को बिना उसकी परीक्षा किये दुराचारिणी समझ कर घर से निकाल दिया। भाई सर्वदयित ने भी दुराचारिणी समझ कर अपने घर में प्रवेश नहीं करने दिया। उसने पास ही के अन्य घर में प्रसवकाल व्यतीत करके एक पुत्र को जन्म दिया।

जब यह बात सर्वदयित को पता चली तो उसने अपने एक विश्वासपात्र सेवक को बुलाकर कहा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह छोड़ आ।' सेवक बुद्धिमान था, वह बालक को लेकर श्मशान में आया और वहाँ से उसे अपने सेठ का विद्याधर मित्र जयधाम और उसकी स्त्री जयभामा मिले थे। श्मशान में विद्या सिद्ध करने आये थे। उस सेवक ने उन दोनों को वह बालक सौंप दिया। उन दोनों ने बालक को औरसपुत्र मानकर उसका नाम जितशत्रु रखकर प्रसन्नता से पालन-पोषण करने लगे।

सर्वदयिता पुत्र वियोग में स्त्रीवेद की निन्दा करते हुए अच्छे विचार रखते हुए मरकर पुरुष जन्म पाया। तदनन्तर समुद्रदत्त अपने मित्रों के साथ वापस आया और अपनी स्त्री का वृत्तान्त जानकर अपने बड़े भाई सागरदत्त और साले सर्वदयित की निन्दा करते हुए क्रोध करने लगा, क्योंकि उन दोनों ने ही बिना विचारे उसकी स्त्री को घर से निकाल दिया था।

एक दिन सेठ सर्वदयित के नगर में जितशत्रु आया, उसे देखकर सेठ ने उससे कहा कि 'तेरा रूप समुद्रदत्त के समान किसप्रकार है और तुम यहाँ किसलिए आये हो।' तब जितशत्रु ने अपने आने का कारण बताया। लेकिन उसी समय सेठ को जितशत्रु के हाथ में पहिनी अँगूठी को देखकर निश्चय हो गया कि यह मेरा भानजा ही है। उसने अपनी भूल सुधारने के लिए अपनी पुत्री सर्वश्री का विवाह जितशत्रु के साथ करके बहुत धन देकर उसे सेठ बनाकर स्वयं विरक्त हो गया। उसी समय जितशत्रु को पालनेवाला विद्याधर जयधाम अपनी स्त्री जयभामा के साथ आया, साथ में वैश्रवणदत्त की स्त्री सागरदत्ता व बहन वैश्रवणदत्ता आदि और भी



बहुत से लोगों को विरक्ति आई। उन सबने रतिवर मुनि के पास जाकर संयम धारण कर लिया। आयु के अन्त में संयम के प्रभाव से स्वर्ग गये।

स्वर्ग की आयु पूरी होने पर जयधाम का जीव यहाँ वसुपाल हुआ, जयमाला यहाँ वसुपाल की रानी हुई, सर्वदयित सेठ का जीव यहाँ श्रीपाल हुआ, इसीप्रकार उस समय के सभी जीव यहाँ आकर तेरे शत्रु व मित्र बने। तुमने अपनी बहन के पुत्र को अपनी बहन से अलग किया था, इसलिए तुझे इस भव में अपने परिवार से अलग होना पड़ा। तुमने उस भव में बहन के बालक की हिंसा नहीं की थी, इसलिए ही तेरा इस भव में अपने भाई-बन्धुओं से फिर मिलन हुआ है। तूने उस भव में जो तप किया था, उसी के फल से चक्री हुआ है। भगवान गुणपाल के कहे वचनों को सुनकर सबने अपना परस्पर का बैर छोड़ दिया।

जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों को देखकर चक्रवर्ती श्रीपाल को वैराग्य हो गया और उन्होंने सबसे क्षमाभाव धारण करते हुए समस्त वैरभावों को त्याग कर जन्म-जरा-मृत्यु रोग का निवारण करने के लिए बुद्धिस्थिर कर धर्माभूत पान किया। चक्रवर्ती श्रीपाल विचार करने लगे - “इस चक्रवर्ती के साम्राज्य को धिक्कार है, यह आयु वायु के समान चंचल है। यह भोग मेघों के समान क्षण में विलीन हो जानेवाले हैं, इष्टजनों का संयोग नष्ट हो जानेवाला है। ये शरीर पापों का संयोग है, विभूतियाँ क्षणभंगुर हैं, यह यौवन पथभ्रष्ट कराने का प्रमुख कारण है। ये सब सुखाभास के साधन मिथ्यात्व के प्रभाव में ही मधुर लगते हैं, विवेक जागृत होते ही ये सब जहर से कटुक लगने लगते हैं। मैंने चिरकाल तक दसोंप्रकार के भोग भोगे; परन्तु इनसे रंचमात्र भी तृप्ति नहीं हुई।”

श्रीपाल चक्रवर्ती ने चक्ररत्नसहित समस्त परिग्रह का त्याग कर अपनी सुखावती से प्रसूत पुत्र नरपाल का राज्याभिषेक करके जयवती आदि रानियों और वसुपाल आदि राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। उग्र तपश्चरण करते हुए चारों घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। महाराज श्रीपाल की पत्नियाँ भी अनेक प्रकार से तपश्चरण करके स्वर्ग सिधारीं।”



सुलोचना ने जयकुमार से कहा कि - “पूर्वभव में हम दोनों (देव-देवी) भी ये सब कथायें केवली गुणपाल से सुनकर एवं गुणपाल केवली को नमस्कार कर स्वर्ग चले गये। वहाँ से चयकर यहाँ उत्पन्न हुए हैं।”

पहले विद्याधर के भव में लक्ष्मी को बढ़ानेवाली जो प्रज्ञप्ति आदि विद्यायें थीं, वे भी बड़े प्रेम से जयकुमार और सुलोचना को प्राप्त हो गई थीं। उन विद्याओं के बल से महाराज जयकुमार ने अपनी प्रिया सुलोचना के साथ देवों के भ्रमण करने योग्य देशों में विहार करने की इच्छा की। एतदर्थ अपने छोटे भाई विजयकुमार को राज-काज में नियुक्त कर दिया।

जयकुमार अपनी प्रियपत्नी सुलोचना के साथ समुद्र, कुलाचल एवं अनेक प्रकार के वन-उपवनों में विहार करता हुआ कैलाश पर्वत पर पहुँचा। वहाँ कारणवश सुलोचना से दूर चला गया। उसीसमय इन्द्र अपनी सभा में जयकुमार और सुलोचना के शील की महिमा का वर्णन कर रहा था, उसे सुनकर रविप्रभ नामक देव ने उनकी परीक्षा करने को कांचना नाम की देवी भेजी। वह बुद्धिमती देवी जयकुमार के पास आकर कहने लगी कि “इसी भरतक्षेत्र के विजयाब्द पर्वत की उत्तरश्रेणी में एक मनोहर नाम का देश है। मैं उस देश के राजा की राजकुमारी हूँ। मैंने जबसे आपको देखा, मैं आप पर मोहित हो गई हूँ, आज प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य हुआ है, अब मैं अपने काम के वेग को रोक नहीं पा रही हूँ।” इसप्रकार कहकर वह कामुक क्रीड़ायें करने लगी।

उसकी दुष्ट चेष्टायें देखकर जयकुमार ने कहा - “तू इस तरह पाप पूर्ण विचार को त्याग दे। तू मेरी बहिन के समान है। मैंने मुनिराज से व्रत लिया है कि मुझे परस्त्री का संसर्ग मात्र विषतुल्य है।”

उस कांचना नाम की देवी ने जयकुमार को डरा कर वश में करने की अनेक कुचेष्टाएँ कीं; किन्तु जब उन्हें अपने शील से डिगाने में सफल नहीं हुई और उनकी दृढ़ता से प्रभावित होकर वह वापस चली गई तथा अपने स्वामी रविप्रभ से जयकुमार के शील की महिमा कही। उस वृत्तान्त को सुनकर रविव्रत बहुत प्रभावित हुआ और उसने स्वयं आकर जयकुमार से क्षमा मांगी और उनकी रत्नों से पूजा की।

जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और शील की कसौटी पर भी जो खरे उतरे, उन जयकुमार और सुलोचना ने एक दिन ऋषभदेव तीर्थंकर के पास जाकर वन्दना की और धर्मविषयक प्रश्न पूछें तथा अपनी शंकाओं का समाधान पाकर के अत्यन्त प्रसन्न हुए।

कालान्तर में उसने अपनी शिवकर महादेवी के पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक करके सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति का त्याग करते हुए ऋषभदेव के चरणों में अपने अनेक पुत्रों सहित एवं अनेक भरतजी के पुत्रों के सहित दीक्षा ले ली और मुनिपुंगव जयकुमार आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँचकर तीर्थंकर ऋषभदेव के ७२ वें गणधर बनें। सुलोचना ने भी भरत चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा के समझाने पर ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली। जिसे आगामी पर्याय में मोक्ष प्राप्त होनेवाला है - ऐसी वह सुलोचना चिरकाल तक तप करके स्त्री पर्याय छेदकर अच्युत स्वर्ग के अनुत्तर विमान में देव हुई।



### भरतेश कुमारों द्वारा तत्त्वोपदेश एवं वैराग्य की प्रबल भावना

तत्त्वरसिक भरतेश कुमारों ने पंचास्तिकाय, छहद्रव्य, साततत्त्व, आठ कर्म एवं नव पदार्थों का वर्णन किया और कहा कि इन सबमें एक आत्मतत्त्व ही उपादेय है। इसप्रकार चेतनतत्त्व का बहुत विस्तार से वर्णन किया।

अपने उपदेश में उन्होंने कहा - “जिसप्रकार काष्ठ में दिखनेवाला काठिन्यगुण अग्नि का स्वरूप है, पत्थर पर रगड़ने से वह अग्नि उत्पन्न होती है, उसीप्रकार शरीर में जो चेतन स्वभाव है और ज्ञान है वही आत्मा का चिह्न है। जिसतरह काष्ठ को पत्थर पर रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है, उसीप्रकार जड़ शरीर से आत्मा रूप अग्नि भिन्न है, वह तत्त्वाभ्यास के संघर्ष से भिन्न पहचानी जाती है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के क्रम से तद्रूप ही आत्मा का अनुभव करे तो चिद्रूप का शीघ्र परिज्ञान होता है। यह आत्मा पानी से गल नहीं सकता, अग्नि में जल नहीं सकता, तलवार से कट नहीं सकता, वायु से उड़ नहीं सकता। आग, पानी, आयुध, शस्त्रादि शरीर को ही मात्र बाधा पहुँचा सकते हैं, आत्मा को नहीं। शरीर नाशशील है और आत्मा अविनश्वर है, शरीर जड़स्वरूप और आत्मा चेतनस्वरूप है। शरीर भूमि के समान है और आत्मा आकाश के समान है।

यह शरीर कारागृह के समान है, आयु बेड़ियों (हथकड़ी) के समान है। बुढ़ापा, जन्म, मरण आदि अनेक बाधाएँ हैं। अपने स्वरूप को न समझकर यह आत्मा व्यर्थ ही इस शरीर में कष्ट उठा रहा है। यह आत्मा तीन लोक के समस्त पदार्थों को जान-देख सकता है और स्वभाव से करोड़ सूर्य-चन्द्रमा के उज्वल प्रकाश के समान चेतन प्रकाश से युक्त है। आत्मा की ध्यानाग्नि से कठोर कर्म भी जलकर भस्म हो जाते हैं। इसप्रकार के आध्यात्मिक विवेचन को सुनकर वहाँ उपस्थित सभी कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुए।

भरतेश कुमारों ने आगे कहा कि “बाहर के विषय को जानना व्यवहार है और अंतरंग विषय को अर्थात् अपने आत्मा को जानना निश्चय है। आत्मा के पाँच इन्द्रियाँ नहीं हैं, वह सर्वांग से सुख का अनुभव करता है, पंचवर्ण उसे नहीं हैं। वह केवल उज्वल प्रकाशमय है। आत्मा के मन, वचन, शरीर, क्रोध-मान-माया-लोभ, जन्म-मरण, रोग-बुढ़ापा आदि कोई भी नहीं हैं। ये सब शरीर के विकार हैं। भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म भी आत्मा नहीं, बल्कि आत्मा के विकारी भाव और संयोग हैं।

आत्मतत्त्व को जाननेवाला आत्मा अन्तरात्मा है; अन्तरात्मा तीन तरह के हैं, उत्तम, मध्यम एवं जघन्य। इनके द्वारा जिस त्रिकाल शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह कारणपरमात्मा है। अरहन्त एवं सिद्ध भगवान् कार्य परमात्मा हैं। ‘आत्मा शुद्ध है’ यह कथन निश्चय नयात्मक है। ‘आत्मा कर्मबद्ध है’ - यह कथन व्यवहार नयात्मक है। आत्मा के स्वरूप का कथन करते हुए, सुनते हुए वह बद्ध है और ध्यान के समय वह शुद्ध है। आत्मा को शुद्धस्वरूप से जानकर उसका ध्यान करने पर वह आत्मा कर्मों से मुक्त होकर शुद्ध होता है। आत्मा को सिद्धस्वरूप में देखनेवाले स्वतःसिद्ध होते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

स्फटिक की प्रतिमा के दर्शन से उसमें प्रतिबिम्बित स्वयं को देखकर ऐसा अनुभव करें कि ‘मैं भी ऐसा ही हूँ’ - ऐसा समझते हुए अपने आत्मा का ध्यान करे तो कारण परमात्मा सर्वांग में दिखता है। जिससमय आत्मा का दर्शन होता है, उस समय कर्म झरने लगते हैं एवं आत्मा में अनंतगुणों का विकास होने लगता है।

धर्मध्यान व शुक्लध्यान में स्थूलरूप से तो मात्र इतना ही अन्तर है कि धर्मध्यान में आत्मा घड़े में रखे दूध के समान दिखता है और शुक्लध्यान में स्फटिक के बर्तन रखे दूध के समान निर्मल दिखता है। शुक्ल ध्यान में आत्मा अत्यंत निर्मल दिखता है। धर्मध्यान युवराज के समान है, जो पूर्ण स्वतंत्र नहीं है और शुक्ल-ध्यान अधिराज के समान पूर्ण स्वतंत्र होता है। धर्मध्यान आत्मा के तत्त्व के अभ्यास काल में होता है, उस अवस्था में आत्मा मुक्त नहीं हो पाता। शुक्लध्यान को प्राप्त होने पर वह स्वतंत्र होकर मुक्ति साम्राज्य का अधिपति बन जाता है।” इसप्रकार कुमारों ने आत्मधर्म का वर्णन किया।

भरतेश्वर कुमारों की आध्यात्मिक विद्या की सामर्थ्य को देखकर दर्शक एवं श्रोता आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने बाल्यकाल में ही अनेक लौकिक विद्याओं के साथ अर्हद्भक्ति, भेदभक्ति, अभेदभक्ति आदि के रहस्यों को समझ लिया था और आत्मतत्त्व का निरूपण कर बड़े-बड़े योगियों की बराबरी करते थे। ऐसे सुपुत्रों का जीवन धन्य है।

भरतेश्वर के पुत्र जब आत्मतत्त्व के विचारों में डुबकी लगा रहे थे, तभी उन्होंने एक नवीन समाचार सुना - “हस्तिनापुर के अधिपति और भरत के सेनापति जयकुमार ने सुलोचना जैसी महारानी और सम्पूर्ण राजपाट से मोह-ममत्व त्याग कर समवसरण में जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली है” तो वे स्तब्ध रह गये।

भरतेश्वर के पुत्रों को यह जिज्ञासा हुई कि राजा जयकुमार ने राज्यभार किसे सौंपा होगा? इस संबंध में उन्हें यह समाचार मिला कि जयकुमार ने विजय और जयन्त नामक भाइयों को सत्ता सौंपने का निश्चय किया था; किन्तु दोनों भाइयों ने यह कहकर राजसत्ता लेने से मना कर दिया कि “जिसे आप हेय जानकर छोड़ रहे हैं, उसे हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं। हम भी आपके साथ दीक्षित होना चाहते हैं। जो समझ तुमरी सोड़ समझ हमरी, फिर हम नृप पद क्यों गहें?”

राजा जयकुमार ने अपने पुत्र अनन्तवीर्य को राज्य प्रदान कर राज्याभिषेक किया और अपने दोनों सहोदरों के साथ जिनदीक्षा ले ली। यद्यपि अभी अनन्तवीर्य मात्र छह वर्ष का था, परन्तु वैराग्य परिणति जब उत्पन्न हो जाती है, तब फिर वे राज्यशासन को संभालने योग्य उम्र की प्रतीक्षा भी तो नहीं कर सकते थे। उन्हें अपने जीवन की क्षणभंगुरता का भी आभास हो गया था। वे सोचते हैं - “जब अपना जीवन ही समाप्त हो जावेगा तब भी तो यह राज्य व्यवस्था चलेगी ही। वस्तुतः तो हम इसके संचालक हैं ही नहीं। जैसे समस्त विश्वव्यवस्था स्वसंचालित है वैसे ही यह राज्य भी स्वसंचालित है, हम तो अपने मोह और अज्ञान से इसके कर्ता बन बैठे थे, आज महाभाग्य से यह वैराग्य भाव जाग्रत हुआ है, अतः इस अवसर को चूकना योग्य नहीं है?” बस यही सब सोच भरत के सेनापति राजा जयकुमार अपने सहोदरों के साथ दीक्षित हो गये। इस समाचार को सुनते ही उन सब भरत पुत्रों को आश्चर्य हुआ।

सबने आश्चर्य की मुद्रा में कहा - “धन्य हैं उनके विचार और धन्य है उनका जीवन।”

उन सबमें ज्येष्ठ कुमार रविकीर्तिराज ने कहा कि “बिलकुल ठीक है। बुद्धिमत्ता, विवेक व ज्ञान का फल तो मोक्षमार्ग में उद्यम करना ही है। आत्मा की साधना करना ही सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन है।

आत्मतत्त्व को पाने के लिए आत्मज्ञान की जरूरत है। परमात्मा का ज्ञान होने पर भी उस पर श्रद्धा की आवश्यकता है। मात्र श्रद्धा व ज्ञान के होने पर भी काम नहीं होता। श्रद्धा व ज्ञान के होने पर जो लोग संयम पालने के लिए अपने सर्वसंग का परित्याग करते हैं, वे धन्य हैं। जयकुमार को जितना धन्यवाद दिया जाय कम है। मेघेश्वर जयकुमार ने तो संसारसुख का खूब अनुभव कर लिया था। राज्यसुख को भी भोग लिया था। तत्पश्चात् इसे हेय समझकर त्याग किया; परन्तु उनके सहोदर विजय व जयंत आदि ने तो इस राज्यलक्ष्मी को मेघमाला समझकर बिना भोगे ही परित्याग किया है। एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अपनी यौवनावस्था व शक्ति को शरीर सुख के लिए न बिगाड़कर बहुत संतोष के साथ आत्मसुख के लिए प्रयत्न करनेवाले एवं इस शरीर को तपश्चर्या में उपयोग करनेवाले वे सचमुच धन्य हैं! वे सब चक्रवर्ती भरत के लिए भी वंद्य बन गये हैं, इसलिए वे धन्य हैं। आजतक वे हमारे पिताजी के आधीन होकर उनके चरणों में विनय से नमस्कार करते थे; परंतु आज हमारे पिताजी (भरतजी) भी सेनापति जयकुमार के चरणों में नमस्कार करते हैं। सचमुच में जिनदीक्षा का महत्त्व अवर्णनीय है। परब्रह्म स्वरूप को धारण करनेवाले योगियों को हमारे पिताजी नमस्कार करें तो इसमें बड़ी बात क्या है? जिसप्रकार भ्रमर सुगंधित पुष्पों पर झुक जाते हैं, उसीप्रकार योगियों के चरणों में तो तीनों लोक झुक जाते हैं।

ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि सेनापति जयकुमार भरतजी से भी पहले दीक्षित हो गये थे। इसकारण भरत पुत्रों को यह विचार आ रहा है कि जो सेनापति जयकुमार पिताश्री भरतजी को नमस्कार करते थे, आज वे ही भरतजी के वंदनीय बन गये।

“सुजय! सुकान्त! आप लोग अच्छी तरह सुनो! दीक्षा से बढ़कर दुनिया में दूसरा कोई काम नहीं है।

शुक्लध्यान के लिए जिनदीक्षा ही सहकारी है, शुक्लध्यान मुक्ति के लिए सहकारी है। जो शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों को नाश करने का पुरुषार्थ नहीं करते वे संसार में ही परिभ्रमण करनेवाले हैं।” इसप्रकार बहुत विस्तार के साथ भरतपुत्र रविकीर्तिराज ने जिनदीक्षा की महिमा की।

इस कथन को सुनकर वहाँ उपस्थित सर्व राजकुमार बहुत हर्ष व्यक्त करते हुए अपने मन में दीक्षा लेने का विचार करने लगे। उन्होंने विचार किया कि “जवानी उतरने के पहले, शरीर की सामर्थ्य घटने के पहले एवं स्त्री-पुत्र आदि की छाया पड़ने के पहले ही आत्महित में जाग्रत हो जाना चाहिए, स्वरूप में सजग हो जाना चाहिए। अब हम वयस्क हो गये हैं, अतः पिताजी हमारे विवाह आदि करेंगे। स्त्रियों के पाश में पड़ना ‘मक्खी का तेल के अंदर पड़ने के समान’ तड़फ-तड़फ कर जीवन-मरण से भी भयंकर है।

स्त्री के ग्रहण करने के बाद सुवर्ण को ग्रहण करना, सुवर्ण को ग्रहण करने के बाद जमीन-जायदाद को ग्रहण करना पड़ता है तथा स्त्री, सुवर्ण व जमीन को ग्रहण करनेवाले जंग चढ़े हुए लोहे के समान होते हैं। इसी कारण से मोह की वृद्धि होकर दीर्घ संसारी बनते हैं। तात्पर्य यह है कि कन्याग्रहण के बाद उसके लिए आवश्यक जेवर वगैरह बनवाने पड़ते हैं एवं अर्थसंचय करना पड़ता है। बाद में यह भावना होती है कि कुछ अचल संपत्ति का निर्माण करें। इसप्रकार मनुष्य संसार के बंधन में बंधता ही चला जाता है।

यद्यपि हम लोगों को कन्याओं से विवाह करने पर सुवर्ण, संपत्ति, राज्य आदि के लिए चिंता करने की जरूरत नहीं पड़ेगी; क्योंकि पिताजी के द्वारा अर्जित अटूट संपत्ति व विशाल राज्य मौजूद है, परन्तु उन सबसे आत्महित में बाधा तो होगी ही। यह सब अपने अधःपतन के कारण तो हैं ही। अतः शादी-विवाह भूलकर भी नहीं करना चाहिए। विपुल संपत्ति के होने पर उसका परित्याग करना बड़ी बात है। जवानी में दीक्षा लेना उससे भी बड़ी बात है एवं परमात्मतत्त्व को जानना जीवन का सार है। इन सबकी प्राप्ति होने पर हमसे बढ़कर श्रेष्ठ और कौन हो सकते हैं? कुल, बल, संपत्ति, सौन्दर्य इत्यादि के होते हुए, उन सबका परित्याग कर तपश्चर्या के लिए इस काया को अर्पण करें तो विशिष्ट फलदायक है। इससे बढ़कर दुनिया में कोई बड़ा काम नहीं है।

स्त्रियों के पाश में जबतक यह मन नहीं फंसता है तबतक उसमें एक विशिष्ट तेज रहता है। उस पाश में फंसने के बाद धीरे-धीरे यह मनुष्य जीवन दीपक की लौ में झुलसे पतंगे की भांति झुलस जाता है, नष्ट हो जाता है। हथिनी को देखकर जिसप्रकार हाथी फंसकर बड़े भारी खड्डे में पड़ता है एवं जीवनभर अपने जीवन की स्वतंत्रता को खो देता है, उसीप्रकार स्त्रियों के मोह में पड़कर भवसागर में फंसनेवाले अविवेकी आँखों के होने पर भी अंधे हैं। मछली जिसप्रकार जरा से मांसखंड के लोभ में फंसकर अपने प्राणों को खोती है उसीप्रकार स्त्रियों के सुखाभास के लोभ में फंसकर क्या अमूल्य मानव जीवन को खोना है ?

पहले तो स्त्रियों का संग ही भाररूप है। उसमें भी यदि संतान भरण-पोषण की जिम्मेदारी हो जाय तब तो कहना ही क्या है ?” - इसप्रकार वे कुमार विचार कर संसार के जंजाल से विरक्त हो गये।

सुख के लिए स्त्री और पुरुष भले ही छुपकर रतिक्रीड़ा करते हैं, परन्तु गर्भ रहने के पर तो वह बात छिपी नहीं रहती है। गर्भिणी का मुख म्लान हो जाता है, शर्म से माथा नीचा रहता है। प्रसववेदना से बढ़कर लोक में कोई दुःख नहीं है। जिस लौकिक सुख का फल ऐसा भयंकर दुःख है, उस सुख के लिए धिक्कार है। एक बूंद के समान सुख के लिए पर्वत के समाने दुःख को भोगने के लिए यह मनुष्य तैयार होता है, यह आश्चर्य है। यदि दुःख के कारणभूत इन पंचेन्द्रिय विषयों का परित्याग करें तो संसार सागर बूंद के समान रह जाता है, परन्तु अविवेकीजन इस बात का विचार नहीं करते हैं।

स्वर्ग की देव-देवांगनाओं के सुन्दर शरीर के संसर्ग से भी इस आत्मा को तृप्ति नहीं हुई तो फिर इस दुर्गन्धमय शरीर को धारण करनेवाले नर-नारियों को संभोग से क्या तृप्ति हो सकती है ? कुछ भी नहीं।

जिनको प्यास लगी है वे यदि नमकीन पानी को पीवें तो जिसप्रकार उनकी प्यास बढ़ती ही जाती है, उसीप्रकार अपने कामविकार की तृप्ति के लिए यदि नर-नारी परस्पर भोग भोगें तो वह विकार और भी बढ़ता जाता है, तृप्ति नहीं होती। जिसप्रकार अग्नि पानी से बुझती है और घी से बढ़ती है। उसीप्रकार कामाग्नि सच्चिदानंद आत्मारस से बुझती है और परस्पर के संसर्ग से बढ़ती है - यह नियम है। केवल कामाग्नि ही नहीं,



बल्कि पंचेन्द्रिय के नाम से प्रसिद्ध पंचाग्नि इष्ट पदार्थों के प्रदान करने पर बढ़ती है; परंतु उनसे उपेक्षित होकर आत्मा में मग्न होने पर वह पंचाग्नि अपने आप बुझती है।

स्नान, भोजन, गंध, पुष्प, आभूषण, नृत्य, गान आदि आत्मा को तृप्त नहीं कर सकते हैं। आत्मा की तृप्ति आत्मध्यान में ही हो सकती है; इसलिए अल्पसुख की अपेक्षा नहीं करना चाहिए। यदि संसार के मोह को छोड़कर ध्यान का अवलंबन करें तो वह ध्यान आगे जाकर अवश्य मुक्ति को प्रदान करेगा। इसलिए आज इधर-उधर के विचार छोड़कर दीक्षा को ग्रहण करना चाहिए। इस बात को सुनते ही सब लोगों ने हर्षपूर्वक समर्थन किया। उन्होंने कहा “हम सब कैलाशपर्वत पर चलें, वहाँ पर मेरु पर्वत के समान उन्नत रूप से विराजमान भगवान आदिप्रभु के चरणों में पहुँचकर दीक्षा लेवें।”

इस बात को सुनते ही सब कुमार आनंद से उठ खड़े हुए। उनमें से कोई कहने लगे कि “हम पिताश्री भरतजी के पास चलकर उनकी अनुमति लेकर दीक्षा लेने के लिए जायेंगे।” दूसरे कोई कहने लगे कि “यदि पिताजी के पास गये तो दीक्षा के लिए अनुमति ही नहीं मिल सकती, वे कभी हाँ कहेंगे ही नहीं।”

अन्य कोई कहने लगे कि “पिताजी को एकबार समझा-बुझाकर आ भी जायें, परन्तु माताओं की अनुमति पाना तो असंभव ही है, इसलिए उनके पास जाना उचित नहीं है। हम हमारी माताओं के पास जाकर कहें कि दीक्षा के लिए अनुमति दीजिए, तो क्या वे सीधी तरह से यह कहेंगी कि ‘बेटा! जाओ, तुमने बहुत अच्छा विचार किया है?’ कभी नहीं, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। उलटा वे हमारे गले लगकर रोयेंगी। फिर हमारा दीक्षा हेतु गृह छोड़कर जाना मुश्किल हो जायेगा। नारियाँ स्वभावतः भावुक तो होती ही हैं, फिर मातृ हृदय का तो कहना ही क्या है ?

देखो, इस संसार की विचित्रता ! पुत्र पिता हो जाता है। पिता उसी जन्म से अपने पुत्र का ही पुत्र बन सकता है। पुत्री माता हो जाती है। उसीप्रकार जनम से ही माता पुत्री की पुत्री बन जाती है। बड़ा भाई छोटा भाई बन जाता है। स्त्री पुरुष होती है, पुरुष स्त्री होता है। यह सब कर्म का विचित्र चरित है। शत्रु कभी मित्र

बन जाता है। मित्र कभी शत्रु बन जाता है। परिवर्तनशील इस संसार की स्थिति का क्या कहना? यहाँ पर सर्व व्यवस्था परिवर्तनशील है। इसलिए कौन किसका भरोसा करें।”

यह सब विचार करते हुए वे राजकुमार जिस समय वन में जा रहे थे तो मार्ग में अनेक नगरों की प्रजा पूछ रही थी कि “ये राजकुमार कहाँ पधार रहे हैं?” उत्तर में वे राजकुमार कहते हैं कि “हम कैलाशपर्वत पर आदिप्रभु के दर्शन करने के लिए जा रहे हैं।” पुनः वे पूछते हैं कि “आप लोग पैदल चलते हुए क्यों जा रहे हैं? वाहनादि को ग्रहण कीजिए।” उत्तर में वे कहते हैं कि “भगवंत का दर्शन जबतक नहीं होता है, तबतक हमारा पैदल चलने का ही नियम है। इसलिए वाहनादिक की जरूरत नहीं है।”

भरतेश्वर के सुकुमारों की चित्तवृत्ति को देखकर पाठकों को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। इतने अल्पवय में भी इतने उच्चविचार, संसारभीरुता, वैराग्यसंपन्नविवेक पुण्यपुरुषों को ही हो सकता है। काम, क्रोधादिक विकारों से उत्पन्न होने के लिए जो साधकतम अवस्था है, उस समय आत्मानुभव करने योग्य शांत विचारों का उत्पन्न होना बहुत ही कठिन है। ऐसे सुपुत्रों को पाने वाले भरतेश्वर धन्य हैं। यह तो उनके अनेक भवोपार्जित सातिशय पुण्य का ही फल है कि उन्होंने ऐसे विवेकी ज्ञानगुण संपन्न सुपुत्रों को पाया है, जिन्होंने बाल्यकाल में ही संसार की असारता का अच्छी तरह ज्ञान कर लिया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि भरतेश्वर सदा तद्रूप भावना करते थे। धन्य है उन राजकुमारों को, जिन्होंने पिता के पूर्व दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।



### आदीश्वर की दिव्यध्वनि सुनकर भरत के पुत्रों को वैराग्य एवं दीक्षा

समवसरण की भेरी के शब्द सुनते ही भरत के पुत्र आनन्द से नाचने लगे। समवसरण के दिखते ही हाथ जोड़कर भक्ति से मस्तक झुकाया और 'दृष्टं जिनेन्द्र भवनं भवतापहारी' आदि स्तुति बोलते हुए आगे बढ़े। वे सोचते हैं - "इस रजतगिरी के ऊपर नवरत्नगिरी की स्थापना किसने की होगी?"

अन्दर आठ परकोटों से वेष्टित धूलिसाल नामक परकोटा दिख रहा था। वहाँ चारों दरवाजों के अन्दर अत्यन्त उन्नत गगनस्पर्शी सुवर्ण से निर्मित चार मानस्तम्भ थे। उनमें से एक मानस्तम्भ को उन कुमारों ने देखा। समवसरण पर्वत को स्पर्श न करता हुआ एक हस्त प्रमाण ऊपर होता है, पर्वत पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचा होता है, जिस पर चढ़ने के लिए २० हजार सीढ़ियों की रचना होती है; परन्तु श्रोताओं को २० हजार सीढ़ियाँ चढ़ना नहीं पड़तीं। पहली सीढ़ी पर पैर रखते ही आधुनिक लिफ्ट की भांति अन्तर्मुहूर्त में ही एकदम अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं और वहाँ जिनेन्द्र का दर्शन करते हैं। यह वहाँ का एक अतिशय है। वैसे भी समवसरण की रचना इन्द्र द्वारा की जाती है, अतः कुछ भी असंभव नहीं है। फिर यह सुविधा तो विज्ञान ने मानवों को भी सुलभ करा दी है। दरवाजे पर द्वारपाल खड़े होते हैं। द्वारपालों की अनुमति पाकर सभी कुमार अन्दर प्रविष्ट हुए।

आगे जाते हुए प्रत्येक परकोटे के दरवाजे में स्थित द्वारपालों की अनुमति लेते हुए समवसरण भूमि पर आगे बढ़ रहे थे। आठ परकोटों के मध्य स्थित सात वेदिकाओं को पार कर आठवें परकोटे में प्रविष्ट हुए। इन राजकुमारों को भगवन्त की ओर आते हुए देवेन्द्र ने देखा। सभी भरत कुमारों का सांचे में ढले हुए के

समान सादृश्यरूप, सुवर्णवत् देह की कान्ति, बलिष्ठ देह, नई उम्र, आँखों की चमक, मोतियों जैसी दंतपंक्ति, शरीर की कान्ति आदि को देखकर उनके सौन्दर्य से देवेन्द्र एकदम आश्चर्यचकित हुआ।

भरत कुमारों ने समवसरण में तीर्थकर ऋषभदेव के प्रत्यक्ष दर्शन किए एवं रत्न के पुष्पों से पुष्पांजलि अर्पण कर साष्टांग नमस्कार किया, स्तुति की, तीन प्रदक्षिणा देकर वहाँ विराजित अन्य केवलियों की भी वंदना की और ग्यारहवें कोठे में बैठ गये।

उन कुमारों में से रविकीर्तिराज ने हाथ जोड़कर प्रभु से प्रार्थना की - “स्वामिन् ! हमें आत्मसिद्धि का उपाय बताइये।

समाधान हेतु मेघगर्जना की ध्वनि के समान जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि प्रसारित हुई, जिसतरह एक नदी का पानी विभिन्न वृक्षों में जाकर नानारूप से परिणत हो जाता है, उसीतरह दिव्यध्वनि द्वारा भी सभी श्रोताओं के मन में स्थित विभिन्न शंकाओं का समाधान हो जाता है। वह दिव्यध्वनि नर, सुर, नगेन्द्र एवं पशु-पक्षी आदि सभी की भाषाओं में परिणत होकर सभी के प्रश्नों के उत्तर दे देती है। कोई पास में हो या दूर हो, सबको स्पष्ट सुनाई देती है। आज विज्ञान के युग में दिव्यध्वनि का विभिन्न भाषाओं में रूपान्तरित होना भी असंभव और आश्चर्यजनक नहीं रहा।

रविकीर्तिराज के प्रश्न का उत्तर देते हुए तीर्थकरदेव ने दिव्यध्वनि द्वारा कहा - “हे भव्य! सुनो! लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह द्रव्य हैं। इन्हीं छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। यह विश्व अनादि-अनन्त एवं स्वाधीन रहकर स्व-संचालित है। इन छह द्रव्यों के आधार पर ही लोक की व्यवस्था है। यह लोक एक होने पर भी इसके तीन विभाग हैं। १. उर्ध्वलोक, भूमध्यलोक एवं ३. अधोलोक। नीचे अधोलोक में सात नरक हैं। वहाँ अत्यधिक दुःख हैं। उन भूमियों के ऊपर नाग लोक है। जहाँ असुरकुमार जाति के देवों का निवास है। नाग लोक के ऊपर मध्यलोक तक अधोलोक का विभाग है।

मध्यलोक में सुमेरु पर्वत को वलयावृत्ति से प्रदक्षिणा देते हुए अनेक द्वीप-समुद्र हैं। सुमेरु गिरि के ऊपर

अनेक स्वर्ग विभाग हैं। स्वर्गों के ऊपर मुक्तिस्थान (सिद्धशिला) है, सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई १४ राजू है। जिसमें अधोलोक ७ राजू, मध्यलोक १ राजू। सुमेरु से ऊपर कल्पवासी विमानों तक उर्द्धलोक ५ राजू और ऊपर सिद्धशिला १ राजू प्रमाण में विभाजित है।

प्रश्न - एक राजू का प्रमाण (माप) क्या है ?

उत्तर - एक समय में असंख्यात योजन जानेवाला देवविमान असंख्यात वर्ष तक रात-दिन जितना सतत् चले, उस प्रमाण एक राजू होता है। इस प्रमाणवाले लोक में छहद्रव्य ठसाठस भरे हैं।

प्रश्न - जीवादि छह द्रव्यों का सामान्य स्वरूप तो जाना; परन्तु इनके बारे में वीतरागतावर्द्धक कुछ विशेष बातें बताइये।

उत्तर - जो दस प्राणों के साथ जीवित था, जीवित है और जीवित रहेगा, उसे जीव कहते हैं अर्थात् जीव अनादि-अनन्त है, अमर है। न उसे किसी ने जीवित (उत्पन्न) किया है और न कोई इसे मार सकेगा - ऐसी श्रद्धा से मृत्युभय नहीं रहता। इन दस प्राणों में पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास हैं। अपने पाप-पुण्य के अनुसार ये पूर्ण या अपूर्ण प्राप्त होते हैं। एकेन्द्रिय के मात्र ४ प्राण होते हैं। एक - स्पर्शन इन्द्रिय, एक कायबल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास। दो इन्द्रिय जीव के - रसना इन्द्रिय और वचन बल बढ़कर छह प्राण हो जाते हैं, तीन इन्द्रिय जीव के घ्राण इन्द्रिय बढ़ जाने से सात प्राण होते हैं और चार इन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय बढ़ने से आठ प्राण होते हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पाँचों इन्द्रियाँ तो होती हैं; किन्तु मन नहीं होता, अतः नौ प्राण होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय को मन सहित होने से दसों प्राण होते हैं।

जबतक मन नहीं है, तबतक तो मात्र कर्मफल चेतना अर्थात् मात्र पूर्वोपाजित कर्मों के फल भोगने की ही मुख्यता होती है, अतः यहाँ तक तो धर्म का पुरुषार्थ करना संभव ही नहीं है। जिन्हें मन मिल भी गया और छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि के सुनने, समझे और श्रद्धा करने का सौभाग्य नहीं मिला तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में ही जीवन चला गया, ज्ञानचेतना की जाग्रति नहीं हुई तो वह भव भी मुफ्त में चला

गया। अतः जीवादि का स्वरूप समझ कर मनुष्यभव को सार्थक करना चाहिए। आत्मा का हित निराकुल सुख है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त होता है, परन्तु यह जीव अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूलकर मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भावों को करता है, अतः दुःखी होता है।

प्रश्न - तो क्या मोह-राग-द्वेष दुःख के कारण हैं, हमने तो ऐसा सुना है कि कर्म दुःख के कारण हैं?

उत्तर - नहीं भाई! जब यह आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर स्वयं मोह-राग-द्वेष रूप विकारी परिणमन करता है, तब आत्मा दुःखी होता है, उस दुःख में कर्मों का उदय निमित्त कहा जाता है। कर्म थोड़े ही आत्मा को दुःख देते हैं या बलात् विकार कराते हैं।

प्रश्न - यह तो ठीक है कि यह आत्मा अपनी भूल से स्वयं दुःखी है, ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण नहीं; परन्तु वह भूल है क्या ?

उत्तर - परपदार्थ तो इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं; परंतु यह जीव पूर्वोपार्जित राग-द्वेषरूप भावकर्म के कारण उन पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर पुनः नवीन मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन करता है, यही इसकी भूल है।

प्रश्न - ये भावकर्म क्या होते हैं ?

उत्तर - कर्म के उदय में जो यह जीव मोह-राग-द्वेष विकारी भाव रूप होता है, उन्हें ही भावकर्म कहते हैं और उन मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा (कर्मरज) कर्मरूप परिणमित होकर आत्मा से सम्बद्ध हो जाती है, उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। ये कर्म आठ प्रकार के होते हैं। इन आठ प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय तो घातिया कर्म कहलाते हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म कहलाते हैं।

प्रश्न - घातिया और अघातिया कर्म से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - जो कर्म जीव के अनुजीवी अर्थात् भावस्वरूपी गुणों को घात करने में निमित्त हों वे घातिकर्म हैं और जो कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं।

प्रश्न - ज्ञान पर आवरण डालनेवाले कर्म को ज्ञानावरण और दर्शन पर आवरण डालनेवाले कर्म को दर्शनावरण कहते होंगे ?

उत्तर - हाँ, सुनो ! जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है अर्थात् ज्ञानशक्ति को व्यक्त नहीं करता तब आत्मा के ज्ञानगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं और जब आत्मा स्वयं अपने दर्शन-गुण का घात करता है, तब दर्शन-गुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानावरण रूप से ज्ञानावरणी कर्म पाँच प्रकार का और चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनावरण तथा निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानगृद्धिक भेद से नौ प्रकार का होता है।

प्रश्न - और मोहनीय कर्म.....?

उत्तर - जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना माने या स्वरूपाचरण में असावधानी करे तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - १. दर्शन मोहनीय, २. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के ३ भेद हैं - १. मिथ्यात्व, २. सम्यक् मिथ्यात्व और ३. सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व। २५ कषायें चारित्र मोहनीय के भेद हैं।

प्रश्न - अब घातिया कर्मों में एक अन्तराय और रह गया, उसका क्या कार्य है ?

उत्तर - जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के विघ्न में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। यह इन्हीं नामों से पाँच प्रकार का होता है।

प्रश्न - अब कृपया अघातिया कर्मों के विषय में भी बताइए ?

उत्तर - हाँ! हाँ! सुनो! जब आत्मा स्वयं मोह भाव के द्वारा आकुलता करता है, तब अनुकूलता, प्रतिकूलता रूप संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह साता वेदनीय और असाता वेदनीय के भेद से दो प्रकार का होता है।

जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यच, मनुष्य या देव शरीर में रुकता है, तब उसके रुकने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे आयु कर्म कहते हैं। यह आयुकर्म नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु के भेद से चार प्रकार का है।

जिस शरीर में जीव हो उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते हैं। यह शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म के भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी प्रकृतियाँ ९३ हैं।

जीव को उच्च या नीच आचरण वाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह गोत्रकर्म भी उच्चगोत्र और नीचगोत्र - इसप्रकार दो भेदवाला है।

इन आठ मूल भेदों में भी १४८ प्रभेद हैं, जिन्हें कर्म प्रकृतियाँ कहते हैं। यह कर्मों की संक्षिप्त जानकारी है। विस्तार से भेद-प्रभेद समझने की रुचिवाले गोम्मटसार कर्मकाण्ड पढ़ें।

राग-द्वेष-मोह - ये तीन इन कर्मों के बन्धन के मूल हैं, इन्हें भावकर्म कहते हैं। इनके सिवाय यह शरीर नोकर्म है। द्रव्यकर्म खली के समान हैं, भावकर्म तेल के समान हैं और नोकर्म तेलयंत्र (कोल्हू) के समान हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न आकाश के समान है।

जिसप्रकार तेली के यहाँ यंत्र (कोल्हू), खली, तैल एवं आकाश - ये चार पदार्थ हैं, उसीप्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म और आत्मा का एक ही स्थान पर संयोग है। आत्मा इन तीनों में रहता है।

उपर्युक्त तीनों कर्मों में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श गुण हैं; परन्तु आत्मा में वर्णादि नहीं हैं। वह तो मात्र ज्ञान ज्योति से युक्त है। जीवद्रव्य निराकार है, ज्ञान-दर्शन उसके गुण हैं। कर्माधीन होकर यह जीव मनुष्य,



देव आदि चारों गतियों में गमन करता है, वे ही जीव की पर्यायें हैं। द्रव्यदृष्टि से जीव नामक पदार्थ एक होने पर भी पर्याय भेद से अनेक विकल्पों से विभक्त होता है।

यह मनुष्य मरकर, मृग होता है, मृग से देव होता है; देव वृक्ष हो जाता है। मनुष्य, मृग, देव एवं वृक्ष के भेद से जीव की चार पर्यायें हुईं; परन्तु सबमें भ्रमण करनेवाला जीव एक ही है। अणुमात्र देह को धारण करनेवाला जीव ही हजार योजन प्रमाण के शरीर को धारण कर लेता है - ऐसे छोटे-बड़े रूप में संकोच-विस्तार करने की क्षमता जीव में है।

यह सब कथन किसी एक जीव के लिए या जीवतत्त्व की अपेक्षा नहीं, बल्कि समस्त संसारी जीवों की अपेक्षा है। समस्त कर्मों से भेदविज्ञान करके जब जीव को देखते हैं तो वहाँ यह कोई झंझट नहीं है।

देखो, स्फटिक रत्न तो बिल्कुल शुभ्र है, उसके पीछे अन्य रंगों के रखने पर जिसप्रकार उसका रंग बदल जाता है, ठीक इसीप्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप तीन शरीरों के संबंध से आत्मा कल्मष (मैली) होकर संकटों में पड़ जाता है। यद्यपि यह आत्मा शरीर में रहता है; परन्तु इस आत्मा के कोई शरीर नहीं है। ज्ञान ही इसका शरीर है। आत्मा इन लौकिक शरीरों में रहकर भी उनसे अस्पृष्ट है, अछूता है।

मांस, रक्त, चर्ममय प्रदेश में रहकर भी जिसप्रकार गोदुग्ध रक्त-मांसमय नहीं है। साधु संतों के द्वारा भी सेवनीय है, उसीप्रकार मांस-अस्थि-चर्म आदि कर्मरूपी शरीर में रहकर भी आत्मा परम पावन है, शुद्ध है, निर्मल है। यह आत्मा कोटि सूर्य व चन्द्र के प्रकाश से भी अधिक चैतन्यप्रकाशमय है, जिसप्रकार कर्मों से आच्छादित रहकर भी अपने अस्तित्व का बोध स्वयं कर सकता है, दूसरों को कराने में निमित्त बन सकता है। जिसप्रकार बीज में वृक्ष छिपा है, उसीप्रकार इस सदेह बहिरात्मा में देहरहित परमात्मा विराजमान है, देह-देवालय में कारण परमात्मा विराजमान है। हे रविकीर्तिराज! कर्मों के नाश होने पर तो सभी कार्य परमात्मा बनते हैं।

प्रश्न - हे प्रभो! क्या ये पाँचों शरीर सभी जीवों के होते हैं ?

दिव्यध्वनि से उत्तर मिला - नहीं, नारकियों को एवं देवों को औदारिक और आहारक शरीर नहीं है, उनके वैक्रियक, तैजस व कार्माण ये तीन शरीर ही होते हैं। मनुष्य व तिर्यच के वैक्रियक और आहारक शरीर नहीं होता अतः इनके औदारिक, तैजस व कार्माण शरीर होते हैं।

उत्तम संहनन को धारण करनेवाले मुनियों को तत्त्व में संशय होने पर उनके मस्तक से एक हस्त प्रमाण शुभ सूक्ष्म शरीर का उदय होकर केवली या श्रुत केवली के समीप जाता है और उनका संशय निवृत्त होते ही वापिस आ जाता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। इसप्रकार आहारक, औदारिक, वैक्रियक, तैजस व कार्माण के भेद से शरीर के पाँच भेद हैं।

लोक में उपर्युक्त जीवद्रव्य सहित छहद्रव्य एकमेक से होकर सर्वत्र भरे हैं; परन्तु एक द्रव्य और उसका गुण दूसरे द्रव्य या गुणरूप नहीं हो सकता। सब अपने-अपने स्वरूप में पूर्ण स्वतंत्र हैं। जिसप्रकार दूध से भरे घड़े में मधु को भर दिया जाये तो वह भी उसी घड़े में समा जाती है, उसीप्रकार आकाश द्रव्य में सभी द्रव्य समा जाते हैं। भले ही एक-एक द्रव्य का विस्तार इतना है कि वह अकेला ही लोकपूर्ण हो जाता है, तथापि आकाश की अवगाहन शक्ति अपार है, असीमित है कि उसमें सभी द्रव्य समा जाते हैं।

भरतेश पुत्र सचमुच धन्य हैं, जिन्होंने समवसरण में पहुँच कर साक्षात् तीर्थकर का दर्शन किया। दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य पाया। वस्तुतः अनेक जन्मों से जिनमें जैनतत्त्व ज्ञान के संस्कार होते हैं, वे ही तीर्थकर के पादमूल में पहुँचते हैं। ऐसे पुत्रों के जनक भरतेश्वर भी धन्य हैं। उन सब भरतेश पुत्रों ने भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर वैराग्य से प्रेरित होकर वहीं दीक्षा ले ली और अपना आत्मकल्याण कर लिया।

भरतेश्वर सदा यह भावना भाते रहे कि हे परमात्मन! आप निरक्षर ज्ञान के धनी हैं, परमपवित्र, पाप क्षय के लिए सद्निमित्त हैं, इसलिए हे प्रभो! आप हमारे अन्तरंग में सदैव बने रहो।



### तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा मुक्ति का मार्ग एवं मोक्षकल्याणक

एक श्रोता ने भगवान ऋषभदेव से पूछा - “प्रभो ! मुक्ति का मार्ग क्या है ?”

उनके प्रश्न के उत्तर में भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि में आया - “पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्ततत्त्व एवं नव पदार्थों को भिन्न-भिन्न रूप से जानकर श्रद्धान करना एवं व्रतों का आचरण करना व्यवहार रत्नत्रय है तथा पर-पदार्थों की चिन्ता छोड़कर अपने आत्मा का ही श्रद्धान एवं उसी के स्वरूप का ज्ञान तथा मन को उसी में मग्न करना निश्चय रत्नत्रय है। ये रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है, अतः इसे स्थिर चित्त से समझना होगा।

यह चित्त हवा के समान चंचल है। ऐसे चंचल चित्त को स्थिर करने का उपाय तत्त्वविचार है। तत्त्वाभ्यास से परपदार्थों के विकल्प निरर्थक जानकर मन वहाँ से हटाकर आत्मा में लगने लगता है।”

श्रोता ने पुनः प्रश्न किया - “जब तत्त्वाभ्यास से ही मन आत्मा में लगने लगेगा तो फिर घोर तपश्चर्या करने का क्या प्रयोजन रहा? तप से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ?”

दिव्यध्वनि में उत्तर आया - “इच्छाओं का निरोध करना तप है। जब इच्छाओं का निरोध होगा, मन में कोई लौकिक भोगोपभोगों की इच्छा ही नहीं उठेगी तो मन आत्मा में अपने आप लगेगा। अपने मन को आत्मा में केन्द्रित करना - यही तपस्या का प्रयोजन है। यदि मन मरकट नियंत्रण में नहीं हुआ तो बाह्य तपस्या निरर्थक है। उससे मात्र लोगों की सहानुभूति एवं श्रद्धा तो मिल सकती है; परन्तु निराकुल सुखरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

मन के विकल्प और इन्द्रियों के विषय कषायों को उत्पन्न करते हैं, कषायों और योगों से आत्म प्रदेशों

में परिस्पन्दन होता है एवं आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन से कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। इसप्रकार तत्त्वाभ्यास न करना ही आस्रव-बंध के स्रोत हैं। अतः नियमित स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा के माध्यम से निरन्तर तत्त्वाभ्यास करें तभी आस्रव-बंध का अभाव होकर संवर-निर्जरा पूर्वक मोक्ष की सिद्धि होती है। यही एक मात्र मोक्ष का उपाय है या मोक्षमार्ग है।

**पुनः प्रश्न** - आत्मध्यान के बिना कर्मनिर्जरा नहीं हो सकती, यह बात पूर्ण सत्य है, पर वह ध्यान क्या है लल? कैसे होता है ? यह भी तो बतायें ?

**उत्तर** - हाँ, हाँ, सुनो! यदि आत्मा को जानना ही सद्ज्ञान है तो उस आत्मा को जानते रहना ही ध्यान है। अपने ज्ञान को या मन को पर और पर्यायों पर से हटाकर, पाँचों इन्द्रियों के विषयों, मनोविकारों और पर-पदार्थों पर से हटाकर शुद्ध आत्मा पर केन्द्रित करना ही ध्यान है।

जिसतरह चारों दिशाओं में एवं सम्पूर्ण विश्व में विकेन्द्रित सूर्य की किरणों को यदि लैंस (कांच) के द्वारा एक वस्तु पर केन्द्रित कर दिया जाये वे किरणें लोहे को भी पिघला सकती हैं। वर्तमान में सूर्य ऊर्जा का सदुपयोग रसोईघर और स्नानघर को भी प्रभावित करने लगा है। स्नानगृह का पानी सूर्य ऊर्जा से गर्म होता है और भोजन भी सूर्य ऊर्जा से पकता है। उन वैज्ञानिकों ने जिसतरह सूर्य ऊर्जा का सदुपयोग किया यदि उसीप्रकार हम अपने आत्मारूप सूर्य की विकेन्द्रित किरणों को आत्मा पर केन्द्रित कर दें तो ४८ मिनट में सम्पूर्ण कर्म कलंक जलकर भस्म हो जायेंगे और हमारा आत्मा कुन्दन की भांति केवलज्ञान की चमक उत्पन्न कर परमात्मा बन जायेगा, सिद्ध हो जायेगा।

अनेकप्रकार से तत्त्व चिन्तन करना स्वाध्याय है। एक ही विचार में मन को लगाना सामान्य ध्यान है और आत्मा में मन को स्थिर करना निश्चय से धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान में आंशिक रूप से अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति होती है, सिद्धों जैसे निराकुल सुख का अनुभव होता है।

जैसे-जैसे ध्यान का अभ्यास बढ़ता है, चैतन्य प्रकाश भी बढ़ता रहता है। यह निश्चय धर्मध्यान ही शुक्लध्यान का बीज है।

यद्यपि ज्ञानी-ध्यानी जीव अपने निराकुल सुख को व्यक्त नहीं कर सकते, पर वे गूंगे के द्वारा लिये गये मिश्री के स्वाद की भांति स्वयं उस सुख का अनुभव बराबर करते हैं। उस सुख के सामने उन्हें जगत के समस्त सुख फीके लगने लगते हैं। कहा भी है -

जब निज आतम अनुभव आवे, तब और कुछ न सुहावे।  
रस नीरस हो जात ततच्छिन, अच्छ विषय नहीं भावै ॥१॥जब ॥  
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटे, पुद्गल प्रीति नसावे ॥२॥जब ॥  
राग दोष जुग चपल पक्ष जुत, मन पक्षी मर जावै ॥३॥जब ॥  
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै ॥४॥जब ॥  
'भागचन्द' ऐसे अनुभवके, हाथ जोरि सिर नावै ॥५॥

जब निज आतम अनुभव आवे ॥

यदि संभव हुआ तो धर्मध्यानी भव्यों के हित के लिए उपदेश तो देता है, किन्तु भव्यों ने उसके उपदेश को उत्साह से सुना या नहीं सुना, इस बात से वह हर्ष-विषाद नहीं करता।

धर्मध्यानी व्यक्ति जो स्वतः अनुभव करता है, उसे कभी उपदेश द्वारा, कभी कृति के रूप में जिज्ञासु जगत के सामने प्रस्तुत करता है। इसप्रकार कोई-कोई आत्मकल्याण के साथ सहजभाव से लोकोपकार भी करते हैं, परन्तु किसी झगड़े-झंझट में नहीं उलझते। धर्मध्यान के बल से अपने कर्मों का संवर और निर्जरा करते हुए आगे बढ़ते हैं।

हवा में रखे दीपक की हिलती हुई लौ (ज्योति) की भांति चंचल मन जिसमें आत्मदर्शन होता है, वह धर्मध्यान है और कांच की पेट्टी में बन्द हवारहित निश्चय दीपक ज्योति के समान निष्कम्प मन में जो आत्मदर्शन होता है वह शुक्लध्यान है।

चन्द्रकला जिसप्रकार क्रम से धीरे-धीरे बढ़ती जाती है, उसीप्रकार धर्मध्यान में धीरे-धीरे आत्मानुभव बढ़ता है तथा प्रातःकालीन सूर्यबिम्ब का तेजपुंज जिसप्रकार मध्याह्न में अपने प्रताप को लोक में व्यक्त करता है, उसीप्रकार शुक्लध्यान इस आत्मा को प्रकाशित करता है।

प्रश्न - “क्या दोनों ध्यानों में कुछ अन्तर है ?”

उत्तर - “हाँ, दोनों ध्यानों का अन्तर है - धर्मध्यान धीमी क्रान्ति है और शुक्लध्यान महाक्रान्ति है; पर दोनों का लक्ष्य या केन्द्रबिन्दु एक आत्मा ही है। वस्तुतः धर्म ध्यान यदि मुक्ति महल की प्रथम सीढ़ी है तो शुक्लध्यान अन्तिम। धर्मध्यान ज्ञानी (समकिती) गृहस्थ को भी होता है, परन्तु शुक्लध्यान मात्र मुनिराजों की भूमिका में ही होता है। धर्मध्यान कलिकाल के अन्त तक हो सकता है, पर शुक्लध्यान इस कलिकाल के पंचमकाल में इस भरतक्षेत्र में नहीं होगा। धर्मध्यान में विकल (अपूर्ण) निर्जरा होती है और शुक्लध्यान में सकल (पूर्ण) निर्जरा होती है। धर्मध्यान का फल स्वर्ग है और शुक्लध्यान का फल साक्षात् मोक्ष है। व्यवहार धर्मध्यान शुभभावरूप है और शुक्लध्यान वीतराग भावस्वरूप है।

जो व्यवहार धर्मध्यान करते हैं, उनको स्वर्ग सम्पत्ति तो नियम से मिलेगी ही, कालान्तर में आत्मध्यानरूप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सीढ़ी पर पहुँचकर मुक्ति भी प्राप्त होगी।

अन्दर के कषाय भावों का त्याग न कर बाहर सब कुछ त्यागें तो कोई लाभ नहीं। जैसे सर्प कांचली के छोड़ देने से विषरहित नहीं होता।”

अर्ककीर्तिराज ने प्रश्न किया - “भगवन् अभी आपने कहा कि जबतक आत्मा को आत्मा का (स्वयं का) दर्शन नहीं होता तबतक मुक्ति नहीं होती। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। जो सदाकाल आपकी भक्ति में ही अपना पूरा समय व्यतीत करते हैं, उन्हें मुक्ति क्यों नहीं होगी ?

भगवान की दिव्यध्वनि में आया “वस्तुस्वरूप के निरूपण को सुनकर उसके अनुसार चलना ही वस्तुतः

जिनेन्द्र भक्ति है। अपनी इच्छानुसार मनमाने ढंग से उछलना-कूदना, नाचना-गाना, संगीत में रस लेना जिनेन्द्र भक्ति नहीं है।”

पुनः प्रश्न - “स्वामिन् स्वेच्छाचारी भक्ति, भक्ति क्यों नहीं है ? उसमें भी तो आपके ही गीत गाये जाते हैं।”

उत्तर - “हे अर्ककीर्ति ! तुम जो आत्मध्यान करते हो, वही हमारी यथार्थ भक्ति है। युक्ति को जानकर जो भक्ति करते हैं, वे मुक्ति को नियम से प्राप्त करते हैं। इसलिए भक्ति के रहस्य को जानकर भक्ति करना चाहिए। वस्तुतः ‘गुणेषु अनुरागः भक्तिः’ इस सूत्र के अनुसार जिनेन्द्र के वीतरागता-सर्वज्ञता आदि गुणों की पहचानपूर्वक जिनेन्द्र के प्रति हृदय में स्नेह उमड़ना भक्तिभावना है। जब वह भक्ति की भावना हृदय में न समाये तो वाणी में फूट पड़े, इसमें दोष नहीं है; किन्तु गुणों को जाने-पहचाने ही नहीं, केवल देखादेखी कर्णोन्द्रिय के विषय के वशीभूत हो राग अलापता रहे - वह कोई भक्ति नहीं है।”

अर्ककीर्ति ने निवेदन किया - “प्रभो! युक्ति सहित भक्ति और युक्ति रहित भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करें, ताकि हम युक्ति सहित सच्ची भक्ति में प्रवृत्त हो सकें।”

दिव्यध्वनि में आया - “वह भक्ति दो प्रकार की है - भेदभक्ति और अभेदभक्ति। इन दोनों भक्तियों के रहस्य को नीचे लिखे अनुसार जानकर भक्ति करें तो वह युक्ति सहित भक्ति है और ऐसी भक्ति से मुक्ति होती है।

**भेदभक्ति का स्वरूप** - अरहंत व सिद्धों के गुणों की महिमा में मन मयूर नाचने लगना, अष्टद्रव्य से भक्तिभाव पूर्वक वचनोच्चारण के साथ स्तुति-पूजा करना नृत्य-गान के साथ उत्साह प्रगट करना भेदभक्ति है।

**अभेदभक्ति का स्वरूप** - समवसरण में अरहंत रहते हैं और लोकान्त में सिद्ध रहते हैं; अरहंतों-सिद्धों का स्वरूप जानकर अपनी आत्मा में अरहंत व सिद्धों को स्थापित कर भावपूजा करना तथा अपने आत्मा को उस जैसा ही अनुभव करना, उन जैसी वीतरागता, सर्वज्ञता, अपने आत्मा में प्रगट होने की भावना भाना युक्तिसहित अभेदभक्ति है।

तात्पर्य यह है कि अपने में ही पंचपरमेष्ठी को देखना – दोनों में भेद न करना, भक्त और भगवान में भेद दिखाई न देना दोनों में समानता का अनुभव अभेद भक्ति है। और दोनों में भेद का अनुभव करना उनकी मूर्ति बनाकर पूजना स्वयं को भक्त और उन्हें भगवान के रूप में देखना, स्वयं को दीन और उन्हें दीनानाथ के रूप में देखना भेदभक्ति है।

भक्तियों में सर्वश्रेष्ठ अभेदभक्ति है। यही युक्ति (पूर्ण विवेक) सहित भक्ति है, इस भक्ति में भावुकता को स्थान नहीं है।

भगवान ऋषभदेव के समवसरण में ८४ गणधर, २० हजार केवलज्ञानी, ४ हजार ७ सौ ५० श्रुतकेवली थे, ४ हजार १५० उपाध्याय, ९ हजार अवधिज्ञानी मुनिवर, १२ हजार ७ सौ ५० मनःपर्ययज्ञान के धारी मुनि विराजमान थे, २० हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिधारी तथा १२ हजार ७ सौ ५० वादि मुनि थे। कुल मुनियों एवं गणधरों की संख्या ८४ हजार ८४ थी।

ब्राह्मी आदि ३ लाख ५० हजार आर्यिका माताएँ थीं, ३ लाख श्रावक, ५ लाख श्राविकाएँ थीं। अगणित पशु-पक्षी भी भगवान की वाणी का श्रवण कर रहे थे।

इसप्रकार तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के द्वारा एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक इस भारत भूमि पर विहार करके धर्म का प्रचार-प्रसार होता रहा।

जब उनके मोक्ष गमन में १४ दिन शेष रहे, तब पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन कैलाश पर्वत पर योग निरोध प्रारंभ हुआ, दिव्यध्वनि रुक गई, समवसरण विघट गया। ठीक उसी दिन अयोध्या नगरी में महाराजा भरत ने स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत ऊँचा उठकर सिद्धालय तक पहुँच रहा है। युवराज अर्ककीर्ति ने ऐसा स्वप्न देखा कि महा औषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्म-मरण रोग को मिटाकर उर्द्धगमन कर रहा है। इसीप्रकार गृहपति, सेनापति आदि ने भी भगवान ऋषभदेव के मोक्षगमन सूचक स्वप्न देखे। स्वप्न में गृहपति ने देखा



कि कल्पवृक्ष अभी फल नहीं दे रहे, सेनापति ने देखा कि सिंह वज्र के पिंजड़े को तोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने को तैयार है। इसीप्रकार तीर्थंकर ऋषभदेव के निर्वाण होने का समय समीप है, इस बात के सूचक स्वप्न देखें।

स्वप्नों के फल में पुरोहित ने कहा - “भगवान ने अपनी दिव्यध्वनि का संकोच कर लिया है।”

उसी प्रातःकाल ‘आनंद’ नामक दूत समाचार लाया कि प्रभु ऋषभदेव के मोक्षगमन का समय निकट आ गया है, वे स्वरूपानंद में मग्न हैं, दिव्यध्वनि बन्द है, तुरन्त ही समस्त परिवारजनों के साथ भरत चक्रवर्ती भगवान के समीप कैलाश पर्वत पर पहुँचे और १४ दिन की महामह नामक पूजा प्रारंभ की।

**मोक्षकल्याणक** - माघकृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के समय भगवान ऋषभदेव पूर्व दिशा में मुख करके अनेक मुनियों सहित पर्यकासन विराजमान हुए। सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यान द्वारा मन-वचन-काय - तीनों योगों का निरोध करके अयोगी हो गये। अन्तिम चतुर्दशवें गुणस्थान में पाँच लघुस्वर के उच्चारण जितने समय में चौथे व्युपरत क्रियानिवर्तिनी नामक शुक्ल ध्यान द्वारा शेष चार अघातिया कर्मों का क्षय करके कैलाशगिरि से मुक्त हो गये, उन्होंने अशरीरी सिद्धपद प्राप्त कर लिया।

मुक्त होने का अर्थ है दुःखों से, विकारों से, कर्मबन्धनों से मुक्त होना। इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष आत्मा की अनन्त आनन्दमयदशा, अतीन्द्रिय सुख एवं अतीन्द्रिय ज्ञानमयदशा है। भव्य जीवों का यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है। सम्पूर्ण धर्म आराधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है। भगवान ऋषभदेव ने पुरुषार्थ का अन्तिम फल प्राप्त कर लिया। चार पुरुषार्थों में अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थ ही है। उसे प्राप्त कर लेने पर उनकी सम्पूर्ण साधना सफल हो गई।

इन्द्रों के साथ चक्रवर्ती भरत ने भगवान के मोक्षकल्याणक का महोत्सव मनाया।

भले निर्वाण कल्याणक महोत्सव ही क्यों न हो; परन्तु धर्मानुरागी जीवों को तो वियोगजनित दुःख होता

ही है। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के मुक्त होने पर धर्मात्माओं को शोक होना स्वाभाविक था, क्योंकि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जिन्हें अभी तक दिव्यध्वनि द्वारा दिव्यसंदेश मिल रहा था, वह तो बन्द हुआ ही, अब तो दर्शन भी नहीं होंगे – यह सोच-सोच कर भरतजी एवं धर्मानुरागी जीव भी दुःखी हुए। इष्ट-वियोग से उत्पन्न हुई और धर्मस्नेह से शोकरूपी अग्नि प्रज्वलित हुई।

भगवान ऋषभदेव के परिजनों एवं समस्त प्रजाजनों का दुःख देखकर उन सबको इस संसारचक्र की यथार्थता का बोध कराने के लिए गणधर वृषभसेन भरतेश को कहते हैं कि “किस प्रकार यह जीव स्नेहवश अनेक भवों में साथ-साथ रहते हुए जन्म-मरण करता है। जैसे कि इस भव के भगवान ऋषभदेव का जीव अपने इस भव के पुत्रों व मित्रों के साथ अपने पिछले पूर्व भवों में किसप्रकार विचरण करता रहा। मैं उनके एवं इस भव के कुछ पुत्रों एवं मित्रों के पूर्वभव बताता हूँ।

१. इस भव के भगवान ऋषभदेव का जीव दसवें पूर्वभव में जयवर्मा था। नवें पूर्वभव में राजा महाबल, आठवें पूर्वभव में ललितांग देव, सातवें पूर्वभव में राजा वज्रजंघ, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य, पाँचवें पूर्वभव में श्रीधरदेव, चौथे पूर्वभव में राजा सुविध, तीसरे पूर्वभव में अच्युतेन्द्र, दूसरे पूर्वभव में चक्रवर्ती वज्रनाभि, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुए और वहाँ से आकर यहाँ भगवान ऋषभदेव हुए।

२. इस भव के राजा श्रेयांस का जीव दसवें पूर्वभव में धनश्री की स्त्री पर्याय में थी, नवें पूर्वभव में निर्नामिका स्त्री थी, आठवें पूर्वभव में स्वयंप्रभा नाम की देवी थी, सातवें पूर्वभव में श्रीमती नाम की रानी थी, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्या थी। पाँचवें पूर्वभव में स्वयंप्रभदेव, चौथे पूर्वभव में केशव, तीसरे पूर्वभव में प्रतीन्द्र, दूसरे पूर्वभव में धनदत्त, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुए और वहाँ से आकर यहाँ राजा श्रेयांस होकर गणधर हुआ।

३. इस भव के तुम (भरत चक्री) का जीव आठवें पूर्वभव में राजा अतिगृद्ध, सातवें पूर्वभव में चौथे पङ्कप्रभा नरक का नारकी, छठवें पूर्वभव में शार्दूल (सिंह), पाँचवें पूर्वभव में दिवाकर देव, चौथे पूर्वभव

में मतिवर मंत्री, तीसरे पूर्वभव में अहमिन्द्र, दूसरे पूर्वभव में सुबाहू, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र और वहाँ से आकर यहाँ भरत हुए।

४. इस भव के बाहुबली का जीव सातवें पूर्वभव में राजा प्रीतिवर्धन का अपराजित सेनापति हुआ, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य हुआ, पाँचवें पूर्वभव में प्रभंकर देव, चौथे पूर्वभव में राजा वज्रजंघ का सेनापति अकंपन हुआ, तीसरे पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ, दूसरे पूर्वभव में महाबाहु हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से आकर बाहुबली हुआ।

५. मैं अर्थात् वृषभसेन का जीव सात भव पूर्व में प्रीतिवर्धन राजा का मंत्री था, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य हुआ, पाँचवें पूर्वभव में कनकप्रभ देव हुआ, चौथे पूर्वभव में राजा वज्रजंघ का पुरोहित आनन्द हुआ, तीसरे पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ, दूसरे पूर्वभव में पीठ हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से आकर यहाँ तुम्हारा भाई होकर गणधर हुआ।

६. इस भव के तुम्हारे भाई अनन्तविजय का जीव भी सात भव पूर्व में प्रीतिवर्धन राजा का पुरोहित था, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य था, पाँचवें पूर्वभव में प्रभंजन देव हुआ, चौथे पूर्वभव में नगरसेठ धनमित्र हुआ, तीसरे पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ, दूसरे पूर्वभव में महापीठ हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से आकर तुम्हारा भाई अनन्तविजय गणधर हुआ।

७. इस भव के तुम्हारे छोटे भाई महासेन का जीव भी आठवें पूर्वभव में उग्रसेन नाम का क्रोधी वैश्य था, सातवें पूर्वभव में सिंह हुआ, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य हुआ, पाँचवें पूर्वभव में चित्रांगद देव हुआ, चौथे पूर्वभव में राजा वरदत्त हुआ, तीसरे पूर्वभव में अच्युतेन्द्र हुआ, दूसरे पूर्वभव में विजय हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से आकर यहाँ महासेन हुआ।

८. तुम्हारे छोटे भाई श्रीषेण का जीव भी आठवें पूर्वभव में हरिवाहन नाम का मानी राजा था, सातवें पूर्वभव में शूकर हुआ, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य हुआ, पाँचवें पूर्वभव में मणिकुण्डल नामक देव

हुआ, चौथे पूर्वभव में राजा वरसेन हुआ, तीसरे पूर्वभव में अच्युतेन्द्र हुआ दूसरे पूर्वभव में वैजयन्त हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से आकर यहाँ श्रीषेण हुआ।

९. यह गुणसेन गणधर का जीव आठवें पूर्वभव में मायावी सेठ नागदत्त था, सातवें पूर्वभव में बन्दर हुआ, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य हुआ, पाँचवें पूर्वभव में मनोहर देव हुआ, चौथे पूर्वभव में राजा चित्रागंद हुआ, तीसरे पूर्वभव में अच्युतेन्द्र हुआ, दूसरे पूर्वभव में जयन्त हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से आकर यहाँ गुणसेन गणधर हुए।

१०. अब जयसेन के भी भव सुनो। अबसे आठवें पूर्वभव में यह लोलुप नाम का लोभी हलवाई था, सातवें पूर्वभव में नेवला हुआ, छठवें पूर्वभव में भोगभूमि में आर्य हुआ, पाँचवें पूर्वभव में मनोहर देव हुआ, चौथे पूर्वभव में राजा प्रशन्तदमन हुआ, तीसरे पूर्वभव में अच्युतेन्द्र हुआ, दूसरे पूर्वभव में अपराजित हुआ, पहले पूर्वभव में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से यहाँ आकर जयसेन हुआ है।

इसप्रकार प्रभु ऋषभदेव जब सातवें पूर्वभव में राजा वज्रजंघ थे, तब उस समय जो उनकी रानी श्रीमती थी, इससमय श्रेयांस हैं, उनका मंत्री मतिवर जो अब तुम (भरत) हो, सेनापति अपराजित इस समय बाहुबली है, पुरोहित आनन्द इस समय मैं (वृषभसेन) हूँ, नगरसेठ धनमित्र इस समय अनन्तविजय है। राजा वज्रजंघ के द्वारा आहार दान की अनुमोदना करनेवाले सिंह का जीव इस समय महासेन है, शूकर का जीव श्रीषेण है, बन्दर का जीव इस समय गणधर गुणसेन है, नेवला (नकुल) का जीव इस समय जयसेन है। ये सभी जीव इसी भव में सिद्धत्व प्राप्त करेंगे।”

इसप्रकार गणधर वृषभसेन से भगवान ऋषभदेव, अपने एवं भगवान के साथ कई भवों के साथ रहे, जीवों के भव सुनकर भरतेश और सभी प्रजाजन समता को प्राप्त हुए और अयोध्या लौट गये।

संसारी जीवों की यही अनादि परम्परा की रीति है। इसीलिए आचार्यों द्वारा बारह भावनाओं के स्वरूप का कथन कराकर इस राग को तोड़ने का उपदेश दिया जाता है।

यह जीव जहाँ जाता है, वहीं के परिजनों से रागात्मक संबंध हो जाते हैं। माता-पिता, भाई-बहिनों, स्त्री-पुत्र आदि जितने भी रिश्तेदार होते हैं, सभी से स्नेह हो जाता है, फिर उनके वियोग में यह इष्ट वियोगजनित आर्तध्यान करता है। ध्यान रहे, यद्यपि तीर्थंकर के विरह का ध्यान शुभ आर्तध्यान है, अतः पुण्यबंध का कारण है, पर है तो बन्धन ही न ? यह आर्तध्यान है तो संसार का ही कारण। अतः वस्तु-स्वभाव को जानकर यह आर्तध्यान छोड़ो।

इसतरह हम देखते हैं कि मोक्षगामी पुरुष भी अपनी पूर्व पर्यायों में पुण्य-पाप के फलों में नाना योनियों में आकर जन्में। जब उनकी काललब्धि आई, भली होनहार आने का समय आया तो तदनुसार बुद्धि, व्यवसाय और सहायक भी वैसे ही मिलते गये और एक दिन वह आया कि अपने-अपने समय में सबको निर्वाण की प्राप्ति हो गई।

जो ऐसे महानुभाव एवं शलाका पुरुषों के चरित्रों का पठन-पाठन करेंगे, उनके आदर्श जीवन एवं उपादेय संदेशों को श्रद्धापूर्वक आचरण में लेंगे, वे भी उन्हीं की भाँति अल्पकाल में सद्गति को प्राप्त करेंगे। मुक्ति कन्या उनके कंठ में माला पहना कर उनका वरण करेगी।



### भरतजी का वैराग्य एवं प्रजा को संदेश

भरतेश की कीर्ति छह खण्डों में फैल गई। उनकी आयु ८४ लाख पूर्व की थी। 'चिन्ता ही बुढ़ापा है और संतोष ही यौवन है' इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए वे सदैव ही युवा रहे, तत्त्वज्ञान होने से चिन्ता तो उन्हें छू भी नहीं सकती थी। वे चक्रवर्ती पद से प्राप्त भोगों के बीच रहते हुए भी एवं छह खण्ड के राज्यशासन का उत्तरदायित्व वहन करते हुए भी सदा संतुष्ट और निश्चिन्त रहते थे।

एक दिन की बात है। भरतेश ३२ हजार मुकुटबद्ध राजाओं के राजदरबार में सिंहासन पर विराजे थे। उस समय एक घटना घटी 'दर्पण में उन्होंने अपना मुख मण्डल देखा, उन्हें अपने मुख का प्रतिबिम्ब कुछ उदास-सा मुरझाया हुआ लगा। उनको कपोल पर एक झुरकी और कान के समीप एक बाल सफेद दिखाई दिया, मानो वे बुढ़ापे का संकेत लेकर ही आये हों। उन्हें देख भरतजी को विचार आया कि संभवतः यह बुढ़ापे का संकेत और मुक्ति सुन्दरी का संदेश है। उन्होंने अवधिज्ञान जोड़ा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि "आयुकर्म के निषेक बहुत कम रह गये हैं।" अतः उन्होंने उसीसमय संसार से मोह का त्याग कर आत्मस्थ हो गये, वैराग्यमय विचारों में डूब गये।

उन्होंने सोचा - "कितने दुःख का विषय है कि मैंने अबतक ध्यानामृत का पान न कर आत्मानंद का रसपान नहीं किया। देखो, मेरे सहोदर तो अल्पवय में ही दीक्षा लेकर चले गये, मैंने ही देर की। सहोदर ही क्या मेरे पुत्रों ने भी मुनिदीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त कर ली। मेरे पिताजी, श्वसुर, मामा, साले आदि सभी आप्त पुरुष आगे बढ़ गये। मैं अकेला पीछे कैसे रह गया ? लगता है मेरी होनहार ही ऐसी थी। अस्तु; जो हुआ सो हुआ। अब मुझे शीघ्र इन सब विकल्पों से मुक्त होकर स्वरूपगुप्त हो जाना चाहिए।"

उन्होंने अपने बड़े पुत्र अर्ककीर्ति को उत्तराधिकार सौंपने हेतु बुलाया, पर वह राजी नहीं हुआ, उसने भी साथ ही दीक्षा लेने की भावना प्रगट की, उससे छोटे पुत्र आदिकुमार से कहा तो वह भी कंटकाकीर्ण राज्यसत्ता से निर्मोही हो, निष्कंटक मुक्ति साम्राज्य प्राप्त करने की इच्छा प्रगट करने लगा।

अन्ततः भरतजी ने बलात् अर्ककीर्ति के माथे पर अपना राज्यशासन का मुकुट उतार कर रख दिया और सिंहासन से उठकर वन की ओर जाने को अग्रसर हो गये। उनके साथ उनकी अनेक रानियाँ तथा अनेक मुकुटबद्ध राजा भी दीक्षा लेने को तत्पर हो गये।

तत्पश्चात् महाराज भरत साम्राज्य पद को छोड़ते हुए दीक्षा लेने के लिए जब अग्रसर हुए, तब लौकान्तिक देवों ने उनके वैराग्य की अनुमोदना की, जब राजभवन से निकलते हैं तो मुख्य-मुख्य राजा लोग उन्हें पालकी में बैठा कर पालकी को अपने कन्धों पर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं, इसीसमय भक्ति से भरे हुए देवगण उन्हें अपने कन्धों पर उठा लेते हैं। जिसे साम्राज्य प्राप्त हुआ - ऐसे कुमार अर्ककीर्ति को आगे करके बड़े प्रेम से समस्त राजा लोग वैरागी भरत के समीप खड़े होते हैं। जिनका उनके समीप रहना छूट गया है - ऐसी निधियों और चौदह रत्नों के समूह संसार से विरक्त भरतजी के पीछे-पीछे आते हैं और सभी मिलकर महाराजा भरत जो अब मुनिराज भरतजी बन गये हैं, उनका यथायोग्य दीक्षाकल्याणक का महोत्सव मनाते हैं।

भरतेश का आत्मबल अचिन्त्य है, उनका देहबल भी अतुल है। जीवन के अन्तसमय तक सातिशय भोगों को भोगकर समय पर आत्महित में प्रवृत्त होना उन जैसे महापुरुष का ही काम है। यह साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है” - ऐसा कहते हुए नगर के नर-नारी उनकी स्तुति कर रहे थे।

भरतेश की दीक्षा - भरतेश शिलातल पर पद्मासन से बैठकर दीक्षा के लिए सन्नद्ध हुए। उनका निश्चय था कि मेरा कोई गुरु नहीं, मैं ही मेरा गुरु हूँ, इसप्रकार के विचार के साथ वे स्वयं दीक्षित हो गये और निश्चल आसन से बैठकर आत्मनिरीक्षण करने लगे।

वे मुनिराज भरत जब बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर पूर्ण निष्परिग्रह अवस्था को प्राप्त होकर सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प तपोयोग को धारण करते हैं, तब क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर शुक्लध्यान रूपी अग्नि से घातिया कर्मरूपी सघन वन को जला कर केवलज्ञान नामक उत्कृष्ट ज्ञानज्योति को प्रगट कर लेते हैं।

भरतेश जब अन्तरात्म से परमात्मा बन गये। आचार्य कहते हैं कि अध्यात्म की महिमा विचित्र है। वह भरतेश का आत्मा परमज्योतिमय परमात्मा बन कर उस शिलातल से एकदम ऊपर आकाशप्रदेशों को लांघकर इस भूतल से पाँच हजार धनुष ऊपर आकर आकाशप्रदेश में ठहर गया। मानवों और देवगणों ने उन्हें आकाशप्रदेश में देख जयजयकार किया।

स्वर्ग में देवेन्द्र ने भरतेश की उन्नति पर आश्चर्य व्यक्त किया एवं अपनी देवियों के साथ ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर पृथ्वीतल पर उतरा। ऊपर से नीचे आते हुए उन्होंने अन्य देवी-देवताओं को उधर आते देखा। वे सब भगवान भरतेश की स्तुति करते हुए जा रहे थे। सब कह रहे थे - “हे भरत जिनेश्वर! आप जयवन्त रहें।”

ज्ञान और ध्यान के संयोग को योग कहते हैं और उस योग से जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है, वही केवलज्ञानज्योति है। मुनिराज भरतेश को उस केवलज्ञानज्योति के उत्पन्न होने पर इन्द्रों ने जिनपूजा की, उसीसमय केवलज्ञान के अतिशयों के रूप में अष्ट प्रातिहार्य आदि बाह्य विभूतियाँ प्रगट हो गईं।

कुबेर ने उसीसमय गंधकुटी की रचना की। कमलासन को स्पर्श न करते हुए भरत जिनेन्द्र शोभास्पद हो रहे थे।

भरतेश की सामर्थ्य अचिन्त्य है। उन्होंने दीक्षित होते ही अन्तर्मुहूर्त में पहले मनःपर्ययज्ञान और तुरन्त बाद केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

जिससमय भरतेश ने केवलज्ञान प्राप्त किया, उसीसमय उनके पुत्र-मित्रादि ने भी उत्तमपद प्राप्त किया।



मध्याह्न में भरतेश ने घातिया कर्मों का नाश कर साथ के निकट भव्यों को दीक्षा दी। और आश्चर्य यह है कि शाम को भरत के भाई गणधर वृषभसेन ने भी घातिया कर्मों का क्षय करके कैवल्य की प्राप्ति कर ली और परमात्मा बन गये।

भरतेश की महिमा अपार है, वह अलौकिक विभूति है। जबतक संसार में रहे तबतक सम्राट के वैभव से ही रहे, तपोवन में गये तो ध्यान साम्राज्य के अधिपति बने, वहाँ से भी कर्मों पर विजय पाकर मोक्ष साम्राज्य के अधिपति बने। उनका जीवन सातिशय पुण्यमय है। अतः मोक्ष साम्राज्य में अधीष्ठित होने के लिए उन्हें देरी नहीं लगी। उनकी सदा भावना रहती थी कि - “हे परमात्मन्! अनेक चिन्ताओं को छोड़कर मैं एक ही भावना भाता हूँ कि तुम सदैव मेरे मन्दिर में विराजित रहो।

हे सिद्धात्मन्! आप विचित्र सामर्थ्य से सहित हैं, मेरे लिए मुक्तिपथ के प्रदर्शक बने।”

जिससमय भरतेश को कैवल्य की प्राप्ति हुई थी, उसीसमय उनके पाँच पुत्रों ने भी घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया था। उन पाँचों का जन्म भी एकसाथ हुआ था। उनके नाम थे हंसमुनि, निरंजनसिद्धमुनि, महांशुमुनि, रत्नमुनि और संसुखिमुनि।

श्रीमाला, वनमाला, मणिदेवी, हेमाजी और गुणमाला ये पाँच साध्वियाँ उन भरतपुत्रों की मातायें थीं। अतः उन्हें तो पुत्रों को कैवल्य प्राप्ति का हर्ष होना स्वाभाविक ही था, साथ रहनेवाली शेष साध्वियाँ भी हर्षित हुईं सबने उनकी खूब स्तुति की।

भरतजी के पाँचों पुत्र केवलियों की भी गंधकुटी रची गई। मानवों एवं देवों ने उनकी अर्चना की।

धरणेन्द्र भरतजी की स्तुति करते हुए कह रहा था - “कहाँ तो षट्खण्ड का भार ? कहाँ ९६ हजार रानियों का आनन्दपूर्ण खेल ? और कहाँ अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य! धन्य हैं वे जो स्वयंबुद्ध हुए और शेष कर्मों का क्षय करके अमरपद प्राप्त कर लिया।

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनके श्रोतागण भरत जिनेन्द्र की गंधकुटी में एकत्रित हो गये। अर्ककीर्ति एवं आदिराज कुमार हर्षित हुए। शेष मंत्री एवं मित्रों को भी भगवान भरत के दर्शन से अत्यधिक आनन्द हुआ।

एक श्रोता ने प्रश्न किया - “प्रभो! सुना है कि चक्रवर्ती की पट्टरानी चक्रवर्ती के लिए निरन्तराय एवं निरन्तर भोग का साधन होने के कारण नियम से नरक जाती है, ऐसा क्यों? जब चक्रवर्ती को निरन्तर भोगों में रहते हुए गृहत्याग कर मुनिदीक्षा लेने पर स्वर्ग और मुक्ति भी होती है तो रानी के साथ ही ऐसा अन्याय क्यों होता है?”

भरत केवली की दिव्यध्वनि में समाधान आया - “तुमने जो भी इस संबंध में सुना है, वह आप्त पुरुष से नहीं सुना। वस्तुतः बात यह है कि मात्र दुर्गति को जानेवाले चक्रवर्ती की पट्टरानी ही दुर्गति को जाती है, किन्तु स्वर्ग एवं मोक्ष जानेवाले चक्रवर्ती की स्त्रीरत्न अर्थात् पट्टरानी को तो स्वर्ग की ही प्राप्ति होती है।

पुरुषों के परिणाम के अनुसार ही स्त्रियों का परिणाम होता है, इसलिए पुरुष की गति के अनुसार ही वह स्त्रीरत्न भी कुछ कम लगभग उसी मार्ग में रहती है। हाँ, स्त्री पर्याय में मुक्ति संभव नहीं; अतः वे स्वर्ग ही जाती हैं और स्त्री पर्याय को छेदकर देव भी हो सकती हैं।

देखो, पुत्र मोक्षगामी, भाई मोक्षगामी, स्वयं के पति भरतेश्वर मुक्तिगामी, फिर भरत की पट्टरानी सुभद्रा की दुर्गति कैसे हो सकती है? सुभद्रा ने भी आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर स्वर्ग प्राप्त किया था।

जब भरत चक्रवर्ती की पालकी को ढोनेवाले सेवक (कहार) भी स्वर्ग जाते हैं। तो पट्टरानी को दुर्गति कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती, वह निर्मल देहवाली है, उसे भी आहार है; पर निहार नहीं, इसीकारण आर्यिका के पद में भी उनके कमण्डल नहीं होता।



### द्रव्यदृष्टि का स्वरूप

भरत केवली से प्रश्न किया - हे स्वामिन! द्रव्यदृष्टि क्या है ? आपकी द्रव्यदृष्टि तो गृहस्थ जीवन में भी विख्यात रही, जिसके बल पर आपने घर में ही वैरागीवत जीवन जीया है, कृपया द्रव्यदृष्टि का स्वरूप विस्तार से बतायें ?

भरतेश जिनेन्द्र की वाणी में आया - “प्रश्न तो तुम्हारा अच्छा है; परन्तु द्रव्यदृष्टि को समझने के पहले इसमें प्रयुक्त ‘द्रव्य’ और ‘दृष्टि’ का अर्थ समझना होगा क्योंकि इनके अनेक अर्थ हैं। यहाँ इस प्रसंग में इनके क्या-क्या अर्थ नहीं हैं और क्या अर्थ है, यह जानना जरूरी है, तब ‘द्रव्यदृष्टि’ समझ में आयेगी।

‘द्रव्यदृष्टि’ विषय वैसे कोई कठिन नहीं है, परन्तु तत्त्व के अनभ्यास से एवं शास्त्रीय शब्दों से सुपरिचित न होने से कठिन लग सकता है, अतः उपयोग को स्थिर करके सुनना होगा, अन्यथा समझ में नहीं आयेगी।

(१) देखो, ‘द्रव्य’ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें एक अर्थ धन भी है। जिसके पीछे सारी दुनिया पागल हो रही है; परन्तु ध्यान रहे, यहाँ अध्यात्म जगत में ‘द्रव्य’ शब्द का अर्थ धन नहीं है।

(२) जैनदर्शन के अनुसार इस लोक में सत् स्वरूप जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छह वस्तुएँ हैं, जिन्हें द्रव्य कहते हैं - ये छह द्रव्य भी दृष्टि के विषय नहीं हैं अर्थात् इस अध्यात्म के प्रकरण में द्रव्यदृष्टि के प्रसंग में आया ‘द्रव्य’ शब्द इन छह द्रव्यों का सूचक भी नहीं है।

(३) सत् द्रव्यलक्षणं तथा गुणपर्ययवद् द्रव्यं आदि सूत्रों में प्रतिपादित सत् स्वरूप एवं गुण-पर्याय वाला द्रव्य भी श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं है।

(४) प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टमय होती है। उसमें स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव - ऐसे चार अंश

होते हैं, जिनको मिलकर ही वस्तु पूर्ण होती है, उन चारों में एक का नाम 'द्रव्य' है। वह द्रव्य या द्रव्यांश भी अकेला दृष्टि का विषय नहीं है। इसतरह लोक में और भी अनेक अर्थों में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे - (५) पूजन के अष्ट द्रव्य, (६) अष्टमंगल द्रव्य आदि - ये कोई भी 'द्रव्य' दृष्टि के विषय नहीं हैं - श्रद्धा के श्रद्धेय नहीं हैं।

श्रोता का प्रश्न - हे प्रभो ! "तो फिर दृष्टि का विषय कौन-सा द्रव्य है अथवा द्रव्यदृष्टि क्या है?"

भरत केवली की वाणी में आया - "हे भव्य ! 'दृष्टि' शब्द के मूलतः दो अर्थ हैं। एक श्रद्धा और दूसरा 'अपेक्षा।' प्रथम 'श्रद्धा' के अर्थ में 'दृष्टि के विषय' की बात करें तो हमारी दृष्टि का विषय, हमारी सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, हमारे परम शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत ज्ञान का ज्ञेय और हमारे परम ध्यान का ध्येय शुद्धात्मा है, कारण परमात्मा है।"

"प्रभो! कृपया स्पष्ट करें कि हम अपनी श्रद्धा किस पर समर्पित करें, किसे अपने निश्चयनय के ज्ञान का ज्ञेय बनाये और किसे अपने निर्विकल्प ध्यान का ध्येय बनाये, जिससे कि हमारा मोक्षमार्ग सध सके; रत्नत्रय की आराधना, साधना एवं प्राप्ति हो सके, हम प्राप्तपर्याय में पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकें?"

"हे भव्य ! जो व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि 'द्रव्यदृष्टि का विषय' मात्र सम्यग्दर्शन का विषय है, वे भ्रम में हैं। यह मात्र सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, अपितु यह सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, परम शुद्ध निश्चयनय के ज्ञान का ज्ञेय और निर्विकल्प परम ध्यान का ध्येयरूप सम्यक्चारित्र का साध्य है, निश्चयरत्नत्रय का विषय है।

'द्रव्यदृष्टि' और 'पर्यायदृष्टि' वाक्यों में जो 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग है, वह सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि वाक्यों में प्रयुक्त दृष्टि शब्द का वाचक या सूचक नहीं; अपितु अपेक्षा का सूचक है। 'द्रव्यदृष्टि' अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से और 'पर्यायदृष्टि' अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से।"

श्रोता का पुनः प्रश्न "प्रभो ! यह तो जाना; परन्तु शास्त्रों में बहुत-सी अपेक्षाओं से पर्याय का वर्णन है, इसलिए द्रव्यदृष्टि के संदर्भ में पर्याय शब्द का भी यथार्थ अर्थ समझाने की कृपा करें।"

“सुनो, पर्याय शब्द का अर्थ सुनो ! जो-जो वस्तु पर्यायार्थिकनय का विषय बनती हैं, उन सभी की पर्याय संज्ञा है, चाहे वह द्रव्य हो, गुण हो या पर्याय हो। जैसे कि - जो भारत का नागरिक हो, वही भारतीय है। भले, वह हिन्दू हो, मुस्लिम हो, सिख हो या ईसाई हो; वैसे ही जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, वे सब पर्यायें हैं।

देखो! सम्पूर्ण जिनवाणी नयों की भाषा में निबद्ध है और नयों के कथन में मुख्य-गौण की व्यवस्था अनिवार्य होती है; क्योंकि वे अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सापेक्ष कथन ही कर सकते हैं, वे प्रमाण की विषयभूत वस्तु के अनेक (अनन्त) धर्मों को एकसाथ नहीं कह सकते। अतः दृष्टि के विषय को समझने के लिए पहले हमें नयों की उन अपेक्षाओं को जानना होगा, जो हमें दृष्टि के विषय को अर्थात् सम्यक् श्रद्धा के श्रद्धेय को, निश्चयनय के विषयभूत ज्ञान के ज्ञेय को और परमध्यान के ध्येय को बताते हैं।

द्रव्य का स्वचतुष्टयस्वरूप : यहाँ ज्ञातव्य है कि - प्रत्येक वस्तु (छहों द्रव्य) अपने-अपने स्वचतुष्टयमय होती है। स्वचतुष्टय का अर्थ है वस्तु का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव। इन चारों सहित होने से ही द्रव्य को स्वचतुष्टयमय कहते हैं। वस्तु इन स्वचतुष्टयमय होने से ही सत् है।

इस चतुष्टय में प्रत्येक के दो-दो भेद हैं - वस्तु का (अ) स्वद्रव्य-सामान्य-विशेषात्मक, (आ) स्वक्षेत्र-असंख्यातप्रदेशी-अखण्ड, (इ) स्वकाल-नित्यानित्यात्मक और (ई) स्वभाव-एकानेकात्मक।

देखो ! अपना आत्मा भी एक वस्तु है, द्रव्य है। इसके भी अपने स्वचतुष्टय हैं। सामान्य-विशेषात्मकता इसका द्रव्य है, असंख्यात प्रदेशी-अखण्ड इसका क्षेत्र है, नित्यानित्यात्मकता इसका काल है और एकानेकात्मकता इसका भाव है। ध्यान रहे, सम्पूर्ण चतुष्टयमय वस्तु का नाम भी द्रव्य है और इन चार चतुष्टय में एक द्रव्यांश का नाम भी द्रव्य है।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि स्वक्षेत्र में असंख्यात प्रदेश क्षेत्र-ऐसा न कहकर असंख्यातप्रदेशी कहा; क्योंकि असंख्यात प्रदेश कहने से तो असंख्यात का भेद खड़ा होता है और भेद

खड़ा होने से आत्मा के अभेदस्वरूप खण्डित होता है, जबकि दृष्टि का विषय अखण्ड है। असंख्य प्रदेशों के अखण्ड या अभेद का नाम ही वस्तु का स्वक्षेत्र है। इसी तरह अनन्त गुणों का अभेद आत्मा का स्वभाव है तथा अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक पर्यायों का अनुस्यूति से रचित - धाराप्रवाहीपन आत्मा का स्वकाल है।

इसप्रकार सामान्यात्मक, एकात्मक, त्रिकाली और असंख्यात प्रदेशी आत्मद्रव्य या भगवान आत्मा, कारणपरमात्मा ही दृष्टि का विषय है, सत् श्रद्धा का श्रद्धेय है एवं निर्विकल्प ध्यान का ध्येय है।

इसके विपरीत विशेष, अनित्यता, अनेक और भेद - यद्यपि ये भी वस्तु के ही धर्म हैं, किन्तु ये पर्यायार्थिकनय के विषय होने से दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हो सकते। जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, वे भले द्रव्य या द्रव्यांश हों, गुण या गुणांश हो या पर्यायांश हों - सब पर्यायें ही हैं; अतः ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होते।

प्रमत्त-अप्रमत्त दशाओं से और गुणभेद से भिन्नता की बात कहकर भगवान आत्मा को पर्याय से भिन्न बताया है; क्योंकि प्रमत्त व अप्रमत्त दशायें तो आत्मा की पर्यायें हैं ही, गुणभेद भी पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है और जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय बनेंगे, उन सबकी पर्यायसंज्ञा है; क्योंकि गुणार्थिक नाम का नय तो कोई है नहीं तथा गुणभेद में भेद की मुख्यता के कारण उसको द्रव्यार्थिकनय का विषय बनाया नहीं जा सकता; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय तो द्रव्य का अभेद, अखण्ड, एक और सामान्य पक्ष ही बनता है।

ध्यान रहे, समयसार की सातवीं गाथा में भगवान आत्मा में विद्यमान गुणों का निषेध करना इष्ट नहीं है; क्योंकि अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड तो भगवान आत्मा है ही। निषेध तो गुणों का नहीं, गुणभेद का किया है; क्योंकि गुणभेद पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है।

प्रश्न - यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्याय सम्मिलित नहीं है तो फिर आत्मा के द्वारा जानने का

काम भी संभव नहीं होगा; क्योंकि जानना तो स्वयं पर्याय है। जाननेरूप पर्याय के कारण ही तो आत्मा को ज्ञायक कहा जाता है न! जब आत्मा में न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है; वह तो उसके ज्ञायकता कैसे संभव है ?

उत्तर - ध्यान रहे, पर्याय को मात्र दृष्टि के विषय में से निकाला है, वस्तु में से नहीं, द्रव्य में से भी नहीं तथा गौण करने के अर्थ में ही पर्याय के अभाव की बात कही गई है और समयसार की सातवीं गाथा में भी गुणभेद से भिन्नता की बात कहकर भी पर्याय से ही पार बताया है, गुणों से भिन्न नहीं बताया; क्योंकि गुणभेद का नाम भी तो पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है।

देखो, प्रयोजन की दृष्टि से ही गुण एवं गुणभेद को पृथक्-पृथक् पक्ष में खड़ा किया है। इनमें गुणों को तो अभेदपने दृष्टि के विषय में सम्मिलित कर दिया और गुणभेद को दृष्टि के विषय में से निकाल दिया है, पृथक् कर दिया है; क्योंकि निर्विकल्प की ग्राहक दृष्टि भेद को विकल्पात्मक होने से स्वीकार नहीं करती।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नयों की भाषा में कथन की गई एक अपेक्षा मुख्य एवं शेष अनुक्त अपेक्षायें गौण होती हैं।

परमशुद्ध निश्चयनय के विषय में वस्तु का सामान्य, अभेद, अखण्ड और एक, पक्ष मुख्य रहता है और यही दृष्टि का विषय बनता है तथा वस्तु का विशेष, भेद, अनेक और खण्ड-खण्ड पक्ष पर्यायार्थिकनय का विषय है और यह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होता अर्थात् गौण रहता है।

तात्पर्य यह है कि - दृष्टि के विषय में पर्यायार्थिकनय की विषयवस्तु, जिसके विशेष, अनित्य और खण्ड-खण्ड भेद - ऐसे चार अंश होते हैं; इनकी पर्याय संज्ञा है और ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होते तथा जो सामान्य आदि चार अंश हैं, उनकी द्रव्यसंज्ञा है और वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं।

‘पञ्जयमूढा हि पर समयाः’ की व्याख्या करते हुए कहा है कि - उक्त गाथा में असमानजातीय द्रव्यपर्यायों को मुख्य किया है। असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यच आदि को ग्रहण किया

है। इन पर्यायों रूप में नहीं हूँ। - ऐसा कहकर द्रव्य-पर्यायों को मुख्य किया है। तथा इन्हीं पर्यायों को पृथक् करने की बात की है। वहाँ उन्होंने जब अशुद्ध राग-द्वेषादि पर्यायों की पृथक्ता की भी बात नहीं की तो केवलज्ञान जैसी शुद्ध पर्याय की पृथक्ता की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इसीप्रकार प्रवचनसार गाथा १४४ में 'पज्जयगऊण किच्चा' लिखा है, जिसका अर्थ है - 'पर्याय को गौण करके' अर्थात् जो पर्याय को गौण करके अकेले द्रव्य के पक्ष को ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिकनय है तथा जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिकनय है।

यहाँ स्पष्टरूप से गौण करने को लिखा है, अभाव करने को नहीं।

यदि कहीं व्यवहार का निषेधपरक अर्थ निकलता भी है तो उसे लौकिक व्यवहार में न उलझने के अर्थ में ही ग्रहण करना। नयों के निषेध के अर्थ में ग्रहण नहीं करना। जैसे कि - शादी-विवाह, तिया-तेरहवाँ जैसे लोकव्यवहारों अथवा ऐसी ही अन्य-औपचारिकताओं की पूर्ति में अपने जीवन के अमूल्य क्षण बर्बाद नहीं करने के अर्थ में कहा गया है - ऐसा समझना। व्यापार धंधों में अधिक नहीं उलझना - ऐसा निषेधपरक अर्थ करना। नयों के भेदपरक विषय का प्रतिपादन करने का निषेध नहीं मानना। नयों के प्रतिपादन में तो मुख्य-गौण की ही व्यवस्था है, निषेध की नहीं।

समयसार गाथा ७३ की टीका में जो सामान्य-विशेषात्मक आत्मद्रव्य को दृष्टि का विषय कहा है, वहाँ सामान्य का अर्थ दर्शन एवं विशेष का अर्थ ज्ञान है और वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है; जबकि अन्यत्र जहाँ विशेष का अर्थ भेद होता है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय बनने से पर्याय ही है, इसकारण वह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हो सकती।

देखो, जिसप्रकार द्रव्यांश का भेद (विशेष) तो दृष्टि के विषय में नहीं है; पर द्रव्यांश का अभेद (सामान्य) दृष्टि के विषय में सम्मिलित रहता है, क्षेत्र का भेद (प्रदेशों का भेद) दृष्टि के विषय में नहीं रहता; पर क्षेत्र का अभेद प्रदेशों की अखण्डता दृष्टि के विषय में सम्मिलित रहती है तथा गुण का भेद दृष्टि के



विषय में नहीं आता; पर गुणों का अभेद सम्मिलित रहता है; उसीप्रकार काल (पर्याय) की अनित्यता तो दृष्टि के विषय में नहीं रहती; किन्तु काल की नित्यता=काल के अभेद (पर्यायों के अनुस्यूति से रचित धाराप्रवाह) को दृष्टि के विषय में सम्मिलित किया है।

मात्र काल के भेद का नाम पर्याय नहीं है; किन्तु काल का भेद, प्रदेश का भेद, गुण का भेद और द्रव्य का भेद - इन चारों का नाम पर्याय है।

काल का अभेद=काल की नित्यता (निरन्तरता) पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह पर्याय में शामिल नहीं है, मात्र - चारों के भेद ही पर्याय में शामिल हैं। अतः काल की नित्यता अर्थात् पर्यायों का अनुस्यूति से रचित धाराप्रवाहपना द्रव्यदृष्टि के विषय में शामिल है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

प्रश्न - जब 'ज्ञानमात्र' आत्मा का लक्षण है तो आत्मा का दूसरा नाम 'ज्ञानी ही क्यों नहीं रखा ?

उत्तर - 'ज्ञान' नाम देने से आत्मा के अनन्त गुणों उपेक्षा होती है और मात्र ज्ञानगुण आत्मा के समग्र स्वरूप को बताने में समर्थ नहीं है। ज्ञानमात्र कहने से अनन्तगुणमय सम्पूर्ण आत्मा समझ में नहीं आता है। जबकि - ज्ञानमात्र इस शब्द में, हैं अनन्त गुण व्याप्त। ज्ञायक भी कहते उसे, प्रगट पुकारा आप्त ॥

यदि ज्ञायक को मात्र जाननेवाले के अर्थ में ही ग्रहण किया जाये तो वह एक ज्ञानगुणवाला हो जायेगा और ज्ञानगुणवाला कहने से भेद खड़ा हो जायेगा तथा भेद का नाम तो पर्याय है, वह त्रिकाली ध्रुव में शामिल नहीं है।

प्रत्येक वस्तु स्व-चतुष्टय से युक्त होती है, यह एक नियम है। वस्तु उसी का नाम है जो स्व-चतुष्टय से युक्त है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है -

“सदैव सर्व को नेच्छेत, स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥

ऐसा कौन है जो वस्तु को स्व-चतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप में स्वीकार नहीं करेगा? और ऐसा कौन

है जो वस्तु को पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप स्वीकार नहीं करेगा? यदि कोई ऐसा है भी तो वह अपनी इस बात को सिद्ध नहीं कर पायेगा अर्थात् जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव - इन चार को स्वीकार नहीं करेगा तो उसके मतानुसार वस्तुव्यवस्था ही नहीं बनेगी; क्योंकि द्रव्य का अर्थ है वस्तु, क्षेत्र का अर्थ है प्रदेश, काल का अर्थ है पर्याय और भाव का अर्थ है गुण। जिसमें ये द्रव्य-गुण-पर्याय और प्रदेश सम्मिलित हैं, उसका नाम ही वस्तु है।”

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि “अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणामित होती हैं।” यहाँ ‘अनादिनिधन’ कहकर काल की बात कही है।

जब दृष्टि के विषय में पर्याय का निषेध किया जाता है तो हम उपर्युक्त काल नामक अंश का निषेध समझ लेते हैं, जबकि वस्तु के जो चार अंश-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप हैं, उनमें कालांश तो दृष्टि के विषय में शामिल है। उसे द्रव्य में से निकाल देने पर तो द्रव्य के ही खण्डित होने का खतरा है; फिर भी अज्ञानों द्वारा काल अंश को पर्याय समझकर उसका निषेध कर दिया जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने भी यही कहा है कि - काल के बिना अखण्ड वस्तु स्वीकार नहीं की जा सकती।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी लिखा है कि - ‘न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि। न तो मैं द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ और न भाव से खण्डित हूँ, मैं तो एक अखण्ड तत्त्व हूँ।’ यदि वस्तु में से काल-खण्ड निकाल दिया जाय तो वह वस्तु काल से खण्डित हो जायेगी और फिर वह वस्तु ही नहीं रहेगी।

द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनय का विषय : देखो, जिसप्रकार गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का, प्रदेशों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय और प्रदेश भेद पर्यायार्थिकनय का, द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का; उसीप्रकार काल (पर्यायों) का अभेद अर्थात् पर्यायों का परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाहक्रम अर्थात् अखण्ड

धाराप्रवाहीपना अथवा पर्यायों की निरन्तरता (नित्यता) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और कालभेद अर्थात् पर्यायों का कालखण्ड पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है।

द्रव्यार्थिकनय का विषय ही दृष्टि का विषय है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय अभेद है और निर्विकल्पता का जनक है। पर्यायार्थिकनय का विषय भेद है और विकल्प का जनक है अतः दृष्टि का विषय नहीं हो सकता।

प्रवचनसार में जो सैंतालीस नय कहे हैं, उनमें विकल्पनय और अविकल्पनय में विकल्पनय का अर्थ भेद और अविकल्पनय का अर्थ अभेद ही है।

**गुण एवं पर्याय का स्वरूप** – ध्यान रहे, जैसी नित्यता और अनित्यता में नित्यता द्रव्य व अनित्यता पर्याय है, वैसे नित्यत्व व अनित्यत्व जो आत्मा के धर्म हैं, उनमें द्रव्य व पर्याय का भेद नहीं है; क्योंकि वे दोनों गुण हैं, धर्म हैं, अतः उसमें कोई भी पर्याय नहीं है।

इसीतरह सर्वज्ञता पर्याय और सर्वज्ञत्वशक्ति गुण है, सर्वदर्शीपना पर्याय है और सर्वदर्शित्व नाम की शक्ति (गुण) है। इनमें जो-जो पर्यायें हैं, वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हैं और सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अभेदरूप से गुण (धर्म) हैं, वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं; क्योंकि ये सब गुण के ही रूपान्तर हैं।

“अन्वयिनो गुणाः अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणं।  
व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुवा पर्याया इति पर्याय लक्षणम्।”

‘यह वही-यह वही’ यह अन्वय का लक्षण है। यह अन्वय अर्थात् साथ-साथ रहनेवाले गुण हैं, जो भिन्न हैं वे पर्यायें हैं, ये क्रमशः गुण व पर्याय के लक्षण हैं। अपने-अपने विशेष व सामान्य गुणों के साथ अभिन्नता होने से सभी द्रव्य गुणात्मक हैं। हम पर्याय के नाम पर गुणों को भी दृष्टि के विषय में से न हटा दें, इसलिए गुण व पर्याय का स्वरूप जानना जरूरी है।

शास्त्रों में गुणों को भी पर्याय नाम से कहा गया है। जैसे कि - पर्यायों दो प्रकार की होती हैं - १. सहभावी २. क्रमभावी। सहभावी पर्याय गुण को कहते हैं और क्रमभावी पर्याय पर्याय को कहते हैं। अतएव हम पर्याय के नाम पर सभी पर्यायों को भी दृष्टि के विषय में से निकाल नहीं सकते।

यदि हम पर्याय का लक्षण नहीं समझेंगे तो किस पर्याय को हम दृष्टि के विषय में सम्मिलित करें और किसे सम्मिलित नहीं करें - यह निर्णय नहीं कर सकेंगे। अतः हमें गुण व पर्यायों का सम्यक्स्वरूप समझना एवं उनका प्रयोग करने का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

**व्यवहारनय की उपयोगिता** - जैनदर्शन में किस नय को कहाँ मुख्य और कहाँ गौण करना - यह विवेक वक्ता को तो होना ही चाहिए। अन्यथा वह जिनवाणी का वक्ता नहीं हो सकता। आगम में भी यही कहा है कि वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। किस नय का कब/कहाँ/कैसे प्रयोग करना - यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ - 'रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए' - यह कथन व्यवहारनय का है कि निश्चयनय का ?

यदि इस व्यवहारनय के कथन को कभी भी मुख्य नहीं करेंगे तो इसका अर्थ यह हो जायेगा कि सभी को रात में खाने देना चाहिए। यदि हम ऐसा कहेंगे कि - "द्वि इन्द्रियादि जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए" तो व्यवहारनय मुख्य हो जायेगा इस भय से व्यवहारनय का उपदेश ही न दें तो चरणानुयोग का क्या होगा ? और हीन आचरणवाले को तत्त्वज्ञान भी कैसे होगा ?



क्या पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है ?

श्रोता के मन में शंका हुई यदि ऐसा है तो फिर पर्याय दृष्टि के विषय में किस रूप में शामिल है ?

हाँ, पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल तो है; परन्तु विषय बनने के रूप में पर्याय भी दृष्टि के विषय में शामिल है। जैसे कि करन्ट वाहक बिजली के तार में करन्ट तबतक नहीं आता है, जबतक वह उस पावर प्लग को स्पर्श नहीं करेगा, जिसमें बिजली बहती है; उसीप्रकार जबतक पर्याय ज्ञायकस्वभावी निज जीवद्रव्य को स्पर्श नहीं करेगी, तबतक पर्याय में केवलज्ञान नहीं होगा। स्वभाव में तो सर्वज्ञत्वशक्ति पड़ी हुई है, लेकिन जबतक पर्याय उस स्वभाव का स्पर्श नहीं करेगी, तो उसमें केवलज्ञान कहाँ से आएगा? इस अपेक्षा से पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है अर्थात् दृष्टि के विषय में मिली हुई है। पर्याय ने स्वभाव का आश्रय लिया, इसलिए भी पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है। जब पर्याय उस द्रव्य को ज्ञान का ज्ञेय बना रही है, श्रद्धा का श्रद्धेय बना रही है, जब सारे गुण आत्मसम्मुख हो गए हैं, सारी पर्यायें आत्मसम्मुख हो गई हैं तथा आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का झरना भी पर्यायों में फूट पड़ा है और उस आनन्द में कहीं अन्तराल भी नहीं अर्थात् आनन्द की अखण्डधारा पर्याय में बह रही है। जब पर्याय ने उस द्रव्य के प्रति अपने आपको इतना समर्पित कर दिया है तो फिर पर्याय को द्रव्य में शामिल होने के लिए और क्या करना है ?

पर्याय द्रव्य में शामिल होने के लिए द्रव्य के साथ एकाकार तक हो गई तथा उसने अपना नाम तक बदल लिया अर्थात् पर्याय ने अपना स्वर भी ऐसा कर लिया कि 'मैं द्रव्य हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं त्रिकालीध्रुव, अनादि-अनंत, अखण्ड हूँ।' इसप्रकार विषय बनने की अपेक्षा 'पर्याय' दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में शामिल ही है।

यदि पर्याय द्रव्यमय नहीं हो तो पर्याय में त्रिकालज्ञ केवलज्ञान ही नहीं होगा। उपयोग की एकाग्रता को

ध्यान कहा जाता है और उपयोग स्वयं पर्याय है। अब यदि वह उपयोग (पर्याय) त्रिकालीध्रुव में अभेद एकाकार नहीं हो तो आत्मा का ध्यान नहीं होगा। उन दोनों के बीच में यदि थोड़ी भी सांध (गेप) रहेगी, तो आत्मा का निरन्तर ध्यान कैसे होगा?

आगम में प्रदेशों की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामों की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है। वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है। वस्तु में दो चीजें होती हैं। - एक का नाम है विस्तारक्रम और दूसरी का नाम है प्रवाहक्रम। विस्तार क्रम क्षेत्र की अपेक्षा होता है और प्रवाहक्रम काल की अपेक्षा होता है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों को इसप्रकार फैला दें कि एक प्रदेश में दूसरा प्रदेश न रहे तो वे प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाएँगे।

केवली समुद्घात में जो लोकपूरणदशा होती है, उसमें लोकाकाश के एक-एक प्रदेश के ऊपर आत्मा का एक-एक प्रदेश रहता है अर्थात् जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक आत्मा के प्रदेश हैं; आत्मा के लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। लोकाकाश में जो असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् तीनों लोक में जो ऊपर-नीचे, अगल-बगल में प्रदेश हैं, उन प्रदेशों का स्थान अनादि काल से निश्चित है और अनंतकाल तक रहेगा। एक भी प्रदेश एक इंच भी इधर-उधर नहीं हिलेगा तथा उन प्रदेशों में एक प्रदेश के छहों कषायों में किस-किस तरफ कौन-कौन से प्रदेश रहेंगे, यह भी निश्चित है।

परमाणु की रचना षट्कोणमय होती है इसकारण जगह बिल्कुल भी खाली नहीं रहती है, बीच में जिसप्रकार परमाणु में छह तरफ से छह परमाणु चिपक सकते हैं; उसीप्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी एक प्रदेश को छह प्रदेश घेरे हुए हैं। आत्मा के वे प्रदेश अनादिकाल से अनंतकाल तक उसी स्थिति में रहेंगे, चाहे वे प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जायें या वे छोटे शरीर में आकर सिमट जायें।

जिसप्रकार रूमाल में जो धागे रहते हैं, वे अगल-बगल से एक निश्चित क्रम में बुने रहते हैं। रूमाल को हम चाहे जैसा भी घुमाते रहें, फिर भी उनका क्रम भंग नहीं होता है अर्थात् क्रम बदलता नहीं है।

इसप्रकार प्रदेशों का एक निश्चित क्रम है और उसी क्रम में वे रहते हैं अर्थात् उन प्रदेशों का एक व्यवस्थित क्रम है और वह क्रम अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा, उसे कभी भी बदला नहीं जा सकता है। लोकाकाश के प्रदेशों के समान आत्मा के प्रदेशों का भी निश्चित क्रम है।

जब आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं, तब भी आत्मा के प्रदेशों का क्रम वही रहता है। वह क्रम कभी बदला नहीं जा सकता है; इसे ही विस्तारक्रम कहते हैं।

जिसप्रकार विस्तारक्रम में प्रदेशों के स्थान को बदला नहीं जा सकता है, उसीप्रकार प्रवाहक्रम में पर्याय को निश्चित समय से बदला नहीं जा सकता है। जिसप्रकार प्रदेशों का क्रम सुनिश्चित है; उसीप्रकार अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक जितने समय हैं, उनमें प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय एक-एक समय में खचित है, न तो यह संभव है कि कल की पर्याय को आज ले आयेँ या आज की पर्याय को कल में ले जायेँ।

यदि किताब में से पीछे के एक पेज को आगे लाना हो तो फाड़कर लाना पड़ेगा, पेज फाड़ने से फिर वह किताब अखण्ड नहीं रहेगी। यदि द्रव्य के एक प्रदेश को दूसरी जगह हटाना हो तो द्रव्य के टुकड़े करने पड़ेंगे। टुकड़े करने से वस्तु अखण्ड नहीं रहेगी; जबकि वस्तु उसे कहते हैं, जो अखण्ड हो अर्थात् जिसके खण्ड नहीं हो सकें; अतएव प्रदेशों को एक जगह से दूसरी जगह बदला नहीं जा सकता है।

जिसप्रकार विस्तारक्रम में यह नियम है कि एक प्रदेश को दूसरी जगह नहीं बदला जा सकता है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम में भी यह नियम है कि एक पर्याय को कभी भी दूसरी जगह बदला नहीं जा सकता है। जैसे - किसी की सिद्धपर्याय एक लाख वर्ष बाद हो और वह अभी लाना चाहता हो तो वह स्वकाल में से जो सिद्धपर्याय निकालेगा तो एक कट तो वहाँ लग जाएगा और जहाँ लाना चाहेगा, वहाँ पर भी एक कट लग जाएगा। यदि एक पर्याय को समय से पहले कोई स्थानांतरित करना चाहेगा तो आत्मा की अनादि-अनन्तता खण्डित हो जायेगी; जबकि वस्तु उसे कहते हैं, जो अखण्ड रहती है। अतएव पर्याय को कभी भी बदला नहीं जा सकता।

एक लाख वर्ष बाद आनेवाली सिद्धपर्याय को यदि वह लाना चाहेगा तो सिद्धपर्याय आने के बाद संसारपर्यायों का क्या होगा? सिद्धपर्याय लाने के लिए उन्हें खत्म करना पड़ेगा। यदि उन्हें खत्म किया तो उतना द्रव्य खण्डित हो जाएगा। जैसे नौ मीटर की धोती में से बीच में से यदि एक मीटर निकाल दिया जाता है तो वह आठ मीटर रह जाएगी और बीच में एक जोड़ लग जावेगा; उसीप्रकार यदि आत्मा में से उतने समय की संसार पर्यायें निकाली गईं तो आत्मा काल से खण्डित हो जाएगा, उतना छोटा हो जायेगा, अनादि-अनंत नहीं रहेगा और उसमें एक जोड़ लग जायेगा।

जिसप्रकार वस्तु में क्षेत्र की अखण्डता होती है, काल की अखण्डता होती है; उसीप्रकार वस्तु में गुणों की अखण्डता भी होती है। यदि एक गुण का रूप दूसरे में न हो तो गुण बिखरकर अलग-अलग हो जायेंगे। यदि ज्ञानगुण में अस्तित्व गुण का रूप नहीं हो तो ज्ञानगुण का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, फिर ज्ञान गधे के सींग के समान हो जायेगा। अस्तित्व गुण में यदि प्रमेयत्वगुण का रूप नहीं हो तो अस्तित्वगुण जाना ही नहीं जा सकेगा। यदि ज्ञानगुण अनंतगुणों में व्याप्त नहीं होगा तो फिर पूरा आत्मा ज्ञानी कैसे होगा? तब ज्ञानगुण ही चेतन होगा, आत्मा के शेष गुण अचेतन रहेंगे; क्योंकि ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहा जाता है; इसलिए गुणभेद इष्ट नहीं हैं।

यदि गुणभेद को सर्वथा स्वीकार करते हैं तो बाकी के समस्त गुण अचेतन हो जाते हैं; क्योंकि वह चेतनता उसमें से अलग हो गई। चीनी में से यदि मिठास निकल जाए तो चीनी न तो खारी होगी, न मीठी होगी। यदि उस चीनी में रस नहीं रहेगा तो वह कुछ भी नहीं होगी। वैसे ही यदि आत्मा में से चेतनगुण निकल गया तो बाकी के गुण भी अचेतन हो जायेंगे। इसप्रकार वस्तु में क्षेत्र की अखण्डता एवं काल की अखण्डता के साथ-साथ गुणों की अखण्डता भी होती है।

शंका - जब क्षेत्र को बदलने के बारे में किसी को कोई विकल्प नहीं होता है तो फिर पर्याय को बदलने के बारे में विकल्प क्यों उत्पन्न होता है ?



**समाधान** - हमें पर्याय को बदलने की इच्छा इसलिए होती है; क्योंकि आत्मा के प्रदेश (क्षेत्र) के पलटने से कोई बिगाड़-सुधार नहीं है। यदि माथे में स्थित आत्मा के प्रदेश पैर में चले जायें या पैर में स्थित प्रदेश माथे में आ जायें तो हमें कोई दुःख नहीं होता है; इसलिए प्रदेशों के कारण कोई बिगाड़-सुधार नहीं है।

चूँकि पर्याय में बिगाड़-सुधार होता है अर्थात् कोई पर्याय हमें दुःखमय लगती है और कोई सुखमय, इसलिए पर्याय को बदलने की इच्छा होती है। लेकिन पर्याय को बदला नहीं जा सकता है। पर्याय के संबंध में जो हमारा अज्ञान है, उसे तो बदला जा सकता है; लेकिन पर्याय को नहीं।

जिसप्रकार विस्तार के क्रम को क्षेत्र कहते हैं, उसीप्रकार प्रवाह के क्रम को काल कहते हैं। जिसप्रकार क्षेत्र से भगवान आत्मा अखण्ड है, उसीप्रकार काल से भी भगवान आत्मा अखण्ड है।

यदि हम लोगों की समझ में यह बात आ जाय कि 'काल से भगवान आत्मा अखण्ड है' तो फिर हम पर्याय को पलटने की बात सोचेंगे ही नहीं; क्योंकि उसमें पलटाव हो ही नहीं सकता है।

**शंका** - यदि ऐसा है तो हमारे पुरुषार्थ का क्या होगा?

**समाधान** - अरे भाई! जिस दिन हमें यह बात समझ में आएगी, उस दिन ही सच्चा पुरुषार्थ प्रकट होगा। अभी तो हम अज्ञानवश राग-द्वेष के जनक पर में फेर-फार करने को, धनार्जन एवं कामभोग की क्रियाओं को पुरुषार्थ समझते हैं, जो वस्तुतः नरक निगोद में डालनेवाला, संसार में घुमानेवाला अन्यथा पुरुषार्थ है। असली पुरुषार्थ तो उस दिन प्रकट होगा जिस दिन हम यह स्वीकार करेंगे कि भगवान आत्मा काल से भी अखण्ड है अर्थात् पर्याय में भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

इसप्रकार प्रदेशों की अखण्डता को विस्तारक्रम कहते हैं और वह प्रदेशों की अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय है। वे सभी प्रदेश अनादि-अनंत और अखण्ड हैं। अखण्ड होने के बावजूद भी उनको अलग-अलग जाना जा सकता है। यदि उनको अलग-अलग नहीं जाना जा सकता होता तो हमने यह कैसे जाना

कि उन प्रदेशों की संख्या असंख्य है, अनन्त नहीं? वे सभी अखण्ड होने के साथ जुदे-जुदे भी हैं। यद्यपि वे जुदे हो नहीं सकते हैं, फिर भी वे ज्ञान में जुदे-जुदे जाने जाते हैं।

प्रदेश की तरह गुण भी जुदे नहीं हो सकते हैं; लेकिन वे भी जुदे-जुदे हैं। अलग-अलग नहीं होना - यह द्रव्य की पहचान है और अलग होना - यह पर्याय की पहचान है। विशेष को, गुण को, प्रदेश को, काल के खण्ड को - इन सभी को पर्याय कहते हैं।

क्षेत्र की अखण्डता को असंख्यप्रदेशी कहा जाता है। जब असंख्य प्रदेशी कहा जाता है, तब प्रदेश विशेषण बन जाते हैं अर्थात् असंख्य प्रदेशी एक अखण्ड वस्तु का बोध कराता है तथा जब असंख्य प्रदेश कहा जाता है, तब वह भेद का बोध कराता है।

यदि अनुभव में अलग-अलग प्रदेश ख्याल में आते हैं तो आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की ही उत्पत्ति होगी; अनन्तगुण अलग-अलग ख्याल में आए तो भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की उत्पत्ति होगी; यदि अलग-अलग पर्यायों भी अनुभव में आती हैं, तब भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की ही उत्पत्ति होगी।

जब क्षेत्रसंबंधी भेद का विकल्प, कालसंबंधी भेद का विकल्प, द्रव्यसंबंधी भेद का विकल्प और भावसंबंधी भेद का विकल्प - ये सभी विकल्प नहीं होते हैं, तब वह अनुभूति का काल है। उस समय जो द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है; वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

यहाँ व्यतिरेक का अर्थ होता है विपरीत या पृथकता, भिन्न-भिन्नपना। जैसे अखण्डता का विपरीत खण्ड है अर्थात् अखण्डता का व्यतिरेक खण्ड है; उसीप्रकार वस्तु की समग्रता के व्यतिरेक को प्रदेश और परिणामों की समग्रता के व्यतिरेक को पर्याय कहा जाता है।

परिणामों की समग्रता के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं, लेकिन मात्र यह पर्याय पर्यायार्थिकनय के

विषयवाली पर्याय नहीं है; क्योंकि पर्यायार्थिकनय के विषयवाली पर्याय में तो प्रदेशों का व्यतिरेक भी शामिल है, गुणों का व्यतिरेक भी शामिल है। जबकि इस पर्याय में मात्र काल का व्यतिरेक ही आता है।

समझने में परेशानी यह है कि दोनों का नाम ही पर्याय है, दोनों को ही पर्याय कहा जाता है।

अभी जो यह कहा था कि 'यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों और परिणामों का अन्वय अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र और काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।' तो यहाँ पर 'प्रदेशों का अन्वय' का तात्पर्य अनुस्यूति से रचित विस्तार है और 'परिणामों का अन्वय' का तात्पर्य अनुस्यूति से रचित प्रवाह है।

जिसप्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों का अन्वय क्षेत्र की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो परिणामों का अन्वय काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए।

दस नयों में जो एक अन्वयद्रव्यार्थिकनय है, उस अन्वयद्रव्यार्थिकनय का विषय यही अन्वय है।

अन्वय द्रव्यार्थिकनय का विषय है और व्यतिरेक पर्यायार्थिकनय का विषय है तथा उस द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अन्वय में गुणों का अन्वय, प्रदेशों का अन्वय और पर्यायों का अन्वय - सभी का अन्वय शामिल है, व्यतिरेक किसी का भी शामिल नहीं है। दृष्टि के विषय में काल का अन्वय शामिल है, काल का व्यतिरेक शामिल नहीं है; क्षेत्र का अन्वय शामिल है, क्षेत्र का व्यतिरेक शामिल नहीं है। यहाँ व्यतिरेक का अर्थ पृथकता है, भिन्न-भिन्नपना है।

इस विषय को समझने के लिए चित्त की एकाग्रता की अत्यंत आवश्यकता है, इसके लिए चित्त का अन्वय आवश्यक है, यदि चित्त व्यतिरेकों में उलझा हुआ है तो विषय समझ में नहीं आएगा।

इसप्रकार यह अत्यंत स्पष्ट है कि प्रवाह की निरन्तरता को भी नित्यता कहते हैं; क्योंकि नित्यता और

अनित्यता में काल की अपेक्षा ही मुख्य है। अतः नित्य का अर्थ; 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही अभीष्ट नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी सम्मिलित है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।

काल की अपेक्षा वस्तु के नित्य और अनित्य – ये दो पक्ष होते हैं। जब हम वस्तु को नित्य कहते हैं तो उस नित्य का अर्थ हम यह समझते हैं कि 'जो हमेशा कायम रहे' उसका नाम नित्य है; परन्तु यहाँ यह कहते हैं कि जो निरन्तर त्रिकाल पलटनापना है, वह भी काल की नित्यता है।

'अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक प्रत्येक द्रव्य प्रति समय पलटेगा, एक समय भी पलटे बिना नहीं रहेगा, यह भी काल की नित्यता है।

जैसा वस्तु का स्वभाव 'कभी नहीं पलटना है' वैसा ही वस्तु का स्वभाव 'प्रतिसमय पलटना' भी है। वस्तु का द्रव्यस्वभाव कभी नहीं पलटनेवाला है और वस्तु का पर्यायस्वभाव प्रतिसमय पलटनेवाला है। ये दोनों ही वस्तु के नित्य स्वभाव हैं।

श्रोता को शंका है कि "हे प्रभो ! यदि यह पलटना भी वस्तु का नित्य स्वभाव है तो उसका पर्यायस्वभाव नाम क्यों रखा ?"

दिव्यवाणी में समाधान आया – "पलटनेवाला स्वभाव होने से उसका पर्यायस्वभाव नाम रखा। पर्यायस्वभाव वस्तु का ही स्वभाव होने से द्रव्यस्वभाव ही है। पर्याय के बारे में, पर्याय की तरफ से कहा जाता है, इसलिए पर्यायस्वभाव कहा जाता है। पर्यायस्वभाव का तात्पर्य पर्याय का स्वभाव नहीं है, बल्कि द्रव्यों और गुणों में जो निरन्तर परिणामन होता है, उसको पर्यायस्वभाव कहा जाता है। वस्तुतः द्रव्य व गुणों का स्वभाव स्वयं परिणामनशील है। 'वस्तु में प्रतिसमय परिवर्तन होता है' वस्तु का पर्यायस्वभाव यह बतानेवाला है। यह पर्यायस्वभाव नित्य है, अनित्य नहीं।

जिसप्रकार द्रव्य का भी नहीं पलटना स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्य का निरन्तर पलटना भी स्वभाव है।

जीव प्रतिसमय पलट रहा है, अनादिकाल से पलट रहा है एवं अनंतकाल तक पलटेगा, फिर भी वह पलटकर कभी अजीव नहीं होगा, बस यही उसका नित्यपना है।

‘एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है’ – इसका नाम है कभी नहीं पलटना एवं अपने में निरन्तर परिवर्तन होने का नाम पलटना है। भगवान आत्मा में अनंतगुण हैं व असंख्य प्रदेश हैं और उन अनंत गुणों में से कभी भी एक गुण कम नहीं होगा और असंख्य प्रदेशों में से कभी भी एक प्रदेश कम नहीं होगा। जिसप्रकार यह नित्यस्वभाव है; उसीप्रकार ‘प्रत्येक गुण में प्रतिसमय परिणामन होगा’ – यह भी नित्यस्वभाव ही है। मात्र ‘नहीं पलटना’ ही नित्यस्वभाव नहीं है; अपितु ‘प्रतिसमय पलटना’ भी नित्यस्वभाव है।

इसप्रकार नित्य में ‘वस्तु की सदा उपस्थिति’ मात्र इतना ही नहीं है, अपितु प्रवाह की निरन्तरता भी शामिल है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।

द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है – यह भाषा तो अधूरी है। पूरी भाषा तो यह है कि ‘द्रव्यदृष्टि से द्रव्य (वस्तु) नित्य है और पर्यायदृष्टि से द्रव्य अनित्य है।

नित्यता व अनित्यता का विशिष्ट अर्थ : नित्यता का अर्थ ‘वस्तु की सदा उपस्थिति’ ही नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी शामिल है; क्योंकि नित्यता और अनित्यता दोनों में काल की अपेक्षा है। नित्यता में भी काल की अपेक्षा है और अनित्यता में भी काल की अपेक्षा है। वस्तु नित्य भी काल की अपेक्षा से है और अनित्य भी काल की अपेक्षा से है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में काल को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय में पर्याय को काल कहा जाता है, भाव को गुण कहा जाता है और द्रव्य स्वयं वस्तु है; इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रदेशों को शामिल नहीं किया है।

जिसप्रकार गुणों में स्वभावभेद है, वैसा स्वभावभेद प्रदेशों में नहीं है। ज्ञान, दर्शन गुणों की भाँति प्रदेशों में ऐसा कोई भेद नहीं है कि यह प्रदेश देखने का काम करेगा या यह प्रदेश जानने का काम करेगा।

नित्यतावाला काल का खण्ड दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में शामिल है और उस नित्यता में 'कभी नहीं पलटना' ही नहीं; अपितु 'निरन्तर पलटना' भी शामिल है।

यदि हम निरन्तर पलटने को अनित्यता कहकर द्रव्य में से निकालते हैं तो मात्र पर्याय ही नहीं निकलेगी; अपितु अनित्यत्व नाम का धर्म भी निकल जाएगा और यदि भगवान आत्मा में से एक धर्म या गुण भी बाहर निकलता है तो वह भगवान आत्मा भाव से खण्डित हो गया। यदि वस्तु में से अनित्यत्व को निकाला जाता है, तो पर्याय नहीं निकलेगी, अपितु अनित्यत्व नाम का धर्म ही निकल जाएगा; अतः यह काल संबंधी भूल नहीं है; अपितु भावसंबंधी भूल है; क्योंकि अनित्यत्व धर्म गुण है और गुण भाव को कहते हैं।

अनुस्यूति से रचित प्रवाह दो प्रकार का होता है, एक तो विस्तारक्रम वाला अनुस्यूति से रचित प्रवाह तथा दूसरा प्रवाहक्रमवाला अनुस्यूति से रचित प्रवाह। आत्मा में जो असंख्य प्रदेश हैं; वे बिखरकर कभी अलग-अलग नहीं होते हैं; क्योंकि उनमें अनुस्यूति से रचित एक प्रवाह है।

जिसप्रकार प्रदेशों में अनुस्यूति से रचित प्रवाह है; उसीप्रकार पर्यायों में भी अनुस्यूति से रचित प्रवाह है।

पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय – ये दोनों पृथक्-पृथक् होने पर भी इतनी मजबूती से जुड़ी हैं कि इनका जोड़ सूत में पिरोई गई माला के समान कमजोर नहीं हैं; अपितु संगमरमर से बनी मोतियों की माला के समान मजबूत है।

जिसप्रकार दो प्रदेश अलग-अलग होने पर भी मजबूती से जुड़े हुए हैं। उसीप्रकार दो पर्यायों भी अलग-अलग होने पर भी मजबूती से जुड़े हुए हैं। उसीप्रकार दो पर्यायों भी अलग-अलग होने पर भी अन्दर से बहुत मजबूती से जुड़ी हुई हैं। जिसप्रकार दो प्रदेशों के बीच में कोई खाली जगह नहीं है; उसीप्रकार दो पर्यायों के बीच में भी कोई खाली जगह नहीं है।

जिसप्रकार द्रव्य में दो प्रदेशों के बीच में क्षेत्र की अखण्डता है; उसीप्रकार दो पर्यायों के बीच में काल

की अखण्डता है और उन प्रदेशों और पर्यायों में अनुस्यूति से रचित प्रवाह है। जो अन्वयरूप है और वह अन्वय द्रव्य का लक्षण है तथा पर्यायों में जो परस्पर व्यतिरेकीपना भिन्नता है, वह पर्याय का लक्षण है।

पर्यायों के प्रवाह का नाम तो द्रव्य है। यदि अनुस्यूति से रचित उस प्रवाह को ही पर्याय मानकर द्रव्य से निकालते हैं तो मात्र पर्याय खण्डित नहीं होती है, अपितु द्रव्य खण्डित होता है। अनुस्यूति से रचित प्रवाह तो नित्यता का लक्षण है। यदि उस नित्यत्व नामक धर्म को निकालेंगे तो भगवान् आत्मा भाव से खण्डित हो जाएगा। यदि द्रव्य में से अनुस्यूति से रचित प्रवाह को निकाला तो अन्वय निकल जायेगा, जबकि निकालना (व्यतिरेक) पर्याय को है।

उन पर्यायों का अलग नहीं होने का ही नाम अनुस्यूति से रचित प्रवाह है, वह अन्वय है तथा वह अन्वय दृष्टि के विषय में शामिल है। 'अनुस्यूति से रचित प्रवाह गुण है, पर्याय नहीं।

दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में (१) सामान्य के रूप में द्रव्य (२) एक के रूप में अनंतगुणों का अखण्ड पिण्ड (३) अभेद के रूप में असंख्यप्रदेशों का अखण्डपिण्ड और (४) नित्य के रूप में अनंतानंत पर्यायों का सामान्यांश - इन सभी को शामिल किया गया है।

अनन्तानन्त पर्यायों के सामान्यांश को ही 'वृत्ति का अनुस्यूति से रचित प्रवाह' कहा जाता है।

पर्यायों के प्रवाह से अलग कोई अन्य नित्य नहीं है। दृष्टि के विषय में इस नित्य का निषेध नहीं है। निषेध तो गुणभेद व प्रदेशभेद का है।

छह द्रव्यों और सात तत्त्वों के संदर्भ में दृष्टि का विषय : द्रव्यव्यवस्था में तो छह द्रव्यों को जीव एवं अजीव के भेद से दो द्रव्यों के रूप में कहा जा सकता है; लेकिन तत्त्वव्यवस्था के अन्तर्गत साततत्त्वों को जीव-अजीव - इन दो तत्त्वों के रूप में नहीं कहा जा सकता है, वहाँ तो साततत्त्वों में जीव, अजीव के बाद पृथक् से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट होता है कि आस्रवादि

तत्त्व अजीव में शामिल नहीं हैं। इसका कारण यह है कि द्रव्यों में जो पुद्गल आदि द्रव्य हैं, वे अजीव ही हैं, इसलिए उनको अजीव में शामिल किया जा सकता है, किन्तु आस्रव मात्र अजीव ही नहीं है, उसमें पुद्गलरूप द्रव्यास्रव होने के साथ भावास्रव जीव का परिणाम भी है। यदि आस्रवादिक के जीवास्रव भेद करके जीव-अजीव में शामिल करते हैं तो वह जीव दृष्टि का विषयभूत जीव नहीं रहेगा; जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; क्योंकि जीवास्रवादि को जीवतत्त्व में शामिल करने से राग और मिथ्यात्व भी शामिल होता है, पर्याय भी शामिल होती है; इसलिए दृष्टि के विषयभूत जीव में से इन सभी को अलग रखने के लिए आस्रवादिक जीव-अजीव से भिन्न तत्त्व कहे गये। इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत जीव-अजीव और आस्रवादिक से भी भिन्न है। यदि जीव को मात्र अजीव से भिन्न करते हैं तो अजीव में द्रव्यास्रवादिक ही शामिल है, भावास्रवादिक नहीं; अतएव दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में से भावास्रवादिक को भी निकालने के लिए उसे आस्रवादिक से भी भिन्न कहा। दृष्टि का विषयभूत द्रव्य तो भावमोक्ष अर्थात् मोक्षपर्याय से भी भिन्न है; इसलिए मोक्ष को भी जीव में शामिल नहीं किया।

जो अजीव और आस्रवादिक - इन सभी से भिन्न है - ऐसे जीव को दृष्टि का विषय बनाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। यह तत्त्वचर्चा अध्यात्म का अंग है और द्रव्यचर्चा सिद्धान्त का अंग है। सभी पर्यायों को तत्त्वव्यवस्था में अलग स्थान मिला है।

तत्त्वव्यवस्था में जब पर्यायों को अर्थात् आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को अलग-अलग तत्त्व कहकर जीव और अजीव से अलग कर दिया है तो फिर ये जीव और अजीव में क्यों शामिल होंगे?

द्रव्यव्यवस्था में तो अन्य जीव अजीव में ही शामिल होंगे; क्योंकि वहाँ इनकी कोई अलग व्यवस्था नहीं है; लेकिन तत्त्वव्यवस्था में जीव को अजीव में शामिल होने की समस्या ही नहीं है; क्योंकि वही अजीव पृथक् तत्त्व बना दिया है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इनमें जीव की सभी पर्यायें शामिल हैं। निगोद से लेकर मोक्ष तक जीव की समस्त विकारी और अविकारी पर्यायें इन आस्रवादिक तत्त्वों में



शामिल हैं। इन आस्रवादिक के अलावा जीव की ऐसी कोई भी पर्याय नहीं है, जिसे हम जीव में शामिल करना चाहे। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त विकारी और अविकारी पर्यायों आस्रवादिक पाँच तत्त्वों में ही शामिल हैं, जीव में शामिल नहीं हैं। समस्त विकारी और अविकारी पर्यायों से रहित जीवतत्त्व ही द्रव्यदृष्टि का विषय है। यही इस कथन का सार है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह बात उभरकर सामने आती है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में पर्यायार्थिकनय की विषयभूत सभी पर्यायों में से कोई भी पर्याय शामिल नहीं है। ध्यान रहे, पर्यायार्थिकनय के विषय में गुणभेद, प्रदेशभेद और कालभेद – ये सभी तो आते हैं; परन्तु पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह इस पर्यायार्थिकनय में नहीं आता है। यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

पर्यायों से पार भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती है; मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है, मोक्ष होता है इसी पर्यायों से पार भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, इसे निज जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।



## दृष्टि का विषय

एक श्रोता के मन में प्रश्न उठा - अध्यात्मियों को तो व्यवहारनय का प्रयोग प्रयोजनवान नहीं है ?

उत्तर - यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि 'यदि सिद्धान्त का अध्ययन करना है तो व्यवहारनय की मुख्यता से गोम्मटसार का स्वाध्याय करना आवश्यक है और यदि अध्यात्म जानना है तो निश्चयनय की मुख्यता से आत्मख्याति का स्वाध्याय करना आवश्यक है।।'

हाँ, इतना अवश्य है कि - आत्मानुभूति के काल में निश्चय को ही मुख्य रखना चाहिए, व्यवहार को नहीं। 'तत्त्व के अन्वेषण के काल में शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधना के समय अनुभव के काल में नय-प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष अनुभव है।

इसप्रकार व्यवहार के प्रयोग का निषेध तो मात्र अनुभव के काल में है। तत्त्व के अन्वेषण के काल में तो व्यवहार का समर्थन किया है। अतः 'निश्चय को ही सदैव मुख्य रखना, व्यवहार को नहीं' - यह बात कहाँ रही ? वास्तव में तो निश्चय से ज्यादा व्यवहार का काल है। जिन जिज्ञासुओं को सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, उनको तो हमेशा व्यवहार ही मुख्य है; क्योंकि उनका तो पूरा काल तत्त्वान्वेषण का ही है। सम्यग्दृष्टि को भी छह महीने में एकबार ही क्षणिक अनुभूति होती है, उसके अतिरिक्त समग्रकाल तो व्यवहार का ही है। पंचम गुणस्थानवाले को पन्द्रह दिन में एक बार और वीतरागी मुनिराज को भी चौबीस घण्टे में केवल आठ घण्टे ही अनुभूति रहती है। सोलह घण्टे तो उनका भी व्यवहार में समय जाता है।

यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि मुनिराज के उन आठ घण्टों में भी लगातार अनुभूति नहीं रहती; क्योंकि यदि अन्तर्मुहूर्त भी लगातार अनुभूति रह जाय तो केवलज्ञान हो जाता है।

अतएव तत्त्वान्वेषण के काल में व्यवहार मुख्य रहता है और अनुभूति के काल में निश्चय । इसप्रकार व्यवहार की भी उपयोगिता है, व्यवहार को पूर्णरूप से उड़ाया नहीं जा सकता ।

आगम में जो 'पर्याय को गौण करके' लिखा है, वहाँ गौण का अर्थ पर्याय की सत्ता की अस्वीकृति नहीं है तथा 'मुख्य सो निश्चय और गौण सो व्यवहार' – इन परिभाषाओं का अर्थ यह नहीं है कि – निश्चय को सदैव मुख्य रखना चाहिए और व्यवहार को सदैव गौण रखना चाहिए । द्रव्यार्थिकनय के विषय को गौण करके और पर्यायार्थिकनय के विषय को मुख्य करके ।' ऐसा भी उसी आगम में लिखा मिलता है; परन्तु इस बात की ओर ध्यान न देकर यदि मात्र एक पक्ष को ही ग्रहण करेंगे तो एकान्त होगा । अतः ऐसा समझना चाहिए कि – जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, उनकी पर्यायसंज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उनकी द्रव्यसंज्ञा है । जिनकी द्रव्यसंज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल हैं और जिनकी पर्यायसंज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं ।

इसप्रकार अध्यात्म में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद – इन सबकी पर्यायसंज्ञा है । ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हैं ।

सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इन चारों की अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इनमें भी जो इनका ये चारपना है, वह दृष्टि का विषय नहीं है; क्योंकि वह पर्यायार्थिकनय का विषय है ।

श्रोता का प्रश्न – प्रभो ! मुख्य-गौण का सही स्वरूप क्या है ?

सुनो ! जिसे गौण करना हो, उसका निषेध न करके उसके बारे में कुछ न कहना ही गौण करना है, निषेध करते ही तो वह मुख्य हो जाता है । चाहे प्रतिपादन करो या निषेध – दोनों में ही मुख्यता हो जाती है । जैसे – दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्याय नहीं है – ऐसा कहकर हमने पर्यायों को गौण नहीं किया, बल्कि मुख्य कर दिया । गौण तो उस विषय में चुप रहने का नाम है ।

किसी घटना को या किसी व्यक्ति को बार-बार याद करने एवं किसी न किसी रूप में उसे व्यक्त करते रहने का नाम गौण करना नहीं है, बल्कि उसे अचर्चित करना ही गौणता का लक्षण है ।

जब ऐसा कहा जाता है कि - “दृष्टि के विषय में पर्याय सम्मिलित नहीं है, तब ‘पर्याय’ का अर्थ मात्र द्रव्य-गुण-पर्याय वाली ‘पर्याय’ ही नहीं होता है, उस पर्याय में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद भी सम्मिलित है।”

द्रव्य को यदि अनन्त गुणों के रूप में अलग-अलग करके देखा जायेगा तो द्रव्य नहीं दिखेगा; बल्कि अनन्तगुण दिखेंगे। जब अनन्तगुणों को अभेद करके देखेंगे, तब ही द्रव्य दिखाई देगा। जबतक ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य भेदरूप से दिखाई देंगे, तबतक आत्मा नहीं दिखेगा। अनन्त गुणों के अभेद का नाम द्रव्य है।

यद्यपि द्रव्य में जो अनन्त गुण हैं, उन सभी में लक्षण भेद हैं। जैसे - ज्ञान गुण का काम जानना, दर्शन गुण का काम देखना, श्रद्धा गुण का काम अपनापन स्थापित करना। इन सभी के लक्षण अलग-अलग होने से ये जुदे-जुदे हैं; किन्तु ये कभी भी बिखर कर अलग-अलग नहीं होते। ये गुण अनादि से अनन्तकाल तक एक दूसरे से अनुस्यूत हैं - ऐसे अनन्त गुणों के अभेद को द्रव्य कहते हैं।

भेद पर लक्ष्य रखने से अभेदवस्तु ख्याल में नहीं आती है, इसलिए भेद को गौण करना होगा। यदि भेद को गौण नहीं किया तो भेद का अभाव मान लिया जायेगा।

जहाँ कहीं भी ऐसा कहा जाता है कि - ‘भेद तो है ही नहीं’ वह भी गौण करने के अर्थ में ही कहा जाता है; अभाव के अर्थ में नहीं; परन्तु भाषा निषेध जैसी लगती है; क्योंकि ऐसे निषेध की भाषा का प्रयोग किए बिना गौण कर ही नहीं पाते। अतः निषेध या अभाव जैसी भाषा बोलना वक्ता की मजबूरी है।

जैसे - किसी चीज को तीर का निशाना लगाना होता है तो दूसरी आँख को बन्द करके देखते हैं, यदि दूसरी आँख बन्द नहीं करेंगे तो लक्ष्य स्पष्ट दिखाई नहीं देगा। इसप्रकार दूसरी आँख से नहीं देखने का नाम उस आँख को गौण कर देना है, जिसतरह लक्ष्यभेद के लिए दूसरी आँख सर्वथा फोड़ना नहीं; बल्कि बन्द करना है; उसीतरह दूसरा पक्ष गौण किया जाता है, उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। भले ही भाषा निषेध की ही क्यों न हो।

भेद भी वस्तु का वैसा ही स्वरूप है जैसा कि अभेद। यदि भेद को वस्तु में से निकाल दिया तो पूरी वस्तु ही खण्डित हो जायेगी। इसलिए भेद को गौण करने के लिए कहा जाता है, निषेध के लिए नहीं।

यदि अभेद वस्तु को स्पष्ट देखना हो तो भेद को गौण करना ही होगा। उस भेदवाली आँख को अभेद को देखते समय ही सर्वथा बन्द रखना है, हमेशा बन्द नहीं रखना है। समय आने पर उसे खोलना भी पड़ेगा।

आत्मा में द्रव्यभेद, क्षेत्र भेद, कालभेद और गुण भेद तो रहेंगे, किन्तु यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा को प्राप्त करना है तो इन भेदों को गौण करना होगा, इन चारों के अभेदस्वरूप पर दृष्टि करनी होगी।

यद्यपि भेद भी वस्तु के स्वरूप में सम्मिलित है और अभेद भी सम्मिलित है, किन्तु निर्विकल्प अनुभूति भेद के लक्ष्य से नहीं होती। इस प्रयोजन से भेद को गौण करना आवश्यक है। हाँ, जब बात को विस्तार से समझना/समझाना हो तब भेद को मुख्य किया जाता है। जब हम पर्याय को नहीं देखते, पर्याय की उपेक्षा करते हैं, तब भी हमारा प्रयोजन पर्याय को शुद्ध करना ही होता है।

जिसप्रकार अनाप-शनाप खर्च करनेवाले बेटे को उसका पिता मन-माना पैसा नहीं देता है, पूर्व में दिए पैसे का भी हिसाब पूछकर मर्यादित ही देता है तो उसमें भी पिता का प्रयोजन उस बेटे के लिए ही पैसे की बचत करना होता है। यद्यपि वही पिता बाद में उसको पाँच करोड़ अर्थात् समस्त सम्पत्ति देनेवाला है, परन्तु अभी उसी बेटे के हित में ही अनावश्यक पाँच रुपये भी नहीं देता है। इसीप्रकार पर्याय की शुद्धि के लिए ही पर्याय को दृष्टि के विषय में गौण करते हैं। फिर भी यहाँ पर्याय सर्वथा गौण कहाँ हुई? 'पर्याय की शुद्धि के लिए' - इस अपेक्षा तो पर्याय मुख्य ही है न! इसी सम्बन्ध में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

“अपनी आत्मवस्तु के इन चार युगलों में सामान्य, अभेद, नित्य और एक - इनकी एकता द्रव्यार्थिकनय का विषय बनती है और इसीकारण इसका नाम द्रव्य है। बस यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है, इसमें अपनापन स्थापित होना ही सम्यग्दर्शन है। इसके विरुद्ध अपनी आत्मवस्तु के विशेष, भेद तथा उसकी अनित्यता एवं अनेकता की पर्यायसंज्ञा है और इनमें अपनापन होना ही मिथ्यादर्शन है।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्य को ही यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है और इसे विषय बनानेवाले नय को शुद्धनय, निश्चयनय या शुद्धनिश्चयनय कहा गया है।”

यहाँ शुद्धता का अर्थ रागादि से रहितपना नहीं है, यद्यपि शुद्धता में रागादिक नहीं हैं; तथापि यहाँ भेद का नाम अशुद्धता तथा भेद से रहितपने का नाम शुद्धता है। राग की अशुद्धि को तो कालभेद में रखकर पहले ही निकाल दिया है। इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्य ही दृष्टि का विषय है।

तीन तरह के प्रमुख द्रव्य - अबतक की चर्चा में मुख्यतः तीन तरह के द्रव्य सामने आये। पहला - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाववाला द्रव्य। दूसरा - प्रमाण का विषयभूत द्रव्य, जिसमें गुण व पर्यायें - दोनों सम्मिलित हैं और तीसरा - सामान्य, एक, अभेद और नित्य - इन सभी की अखण्डतावाला द्रव्य, यह तीसरा द्रव्य ही दृष्टि का विषय है। इस दृष्टि के विषयवाले द्रव्य में कालभेद, गुणभेद आदि पर्यायें सम्मिलित नहीं हैं।

प्रश्न - “प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है। स्वचतुष्टय के बिना वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जिसप्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं द्रव्य है, उसके प्रदेश उसका क्षेत्र हैं, उसके गुण उसका भाव हैं; उसीप्रकार उसकी पर्यायें उसका काल हैं।”

उक्त कथन में कहा गया है कि उसकी पर्यायें उसका काल है और काल को दो भागों में विभाजित किया है। एक का नाम कालभेद और दूसरे का नाम काल अभेद तथा अनन्त गुणों को एकसाथ अभेदरूप से ग्रहण करना गुणों का अभेद कहा है। प्रदेशों में भी किसी एक प्रदेश को ग्रहण करना, उसका नाम प्रदेशभेद है और असंख्य प्रदेशों को एकसाथ अभेदरूप से ग्रहण करना, वह प्रदेश-अभेद है; उसीप्रकार काल तो अनादि-अनन्त है, उस काल में से एक खण्ड को ग्रहण करने का नाम कालभेद है और काल की अखण्डता को ग्रहण करने का नाम काल-अभेद है। ये जो त्रिकाली कहा जाता है, वह काल का अभेद ही है। ‘त्रिकाली’ का अर्थ तीन काल नहीं है, अपितु तीनों कालों के अभेद का नाम त्रिकाली है।

प्रश्न - पर्यायें नित्य हैं या अनित्य? तो सभी सहज में ही कह देंगे कि अनित्य हैं; परन्तु जब पर्याय अनादिकाल से अनन्तकाल तक विद्यमान रहती हैं, देव पर्याय सागरों पर्यन्त रहती है तो यह कैसे कहा जा

सकता है कि पर्याय अनित्य है? तथा वे पर्यायें नित्य नई-नई आ रही हैं, प्रतिसमय बदल भी रही हैं; अतः उन्हें नित्य भी कैसे कह सकते हैं?

उत्तर - जिसप्रकार गंगा नदी का हमेशा बहते रहना उसकी 'नित्यता' है और उसका प्रवाहीरूप अनित्यता है। उसीप्रकार द्रव्य, वह परिणामनशील भी है और अपरिणामी भी है। जो परिणामन अनादिकाल से अनंतकाल तक एक समय भी नहीं रुकता है; वह परिणामन नित्य ही है अर्थात् उसका प्रवाहीपना भी नित्य ही है। अनित्य का अर्थ तो ऐसा है जो 'कभी हो' और 'कभी न भी हो' तथा नित्य का अर्थ है जो 'सदा हो'।

अन्य नदियाँ तो कभी-कभी बहना बन्द कर देती हैं; लेकिन गंगानदी कभी भी नहीं रुकती। जब बरसात होती है, तब गंगा बरसात के पानी से बहती है और गर्मियों में बर्फ पिघलती है, तो उस समय बर्फ के पानी से गंगा बहती है, इसप्रकार गंगा नदी का प्रवाह एक समय भी अवरुद्ध नहीं होता है। यही त्रिकाल प्रवाहीपना उसकी नित्यता है और प्रवाह में प्रतिक्षण नवीन जल का बहना उसकी अनित्यता है।

इसीप्रकार द्रव्य का प्रवाह भी अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक एकसमय भी अवरुद्ध नहीं होता है; इसीलिए तो ऐसा कहते हैं कि भगवान! आपकी नित्यता तो नित्य है ही, आपकी अनित्यता भी नित्य है।

आत्मा में जो अनित्य नाम का धर्म है, वह अनित्य नहीं है, किन्तु नित्य है। नित्य धर्म के समान अनित्य धर्म भी नित्य ही है। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नित्य हैं वैसे ही अनित्य नाम का धर्म भी नित्य है।

इसप्रकार अनित्य नाम का धर्म भी नित्य होने से दृष्टि के विषय में शामिल है। अनित्यधर्म और नित्यधर्म की अखण्डता दृष्टि के विषय में शामिल है। यदि उस अनित्य धर्म में नित्यत्व नहीं घटता तो वह दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हो सकता था; किन्तु अनित्य धर्म में नित्यत्व घटित होता है; इसलिए 'अनित्य' धर्म भी दृष्टि के विषय में शामिल हैं।

प्रश्न - दृष्टि के विषय में गुणभेद का निषेध करके भी गुणों के अभेद को रखकर भाव को अखण्डित कर लिया, द्रव्यभेद का निषेध करके भी द्रव्य को रखकर अथवा सामान्य को रखकर द्रव्य को अखण्डित

कर लिया, प्रदेशभेद का निषेध करके भी प्रदेशों को अभेदरूप से रखकर क्षेत्र को भी सुरक्षित कर लिया; लेकिन पर्यायों को निकालकर काल को खण्डित कर दिया, जबकि इसी समयसार में आगे ऐसा कहा गया है कि - न द्रव्येण खण्डयामि, “न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्र भावोऽस्मि । इसलिए पर्यायभेद का निषेध कर पर्यायों को अभेदरूप से रखकर काल को भी सुरक्षित करना चाहिए था; परन्तु पर्याय को शामिल न करके दृष्टि के विषय को काल से खण्डित क्यों कर दिया गया है ?

उत्तर - दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य, अनादि-अनन्त-त्रिकाली ध्रुव नित्य, असंख्यात प्रदेशी-अखण्ड एवं अनंतगुणात्मक-अभेद, एक कहा गया है। इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असंख्यातप्रदेशी-अखण्ड कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है और अनंतगुणात्मक-अभेद कहकर भाव को अखण्ड रखा गया है; उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त में एक कहकर सभीप्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य में स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है।

दृष्टि के विषय में अभेद सामान्य का निषेध नहीं किया गया, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान - इन विशिष्ट पर्यायों का दृष्टि के विषय में निषेध है। केवलज्ञान भी विशिष्ट पर्याय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है। दृष्टि के विषय में निगोद से लेकर मोक्ष तक की समस्त पर्यायों का अभेद शामिल है, उस अभेद का नाम काल का अभेद है और काल का अभेद होने से वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इसलिए उस अभेद का नाम द्रव्य है, पर्याय नहीं; पर्याय तो उसके अंश का नाम है; भेद का नाम है।

श्रोता के मन में शंका हुई - दृष्टि के विषय में अभेद के रूप में पर्याय को शामिल क्यों किया ?

देववाणी में समाधान आया - हे भव्य ! जो अभेद के रूप में काल को शामिल किया है, उसका नाम



द्रव्य है, पर्याय नहीं। दृष्टि के विषय में विशिष्ट पर्याय का ही निषेध है, काल के अभेद का निषेध नहीं। काल का अभेद तो दृष्टि के विषय में शामिल हैं।

श्रोता को शंका हुई - यहाँ 'काल का अभेद' क्यों कहा ? पर्यायों का अभेद क्यों नहीं कहा? भरत केवली की वाणी में आया - क्योंकि यदि 'पर्यायों का अभेद' दृष्टि के विषय में शामिल है, ऐसा कहते हैं तो लोगों को ऐसा लगता है कि दृष्टि के विषय में पर्याय को शामिल कर लिया है। अरे भाई! पर्यायों को नहीं, पर्यायों के अभेद को सम्मिलित किया है; क्योंकि! पर्यायों का अभेद तो द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से द्रव्य ही है, पर्याय नहीं। इसप्रकार पर्यायों का अभेद अथवा काल का अभेद दृष्टि के विषय में शामिल है।

“भूतकाल की पर्यायें तो विनष्ट हो चुकी हैं, भविष्य की पर्यायें अभी अनुत्पन्न हैं और वर्तमान पर्याय स्वयं दृष्टि है, जो विषयी है; वह दृष्टि के विषय में कैसे शामिल हो सकती हैं? विषय बनाने के रूप में तो वह शामिल हो ही रही हैं, क्योंकि वर्तमान पर्याय जबतक द्रव्य की ओर न ढले, उसके सन्मुख न हो, उसे स्पर्श न करे, उससे तन्मय न हो, उसमें एकाकार न हो जाय तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी सम्पन्न नहीं हो सकती। इसप्रकार वर्तमान पर्याय अनुभूति के काल में द्रव्य के सन्मुख होकर तो द्रव्य से अभेद होती ही है, पर यह अभेद अन्य प्रकार का है, गुणों और प्रदेशों के अभेद के समान नहीं।”

सभी पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं, लेकिन जो पर्यायों का अभेद अर्थात् काल की अखण्डता है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में शामिल है।

धर्मचक्र को आगे कर धर्मोपदेश द्वारा जगत का कल्याण करने के लिए भगवान भरत का विहार होता है, तत्पश्चात् विहार करना भी समाप्त हो गया, गंधकुटी विघट गई और योग निरोध कर योग का भी त्याग कर केवली समुद्घात करके मुक्ति प्राप्त कर ली। इसप्रकार गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यन्त भरतजी ने जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह सभी भव्यजीवों को अनुकरणीय है।

भरत के मोक्ष प्राप्त करने पर इन्द्रादि ने उनकी पूजा की। परिजन, पुरजन उनके उपकारों को याद करते हुए उनका गुणगान करते रहे।



## उपसंहार

प्रस्तुत शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध में तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के वर्तमान तीर्थकर भव के पंचकल्याणकों का विस्तृत विवरण एवं उनके पूर्वभवों का चित्र-विचित्र चरित्र-चित्रण जो हुआ है, वह पाठकों के लिए पुण्यार्जन का हेतु तो है ही, वैराग्यप्रेरक भी है। साथ ही भगवान भरत और भगवान बाहुबली के बहु आयामी व्यक्तित्व का जो चित्रण हुआ है, उससे भी बहुत कुछ सीखने को मिलता है। उस संपूर्ण विवरण का सारांश यह है कि - जगत में जितने भी जीव हैं, उनकी होनहार के अनुरूप उतने ही प्रकार की पुण्य-पाप की चित्र-विचित्र परिणतियाँ हैं। यद्यपि भगवान ऋषभदेव और भरत-बाहुबली - तीनों ही तद्भव मुक्तिगामी थे, क्षायिक समकृति थे, फिर भी कषायचक्र ने उन्हें भी राग-विराग के झूले में ऐसा झुलाया कि जन साधारण जन उनकी परिणति देख आश्चर्यचकित रह गये।

जहाँ भगवान ऋषभदेव चारित्रमोह के रागवश ८३ लाख पूर्व की उम्र तक नीलांजना का नृत्य देखते रहे, वहीं भरतजी ने क्रोधावेश में बाहुबली पर चक्र चला दिया। यद्यपि इस बात में दो मत हैं, पर घटना घटी ही थी। यह जुदी बात है कि वे स्वयं हारे थे या उन्हें हराया गया था। इसके पक्ष-विपक्ष में जो तर्क दिए गए, अब पाठक उनसे परिचित ही हो गये हैं।

तीर्थकर, चक्रवर्ती और कामदेव जैसे महान पदों के धारक और निकट भव्य मोक्षगामी पुरुषों से भी यदि भूतकाल में भूलें हुई हैं तो उन्हें भी अपनी-अपनी होनहार और कर्मोदय के अनुसार संसार में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को भोगना ही पड़ता है। उन परिस्थितियों को टालने में इन्द्र एवं जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है। जैसा कि हमने तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के तथा उनके सहगामी जीवों के पूर्वभवों के वर्णन में पढ़ा है।

सिंह, नेवला, बन्दर और शूकर जैसे पशु पर्याय को प्राप्त जीव भी अपने शुभाशुभ भावों का फल भोगते हुए कैसी-कैसी योनियों में जन्मते-मरते रहे तथा राजा श्रेयांस, सेनापति जयकुमार-सुलोचना आदि के पूर्व भवों की जानकारी से यह विश्वास हो जाता है कि यद्यपि हम अपने पूर्वभवों में अबतक ऐसे ही संसार सागर में गोते लगाते रहे हैं, परन्तु यदि हमारा वर्तमान संभल सका तो हमारा भविष्य भी उज्वल बन सकता है।

● ॐ नमः।

## प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों वे भी उससे धर्मसन्मुख होते हैं, क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होने से उसे वे भलीभांति समझ जाते हैं तथा लोक में तो राजादिक की कथाओं में पाप का पोषण होता है। यहाँ महन्तपुरुष राजादिक की कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं; इसलिए वे जीव कथाओं के लालच से तो उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवंत होते हैं।

इसप्रकार तुच्छबुद्धियों को समझाने के लिए यह अनुयोग है। प्रथम अर्थात् अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि, उनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसार की टीका में किया है।

तथा जिन जीवों के तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढ़ें-सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे - जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसा यह जानता था। तथा पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किये हैं। वे उस, जानने के उदाहरण हुए तथा शुभ-अशुभ शुद्धोपयोग को जानता था व उसके फल को जानता था। पुराणों में उन उपयोगों की प्रवृत्ति और उनका फल जीव के हुआ सो निरूपण किया है, वही उस जानने का उदाहरण हुआ। इसीप्रकार अन्य जानना।

यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिसप्रकार जानता था, उसीप्रकार वहाँ किसी जीव के अवस्था हुई - इसलिए यह उस जानने की साक्षी हुई।

तथा जैसे कोई सुभट है - वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा जिसमें हो ऐसी किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से सुभटपने में अति उत्साहवान होता है; उसीप्रकार धर्मात्मा है - वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा जिसमें हो ऐसे किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से धर्म में अति उत्साहवान होता है।

इसप्रकार यह प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।

- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२६८-२६९